

नानेशवाणी-51

# परमानन्द

आचार्य श्री नानेश

प्रकाशक

साधुमार्गी पब्लिकेशन

**नानेशवाणी-51**

**परमानन्द**

**आचार्य श्री नानेश**

प्रथम संस्करण : अप्रैल, 2019

मूल्य : 100/-

ISBN 978-93-86952-45-5

प्रकाशक :

**साधुमार्गी पब्लिकेशन**

अन्तर्गत-श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

समता भवन, आचार्य श्री नानेश मार्ग

श्री जैन पी.जी. कॉलेज के सामने, नोखा रोड

गंगाशहर, बीकानेर 334401 (राज.)

दूरभाष : 0151-2270261, 3292177, 0151-2270359

visit us : [www.sadhumargi.com](http://www.sadhumargi.com)

e-mail : [publications@sadhumargi.co](mailto:publications@sadhumargi.co)

मुद्रक :

सांखला प्रिंटर्स

विनायक शिखर, शिव बाड़ी रोड

बीकानेर 334003 (राज.)

## प्रकाशकीय

कष्ट और समस्यायें, मानव जीवन का अनिवार्य अंग हैं। लाख प्रयास करने के बाद भी कोई इनसे बच नहीं पाता। इस प्रयास में वह कई दिशाओं में भटकता है। जगह-जगह अटकता है। भटकाव और अटकाव के दरमियान वह समझ ही नहीं पाता कि समाधान कहां है? उसकी हालत उस मृग जैसी हो जाती है, जो अपने ही पास मौजूद कस्तूरी से अनजान होकर उसके लिए वन में मारा-मारा फिरता है।

अधिकांश मनुष्यों को नहीं पता कि जिस समाधान के लिए वह मारा-मारा फिर रहा है, वह तो उसके पास ही है। उसके भीतर ही है! वह समाधान है—समता और समता उसके भीतर ही है। कुछ जानते भी हैं तो इसे मानते नहीं। उन्हें विश्वास ही नहीं होता समता की शक्ति पर! नतीजा, चक्कर पर चक्कर लगाने के बावजूद वे अपने को वहीं पाते हैं जहां से चले थे।

समता की शक्ति को पहचाना था आचार्य श्री नानालालजी ने। आचार्य श्री ने समता की राह पर चलते हुए समतामय जीवन जीया और दूसरों को भी इस राह पर चलने की प्रेरणा दी। इसी प्रेरणा के दौरान विपुल साहित्य का सृजन हो गया, जिनका प्रकाशन समय-समय पर नानेशवाणी के अन्तर्गत किया गया है। अब तक एक-एक कर पचास पुस्तकें पाठकों के हाथों में जा चुकी हैं। इस सीरीज की इक्यावनवीं पुस्तक लेकर आया है साधुमार्गी पब्लिकेशन। आचार्य श्री नानालाल जी द्वारा 1986 में जलगांव चातुर्मास में फरमाये गये प्रवचनों की यह पुस्तक ठीक उस समय आ रही है, जब हम आचार्य श्री की सौवीं जन्म जयन्ती के अवसर पर साल भर तक चलने वाले समारोह की शुरुआत करने जा रहे हैं।

परम आनन्द की प्राप्ति के लिए 'परमानन्द' नाम की इस पुस्तक का अध्ययन लाभदायक सिद्ध होगा। इस पुस्तक के अध्ययन के साथ आचार्य श्री के जीवन का अनुगमन कर सभी अपने जीवन को उन्नत बनाते हुए परमानन्द प्राप्त कर सकते हैं। पुस्तक प्रेरणादायक है।

साधुमार्गी पब्लिकेशन का उद्देश्य है कि सबका जीवन समता से युक्त हो। पुस्तक इस उद्देश्य की पूर्ति करेगी। प्रकाशक को यह भी पूर्ण विश्वास है कि पाठक इस पुस्तक के माध्यम से अपनी समस्याओं से मुक्ति पाकर अनेकविध परम आनन्द की अनुभूति करेंगे।

पुस्तक के प्रकाशन में गलतियों से बचने का पूरा प्रयास किया गया है। फिर भी किसी प्रकार की त्रुटि हो गई हो तो क्षमा के साथ चाहेंगे कि गलतियों को हमें बतायें जिससे भविष्य में उन गलतियों में सुधार कर सकें।

हम उनके आभारी होंगे जो किसी भी प्रकार की त्रुटि से हमें अवगत करायेंगे।

संयोजक

साधुमार्गी पब्लिकेशन

अन्तर्गत श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

## संघ के प्रति अहो भाव

हे पितृ तुल्य संघ! हे आश्रयदाता संघ!

संसार के प्रत्येक जीव की रक्षा के लिए सतत प्रयत्नरत संघ! तुम्हारी शीतल छांव तले हम अपने परिवार के साथ तप-त्याग से युक्त आध्यात्मिक, सुखद जीवन जी रहे हैं। तुम्हारे ही आश्रय में रहकर हमने अपने नन्हें चरणों को आध्यात्मिकता की दिशा में बढ़ाया है। तुमने ही हमें आत्मा के अन्वेषण हेतु प्रेरित किया। तुम्हारी ही प्रेरणा से प्रेरित होकर हमने अपने जीवन को सन्मार्ग की ओर बढ़ाया है। इस हेतु हम संघ का अभिवादन करते हैं।

संघ ने हम अकिंचन को इस पुस्तक 'परमानन्द' के माध्यम से सेवा का अनुपम अवसर प्रदान किया। इस हेतु हम अपने आपको सौभाग्यशाली समझते हैं। अन्तर्भावना से संघ का आभार व्यक्त करते हुए यह विश्वास करते हैं कि भविष्य में भी परम उपकारी श्री संघ शासन हमें सेवा का अवसर प्रदान करता रहेगा।

अर्थ सहयोगी

स्व. श्री तुलसीराम जी—स्व. श्रीमती माना देवी पींचा

की पुण्य स्मृति में

सुंदर लाल पींचा—बसंती देवी पींचा

(राष्ट्रीय कार्यकारिणी सदस्य)

महेंद्र कुमार पींचा—खुशबू पींचा

(महामंत्री—समता युवा संघ, गुवाहाटी)

नोखा—गुवाहाटी

॥ सेवा है यज्ञकुण्ड, समिधा सम हम जलें॥

## अनुक्रमणिका

1. परमानन्द	7
2. जीवन-प्रवाह	16
3. नींव निर्माण की कला	26
4. सुसंस्कार-सर्जना	35
5. मोह मदिरा त्यागें	44
6. आत्म-बल धरें	54
7. विघातक प्रवृत्तियाँ रोकें	63
8. तपाराधन करें	73
9. क्षमाशील बनें	83
10. प्रशस्तता ध्यावें	94
11. उठें ऊपर से ऊपर	104
12. धर्म का मर्म जानें	114
13. लगावें प्रवचन का अंजन	123
14. श्वास चले शान्ति का	134
15. योग व्यापार को सार्धें!	142
16. समझें अशान्ति के हेतु को	152
17. निज स्वरूप को पहचानें	161
18. सार्थक करें मानव जीवन	172
19. मंगलपाठ पर मनन करें	182
20. चिन्तन-क्रम अपनावें	192
21. करें आत्मा का अवलोकन	203
22. सबमें भरें जीवन की सुवास	214
23. ज्ञानालोक में रमण करें	225
24. अनुसरण करें सत्य का	235
25. आस्थावान अहिंसक बनें	246

## 1

## परमानन्द

धार तलवार नी, सोहिली, दोहिली,  
 चउदमां जिनतणी चरणसेवा  
 धार पर नाचता देव बाजीगरा,  
 सेवना धार पर रहे न देवा॥

आत्म विकास की दिशा में इस मानव तन और जीवन की प्रधानता रही हुई है। जीवात्माएँ तो अधिक संख्या में वनस्पति आदि में होती हैं किन्तु उनमें अपना आध्यात्मिक विकास कर लेने की क्षमता नहीं होती है। न उन जीवात्माओं का शरीर उस दृष्टि से सामर्थ्यवान होता है और न ही उन्हें समुचित वैचारिक विकास उपलब्ध होता है। यों देवताओं को कई शक्तियाँ प्राप्त होती हैं तथा उनके पास अपार ऋद्धि सिद्धि भी रहती है, फिर भी वह तन और जीवन अपने आत्मिक विकास एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिये योग्य नहीं होता है। कारण, उनके जीवन में भोग की ही प्रधानता रहती है। फिर रहे नरक के प्राणी—उन्हें तो अपने अशुभ कर्मों को भोगने से ही अवकाश कहाँ रहता है? वे तो निरन्तर यातनाओं के चक्रव्यूह में पीड़ित किये जाते रहते हैं। इस कारण समग्र प्राणी समूह में मानव तन और जीवन को ही उच्चतम आध्यात्मिक विकास के लिये पूर्णतः योग्य एवं सक्षम माना गया है। मानव तन की इस विशिष्टता के कारण ही शास्त्रकारों ने इसे दुर्लभ बताया है तथा इसका धर्माराधन हेतु पूर्ण सदुपयोग करने की सीख दी है। मानव तन की ऐसी सक्षमता के माध्यम से इस जीवन को अपनी ही आत्मिक उन्नति का नहीं, बल्कि सामूहिक जीवन की उन्नति का भी सशक्त साधन बनाया जा सकता है।

## मानव जीवन में बुद्धि की विशिष्टता

संसार के समस्त प्राणियों में इस मानव प्राणी की सर्वोत्कृष्टता होती है। यों कई बातों में अन्य प्राणी और मनुष्य की प्राप्ति याँ यानी वृत्ति-प्रवृत्तियाँ एक

समान होती हैं। परन्तु मानव जीवन में बुद्धि के अस्तित्व की ऐसी विशिष्टता मिली हुई है जो अन्य प्राणियों को प्राप्त नहीं है। यह बुद्धि ही उसे विचार, विवेक और व्यवहार की कुशलता देती है जिसके कारण उसका कर्म-सामर्थ्य अन्य प्राणियों से कई गुना बढ़ जाता है।

यों बुद्धि के अधिक या न्यून विकास की दृष्टि से मानव जाति में भी सभी तरह के सदस्य होते हैं। ऐसे मानव भी होते हैं जिन्हें बुद्धि का श्रेष्ठ विकास प्राप्त होता है तो ऐसे भी मानव मिलेंगे जिनकी बुद्धि का न्यूनतम विकास भी संदेहास्पद रहता है, किन्तु प्रत्येक मानव में मूल शक्ति अवश्य विद्यमान रहती है कि वह अपनी बुद्धि का पर्याप्त विकास कर सके और इस विकसित बुद्धि की सहायता से जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी कार्यकुशलता की गहरी छाप छोड़ सके। इतना ही नहीं, वह अपने जीवन की समग्र वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों का परिष्कार करके और यथोचित आत्मशुद्धि को अवाप्त करके ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की कठिन साधना द्वारा चरम एवं परम लक्ष्य रूप मोक्ष की भी प्राप्ति कर सकता है।

वर्तमान वैज्ञानिक युग में जो नित नये-नये अनुसन्धान किये जा रहे हैं और आविष्कार हो रहे हैं, वह भी तो इसी बुद्धि का चमत्कार है। यह वैज्ञानिक विकास मानव की आन्तरिक शक्ति से ही संभव हो सका है। यह मानव का ही सामर्थ्य है कि वह अंतरिक्ष वैज्ञानिकों के अनुसार चन्द्र ग्रह की भूमि पर उतर सका है। संसार के अनेकानेक क्षेत्रों में जिस विविध उन्नति के दर्शन हो रहे हैं—उन सब के पीछे मानव बुद्धि का ही तो योगदान है। मानव बुद्धि को ही श्रेय देना होगा कि यदि वह बुद्धि अपनी सदाशयता के साथ उसकी आस्था, भावना और स्फूर्ति से जुड़ जाय एवं कर्मरत बन जाय तो कौन-सी ऐसी विद्या है, कौन-सा ऐसा व्यवहार है अथवा कौन-सी ऐसी साधना है जिसमें मानव अपनी निपुणता और तेजस्विता का परिचय न दे सके?

यह गूढ़ ज्ञान और आन्तरिक अनुभव का विषय है कि मनुष्य का यह तन और जीवन विश्व की सम्पूर्ण शक्तियों का केन्द्र है। ऊपर से यह सामान्य-सा दिखता है, लेकिन इस शरीर के एक-एक अंग और उपांग की रहस्यमय शक्तियों की खोज की जाय तो दांतों तले अंगुली दबा लेनी होगी कि वहां कितनी शक्ति के स्रोत भरे पड़े हैं? यौगिक क्रियाओं से इनकी शक्ति का परिचय लिया जाता है किन्तु सम्पूर्ण शरीर की शक्तियों का अद्भुत विकास साधना के माध्यम से सम्पन्न किया जा सकता है। देव शरीर तो वैक्रिय होने के कारण कई सिद्धियों से स्वतः ही संयुक्त होता है किन्तु मनुष्य अपने पुरुषार्थ से वैसी ही शक्तियाँ और सिद्धियाँ अपने शरीर में भी प्रकट कर सकता है।



मानिये कि यह मानव तन विराट् शक्तियों का पुंज है। अपने इस महान् शक्तिशाली स्वरूप का उसे ज्ञान हो और उस ज्ञान के अनुसार वह अपने पुरुषार्थ तथा तप प्रयोग से वैसा शक्ति-विस्फोट करे, यह सब उसके बुद्धि कौशल पर ही निर्भर करता है। बुद्धि का मानव के पास अनुपम उपहार है और वह इसके बल पर अनुपम विकास के सर्वोच्च शिखर तक भी पहुँच सकता है।

### बुद्धि कौशल की पहली परख है मन का नियंत्रण

मनुष्य को अपने बुद्धि कौशल का पहला प्रयोग अपने ही मन को नियंत्रित करने में करना चाहिये और उसके द्वारा मन का कितना और कैसा नियंत्रण सफल बनता है, इसी से उस बुद्धि कौशल की श्रेष्ठता की परख भी की जानी चाहिये। बुद्धि कौशल की यह पहली परख होगी क्योंकि आगे से आगे के विकास क्रम में इस बुद्धि कौशल की परीक्षा के अनेकानेक अवसर उपलब्ध होते हैं। यदि इस पहली परीक्षा में किसी का बुद्धि कौशल सफल मान लिया जाता है तो मानिये कि वह भविष्य में सामान्य रूप से विफलता का मुंह नहीं देखेगा।

जब तक मनुष्य अपने मन पर सही विधि से अपना नियंत्रण प्राप्त नहीं कर लेता है, तब तक वह मन अपनी तथा मनुष्य की आत्मिक शक्ति का अपव्यय करता रहता है। नियंत्रणहीन मन संसार के नाशवान भौतिक पदार्थों की प्राप्ति का प्रयास करने में ही अपनी अमूल्य शक्तियों का नाश करता चला जाता है। सही विधि से प्रयुक्त नहीं की जाने के कारण वे शक्तियाँ फलदायक नहीं बनती हैं। कल्पना करें कि कई क्विंटल गेहूँ के दाने हों या कई किलो अथवा भले ही मुट्ठी भर दाने ही हों—सही प्रयोग के अभाव में वे सड़ सकते हैं, गल सकते हैं और नष्ट हो सकते हैं। किन्तु केवल मुट्ठी भर दानों को ही खेत में बो दें तो क्या होगा? वे दाने कई मुट्ठी भर दानों में तो बदल ही जायेंगे। कई क्विंटल गेहूँ के समान इस तन और जीवन में अनेकानेक शक्तियाँ हैं किन्तु उनका सही प्रयोग न हो या ज्ञान के अभाव में न किया जाय अथवा गलत विधि से उनकी बरबादी कर दी जाय तो क्या उन ढेर सारी शक्तियों का बूढ़ जितना भी लाभ जीवन को मिल सकता है? दूसरी ओर मुट्ठी भर गेहूँ की तरह अल्प विकसित शक्तियों का भी सही विधि से प्रयोग किया जाय तो क्या उतनी-सी शक्तियों का भी पर्याप्त विस्तार नहीं किया जा सकता है?

शक्तियों का अस्तित्व में होना एक बात है लेकिन उन शक्तियों का शुभ और श्रेष्ठ प्रयोग उन शक्तियों की दिव्यता में चार चांद लगा देता है। जब तक प्राप्त शक्ति का प्रयोग सही रीति से नहीं किया जायेगा तब तक शक्ति के होने

या न होने में कोई अन्तर परिलक्षित नहीं होगा। इसी प्रकार जैसे कि परम्परा से प्राप्त सम्पत्ति चाहे कुबेर के भंडार जितनी भी हो पर उसके सद्विनिमय की क्षमता के अभाव में निरुपयोगी और निरर्थक हो जाती है।

मानव तन और जीवन की इस प्रकार की अमूल्य शक्तियों का सदुपयोग करके मानव सकल विश्व को जान लेने का परमानन्द पा सकता है। लेकिन कब? तभी जब वह अपने बुद्धि कौशल से अपने चंचल मन पर कठोर नियंत्रण जमा लेता है और आवश्यक आत्म जागृति प्राप्त कर लेता है। ऐसा नियंत्रण और ऐसी जागृति निरन्तर मानव को आत्म विकास की अति प्रकाशमान दिशा में अलौकिक फल प्राप्त कराने में सहायक बनती है। उसकी बुद्धि उसके जीवन की सफल पथदर्शिका हो जाती है।

### आत्म सम्बोधन से आत्म जागरण

मानव अपनी ही आत्मा को सम्बोधित करे कि हे आत्मन्! तुझे यह मानव का समर्थ तन मिला है, शक्तिदायिनी बुद्धि मिली है और शक्तियों का अतुलनीय कोष भी मिला है, फिर तू अपने वैभव को देखती क्यों नहीं, समझती क्यों नहीं और क्यों नहीं उस पर पड़े हुए आवरणों को दूर करके उसकी तेजस्विता को प्रकट कर लेती है? यह तथ्य ध्यान में कर ले कि यदि तूने अपनी प्राप्त बुद्धि और शक्ति का सही विधि से प्रयोग किया, नियोजन के श्रेष्ठ उद्देश्य को अपनाया अथवा उन्हें सुव्यवस्था व अनुशासन से बांधे रखा तो उससे तेरी विराट् शक्तियों का पुंज परम प्रकाशमान बन जायेगा। यही नहीं, अपने तेजस्वी और मनस्वी जीवन को भी लोकहित एवं लोकोपकार में समर्पित करके तू परमात्मा के समकक्ष बन जायेगी। अरे समकक्ष क्या, स्वयं ही परमात्मा स्वरूपी हो जायेगी।

ऐसे आत्म-सम्बोधन से आत्म-जागरण के नये आयाम प्रस्तुत होते हैं। इस रूप में जो अपनी आत्मा को सम्बोधित करते हैं, उनका स्वयं का जीवन निर्मल बनता है क्योंकि वे अपने आत्मस्वरूप का अवलोकन, निरीक्षण और परीक्षण कर लेते हैं। उसके बाद ही वे अन्यान्य आत्माओं को भी जगाने का बीड़ा उठाते हैं तथा उपदेश का रस बरसा कर पिछड़ी और सोई हुई जीवात्माओं को नवजीवन प्रदान करते हैं। जब इस तन की अपर शक्तियों को आधार बनाकर जीवन को प्रगति के मार्ग पर अग्रगामी एवं उत्क्रान्ति पूर्ण रूप देने की अभिलाषा की जाती है तो आत्म जागरण एक आवश्यक पृष्ठ भूमि मानी जायेगी। विवेकवान व्यक्तियों को इस दिशा में सदा प्रयत्नशील बने रहना चाहिये। समय

और शक्ति का सर्वश्रेष्ठ उपयोग यही हो सकता है कि अपनी आत्म प्रगति की दिशा में आगे से आगे बढ़ते रहने का भाव सदा सक्रिय बना रहे।

आत्म प्रगति की गति द्विगामी भी नहीं होनी चाहिये। समझें कि एक व्यक्ति सूर्य के तेजस्वी प्रकाश को ग्रहण करने का अभिलाषी हो और सूर्योदय के समय पूर्वाभिमुखी होकर सूर्य के सामने दो कदम चले भी लेकिन फिर पश्चिम की तरफ मुंह करके दस कदम चला जावे तो सोचने की बात होगी कि वह किस रूप में और कब तक अपनी अभिलाषा की पूर्ति कर सकेगा? एक ऐसा व्यक्ति हो जो सूर्य का प्रकाश तो लेना चाहता है लेकिन सूर्योदय के समय पश्चिमाभिमुखी होकर चले तो उसकी बुद्धि का क्या कहना? इसलिये गति द्विगामी अथवा विपथगामी नहीं होनी चाहिये अपितु उस एक ही दिशा में एकनिष्ठ होनी चाहिये जो दिशा आत्मा के उच्चतम विकास की दिशा होती है। इस गति के लिये आत्मिक आलोक की भी आवश्यकता होती है क्योंकि यह आलोक जितना प्रकाशमान होगा, उतनी ही गति की उग्रता बढ़ाई जा सकेगी।

### प्रकाश इस मानव तन में भी है

जिस समय बिजली का आविष्कार नहीं हुआ था, तब मनुष्य दीपक के प्रकाश को महत्व देता था। अब बिजली की वजह से लोग दीपक को भूल से गये हैं। अब प्रकाश के भी नानाविध साधन आ गये हैं बल्कि यंत्रों की सहायता से सूर्य की किरणों से भी ऊर्जा प्राप्त करने के प्रयास किये जा रहे हैं। पर यह एक रहस्यमय तथ्य है कि प्रकाश के जितने बाहरी भौतिक माध्यम हैं और उनसे जिस प्रकार का प्रकाश मानव को उपलब्ध होता है, उससे अधिक तेजस्वी प्रकाश स्वयं इस मानव तन में दबा हुआ है। यदि इस प्रकाश को अपनी साधना से अनावृत किया जा सके तो यह स्वयं के जीवन को ही नहीं, अनेकानेक जीवनों को प्रकाशित कर सकता है।

प्रकाश आवृत कैसे हो जाता है यह भी समझने की बात है। सोचें कि एक बहुत बड़े हॉल में हजार वॉट पॉवर का बल्ब लगा हुआ हो तो उसके प्रकाश में वह विशाल हॉल चमाचम करेगा या नहीं? उसी बल्ब को एक छोटे से कमरे में लगा दिया तो वह प्रकाश उस छोटे से कमरे की सीमा में बंध जायेगा। यदि उसी पॉवरफुल बल्ब को लगाकर एक मिट्टी के घड़े में ढक दिया जाय तो विशाल हॉल को जगमग करने वाला प्रकाश क्या उस मिट्टी के घड़े तक सीमित नहीं हो जायेगा? यह प्रकाश पर लगे आवरण का प्रश्न है। उसी प्रकार इस मानव शरीर में जो प्रकाश आवृत होकर दबा हुआ है, उसकी तेजस्विता का सहज ही

में अनुमान नहीं लगता है। किन्तु बल्ब को ज्यों ही मिट्टी के घड़े से निकाल कर विशाल हॉल में लगा दिया जाता है तो उसके पॉवर की सही पहचान हो जाती है। वैसे ही भीतर रहा हुआ प्रकाश जब अनावृत किया जाता है तो उसकी विराट् तेजस्विता भी स्पष्ट हो जाती है।

वस्तुतः प्रकाश पर आवरण डालने वाले कई विकार ऐसे होते हैं जो उसकी वास्तविकता को दबा देते हैं—ठीक उसी तरह जैसे वर्षा के घनघोर काले बादल सूर्य को ढक कर उसे ओझल कर देते हैं। प्रकाश प्रकाश ही रहता है किन्तु वह ढक दिया जाता है, दबा दिया जाता है, इस कारण उस ढके या दबे हुए प्रकाश को अनावृत करने का पुरुषार्थ करना पड़ता है। वैसे ही पुरुषार्थ यदि किया जाय तो भीतर के प्रकाश को भी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति मिल सकती है।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी परमात्मा का कथन है कि सम्पूर्ण संसार को प्रकाशित कर देने वाला प्रकाश तुम्हारे भीतर रहा हुआ है और उसे अनावृत करने की ही आवश्यकता है। आज के मानव को इस कथन पर विश्वास हो या नहीं, किन्तु स्वयं के अनुमान से भी इस कथन की सत्यता खोजी जा सकती है। यह तो समझा ही जा सकता है कि यह मानव-तन उस मिट्टी के घड़े के समान है जिसने हजार वॉट के बल्ब को अपने भीतर बन्द करके उसके प्रकाश को अति सीमित बना दिया है। आज पर्युषण पर्व के शुभारंभ के अवसर पर यह सन्देश सभी हृदय से ग्रहण करें कि प्रकाश से परिपूर्ण मानव जीवन को अनावृत प्रकाश से पुनः आलोकित बना दें।

### मानव जीवन का प्राण—पर्युषण

पर्युषण पर्व ऐसा आध्यात्मिक पर्व है, जिसके आगमन से एक नई जागृति, नई उमंग और नई प्रसन्नता का संचार होता है क्योंकि इसे आत्मशुद्धि का पर्व माना गया है।

भारतीय संस्कृति अनेक प्रकार के पर्वों से भरी पड़ी है। जैसा कि कहा गया है कि 'उत्सवप्रियाः खलु हि जनाः।' मनुष्य उत्सव प्रिय होते हैं। तभी तो वर्ष में दिन तो 365 ही होते हैं पर पर्वों व उत्सवों की संख्या 365 से अधिक हो सकती है। अन्य पर्वों पर आमोद प्रमोद के क्रिया कलाप होते होंगे, लेकिन पर्युषण महापर्व उन सबसे निराला है क्योंकि यह आत्मानन्द का पर्व है जो विकार से मुक्ति दिलाता है। पर्युषण पर्व के आठ दिनों में मानव तन और जीवन की कड़ी परीक्षा होती है कि उनके सदुपयोग से कितने अंश में आत्मशुद्धि प्राप्त की जा सकती है? इन दिनों में पांचों इन्द्रियों को भोग विषयों से दूर हटाकर धर्मारधना

में नियोजित करना होता है तथा मन को भी भीतर के प्रकाश को अनावृत करने के लिये नियोजित करना होता है। तब आत्म जागृति की पृष्ठभूमि तैयार होती है जो आत्मा को अपने विकारों तथा कुविचारों की अशुद्धि को मिटा कर निज के परिष्कार, संशोधन एवं रूपान्तरण की प्रेरणा देती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यह पर्युषण पर्व एक प्रकार से मानव जीवन का प्राण है अर्थात् मानव जीवन को प्राण देने वाला है। यदि आत्मशुद्धि की यथार्थ भावना के साथ इस पर्व को मनाते हैं और अतिशय त्याग तप आदि ग्रहण करके इसकी गौरव वृद्धि करते हैं तो यह पर्व मानव तन एवं जीवन में नवीन प्राणों का संचार करने वाला पर्व ही तो कहलायेगा।

सूर्य सारे संसार को मुफ्त प्रकाश देता है किन्तु कोई अपनी आंखों पर पट्टी बांधकर व चढ़र ओढ़कर अपने बिस्तर पर सो जावे तथा सूर्य का प्रकाश पाने की इच्छा बतावे तो उसे आप क्या कहेंगे? वह ऊँचे स्वर से प्रार्थना भी करे कि हे सूर्य देव, आप अपना प्रकाश मुझे दीजिये तो क्या सूर्य उसके बिस्तर पर पहुँच कर उसको प्रकाश का दान करेगा? सूर्य तो उसके पास उतर कर अपना प्रकाश नहीं दे सकता है। वह तो सबको समान भाव से एक-सा प्रकाश देता है। अब जिसको जितना प्रकाश जिस रूप में चाहिये, वह ले ले। बिस्तर पर सोये हुए उस व्यक्ति को भी यदि प्रकाश पाना है तो प्रमाद छोड़कर उसे बिस्तर से उठना पड़ेगा अपनी आंखों की पट्टी खोलनी पड़ेगी तथा खुले में आकर सूर्य का प्रकाश पाना होगा। ऐसा ही विवेकपूर्ण कार्य होता है अपने आत्मस्वरूप को पाना। आप आत्मशुद्धि की अभिलाषा भी रखें और भौतिक पदार्थों के मोह को नहीं छोड़ें या कि मन तथा इन्द्रियों को विकारों के क्षेत्र से बाहर नहीं निकालें तो सूर्य के प्रकाश की तरह आत्मस्वरूप को भी आप कैसे पा सकेंगे? और आत्मस्वरूप को पाये बिना आत्मशुद्धि का अभियान कैसे चला सकेंगे? यदि आत्मशुद्धि का अभियान नहीं चलाया तो पर्युषण पर्व को सार्थक रीति से कैसे मना पायेंगे?

इस पर्व के प्रसंग पर छोटे-बड़े सभी लोग मिलकर यथाशक्ति त्याग तप की आराधना से अपने तन को तपाते हैं तो शास्त्रों के प्रेरणादायक प्रसंगों का श्रवण करके अपने जीवन को आत्माभिमुखी बनाते हैं। इस समय में जितनी मन की एकाग्रता साधी जा सके, आप विविध धार्मिक क्रियाओं के माध्यम से अपने मन की एकाग्रता को साधिये और उसे आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवृत्ति करने के लिये तत्पर बनाइये।

आत्म चिन्तन की इस वेला में एक ओर तो यह विचारें कि इस मानव तन और जीवन में जो अनेक शक्तियाँ दबी हुई हैं, उन्हें पूर्ण रूप से अभिव्यक्त

करके आत्मिक दृष्टि से स्व-पर कल्याण का महद्वकार्य आरंभ करें तो दूसरी ओर यह भी विचार करें कि यह महद्वकार्य अति पुरुषार्थ साध्य है पर तन और जीवन की स्थिति पत्ते पर पड़े ओस कण की तरह क्षणिक और नश्वर है। अतः पूरे वेग और पूरे पुरुषार्थ के साथ इस महद्वकार्य को सुसम्पन्न करने में अपने मन, वचन एवं काया के सभी योगों को जुटा दें। तब पर्युषण पर्व का आयोजन भी प्राणवान बनेगा और अपना यह तन और जीवन भी प्राणों की नई शक्ति धारण करेगा।

### प्रधान उद्देश्य है आत्मशुद्धि

उसी मानव का तन कृतकृत्य तथा जीवन धन्य बनता है जो राग-द्वेष रूपी कषायों के विकार तथा अठारह पापों के कल्मष को धो डालता है और आत्मस्वरूप को उज्ज्वल बना लेता है। कारण, इस जीवन का प्रधान उद्देश्य कोई है तो वह आत्मशुद्धि ही है। इस आत्मशुद्धि के अभाव में ही यह आत्मा जीवन-मरण के चक्र में डोल रही है और जब तक पूर्ण आत्मशुद्धि नहीं होगी तब तक डोलती ही रहेगी, इसलिये आत्मशुद्धि तो चरम और परम उद्देश्य भी है।

जम्बू स्वामी का कथानक है कि विहार करते हुए भगवान् महावीर के शिष्य सुधर्मा स्वामी उनके नगर में पधारे। जम्बू उनका प्रवचन सुनने के लिये गये तथा उससे बहुत ही प्रभावित हुए। तदनंतर निमित्त पाकर वे सोचने लगे कि यह तन और जीवन नश्वर है इसलिये मुझे अपने आत्म कल्याण हेतु इनको अपने धर्म साधन बनाने में शीघ्रता करनी चाहिये। वे सुधर्मा स्वामी के सामने हाथ जोड़ कर खड़े हुए और बोले—स्वामी, इस तन और जीवन की स्थिति का कोई भरोसा नहीं है, इसलिये मैं धर्मराधना में प्रवृत्त होना चाहता हूँ। आप मुझे आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत दे दें। उन्हें वह व्रत दे दिया गया। घर गये तो अपने माता-पिता से कहने लगे—मैंने सुधर्मास्वामी के दर्शन किये, आंखें सफल हो गईं, प्रवचन सुना, कान सफल हो गये किन्तु अब मैं अपने पूरे जीवन को सफल बनाने के लिए संसार त्याग कर दीक्षा अंगीकार करना चाहता हूँ। आप मुझे अनुमति और आशीर्वाद दीजिये। माता-पिता ने समझाया—तुम्हारी हमने आठ कन्याओं के साथ सगाई कर रखी है सो एक बार विवाह तो करना ही होगा। इस पर उन्होंने कहा—यों तो मैंने आजन्म ब्रह्मचर्य का व्रत ग्रहण कर लिया है फिर भी आपकी आज्ञा मान कर विवाह कर लूंगा। विवाह तो उन्होंने किया, किन्तु आठ-आठ रमणियों के प्रिय अनुरोध के उपरान्त भी अपने ब्रह्मचर्य को खंडित नहीं किया।

उसी रात में यह घटना घटी कि कुछ चोर उनके मकान में घुसे और भारी सम्पत्ति लेकर जाने लगे तो उन सबके पैर वहीं चिपक गये। इससे उनके आश्चर्य

की सीमा नहीं रही। एक कक्ष से तब उनको कुछ वार्तालाप की आवाज सुनाई दी। उन चोरों ने खिड़की से आठ-आठ सुन्दरियों के निवेदन को भी देखा तो जम्बू कुमार की निर्विकार आकृति भी देखी। वे समझ गये कि उनके पैरों को चिपका देने वाली शक्ति का स्रोत यह युवक ही है। तब चोरों का नायक जोर से बोला—हे शक्तिशाली युवक, आप जीते और हम हारे। हम सारी सम्पत्ति वापस रख रहे हैं, आप हमारे पांव छुड़ा दो। बदले में मैं आपको अपनी दो विद्याएँ भी देने को तैयार हूँ। एक विद्या के प्रभाव से मैं सब को सुला देता हूँ तो दूसरी के प्रभाव से सारे ताले-सांकले अपने आप टूट जाती है। आप भी मुझे पैर चिपकाने की विद्या दे दो। तब जम्बू कुमार ने आश्चर्य से कहा—भाई, मुझे तो कोई विद्या नहीं आती है। मैंने तो अपनी आत्मशुद्धि का संकल्प लिया है जिस हेतु कल ही सारे परिवार और सारी सम्पत्ति का त्याग करने वाला हूँ। मेरे संकल्प के प्रभाव से यह सबकुछ हुआ हो तो मैं कह नहीं सकता। मैं तो तुम्हें कहता हूँ कि मेरी तरह तुम भी अपने सारे कर्मों को नष्ट करने तथा आत्मस्वरूप को परम विशुद्ध बनाने का संकल्प ले लो। यह मानव तन और जीवन चोरी जैसे अपराधों तथा इन्द्रियजन्य विकारों में नष्ट कर देने के लिये नहीं है।

जम्बू कुमार का उद्बोधन सुनकर सारे चोरों का हृदय परिवर्तित हो गया और सभी जम्बू कुमार के साथ ही दीक्षा अंगीकार करने के लिये तत्पर हो गये।

### मानव तन और जीवन की सार्थकता

आत्मशुद्धि के प्रधान उद्देश्य की पूर्ति हेतु जब इस मानव तन तथा जीवन को समर्पित कर दिया जाता है, तब समझिये कि इस मानव तन और जीवन को सार्थकता मिल गई है। जम्बू कुमार को सभी साधुओं में इस दृष्टि से श्रेष्ठ कहा गया कि आत्मशुद्धि का उन्होंने ही संकल्प नहीं लिया, बल्कि उन्होंने अनेक लोगों को यहां तक कि चोरों को भी आत्मशुद्धि की सफल प्रेरणा दी जिसके फलस्वरूप उनकी दीक्षा के साथ 527 अन्य विरक्त आत्माओं की भी दीक्षाएं हुईं।

जम्बू कुमार के समान जो अपनी तरुण अवस्था में ही अपने तन और जीवन का सदुपयोग करके उन्हें धर्मसाधना हेतु सक्षम बना लेते हैं, वे अपने कर्म बंधनों को तो नष्ट करते ही हैं अपितु अनेक भव्य आत्माओं को आत्मशुद्धि की सबल प्रेरणा भी प्रदान करते हैं।

## 2

## जीवन-प्रवाह

अनन्त जिनेश्वर नित नमूं ...

परमात्मा को किसी-न-किसी रूप में स्मृति पटल पर लाया जाता है और यह आवश्यक भी है, क्योंकि परमात्मा अद्भुत ज्योति के स्वामी हैं। क्या है यह अद्भुत ज्योति? क्या होता है स्वयं का सदा काल के लिये ज्योतिर्मय हो जाना? ज्योति प्रकाशपुंज का नाम है—यह आप सभी जानते हैं और यह भी आप सभी जानते हैं कि इस संसार में अपनी आत्मा का जो मूल संघर्ष है, वह अंधकार के विरुद्ध है।

ज्योति और अंधकार दोनों ही दो प्रकार के होते हैं—बाह्य एवं आभ्यन्तर। बाह्य अंधकार को मिटाने के लिये मनुष्य जो-जो उपाय करता है, उनमें से कई उपायों की आपको जानकारी होगी। उनकी विशेषताएँ बताने का यहां प्रयोजन नहीं है। यहां तो उनसे यह निष्कर्ष निकालना है कि मनुष्य की मूल प्रवृत्ति में कहीं भी कभी भी अंधकार के लिये पसंदगी नहीं होती है। वह हर समय, हर स्थान से अंधकार को दूर करने के लिए प्रयत्न करता रहता है और ऐसे उपकरणों का आविष्कार करता रहता है जिन की सहायता से रात में भी दिन जैसा प्रकाश फैलाया जा सके।

आशय यह कि मनुष्य बाहर के अंधकार को मिटाने में तो बड़ी सजगता बरत रहा है किन्तु आभ्यन्तर अंधकार को मिटाना तो दूर—उसे समझ कर आभ्यन्तर ज्योति के स्वरूप का ज्ञान करने में भी वह अपनी अभिरुचि नहीं दिखाता है। यह उसकी कर्मण्यता की अनोखी विडम्बना है कि बाहर का अंधकार तो उसे पसंद नहीं है पर भीतर के अंधकार की तरफ उसका ध्यान भी नहीं है।

## जीवन-प्रवाह की विवेचना आवश्यक

इस दृष्टि से यह जीवन अपनी आन्तरिकता के कैसे प्रवाह में बह रहा है, इसकी विवेचना आवश्यक है। जब तक भीतर के अंधकार की ओर मनुष्य



का ध्यान नहीं जायेगा और वह उसको मिटा देने के भगीरथ कार्य के लिये संकल्पबद्ध नहीं होगा तब तक यह ज्ञान भी नहीं हो सकेगा कि आभ्यन्तर ज्योति का क्या स्वरूप होता है तथा ज्योतिर्धर कैसे बना जा सकता है? क्योंकि यह जीवन-प्रवाह ही होता है जिसे अंधकार की दिशा से मोड़कर ज्योति की दिशा में गतिशील बना दिया जाता है।

आभ्यन्तर की सर्वतोमुखी उन्नति एवं सर्वोच्च आत्मिक विकास के लिये यही तो करना होता है कि अंधकार से ज्योति की ओर प्रगति करें। जीवन-प्रवाह की सफलता और सार्थकता इसी सत्य को हृदयंगम करके उद्घाटित करने में रही हुई है कि यह आत्मा अपना चरम और परम विकास साध कर स्वयं परमात्मा बन जाये तथा सदा के लिये ज्योतिर्धर और ज्योतिर्मय हो जाये।

कैसे होगी इस लक्ष्य की प्राप्ति? कैसे मोड़ना होगा जीवन के प्रवाह को इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये? इसके लिये पहले अपने जीवन-प्रवाह की विवेचना करें क्योंकि विवेचना से ही इस आत्मस्वरूप के वर्तमान तथ्यों की जानकारी हो सकेगी और उसी जानकारी से अंधकार की स्थिति भी मालूम होगी तो उसे मिटाने का उत्साह भी जागृत हो सकेगा। उस उत्साह का सृजन ही प्रकाश को लाने और पाने का पहला प्रयास होगा। इसी कारण तब जीवन-प्रवाह की विवेचना के बाद उसकी आलोचना का क्रम आ जायेगा। तब नियमित आलोचना से जीवन-प्रवाह की सुव्यवस्था सुगठित हो सकेगी तथा उसके चरम लक्ष्य का दिशा बोध स्थिर बनाया जा सकेगा।

अपने वर्तमान जीवन-प्रवाह को देखने और तोलने का जरा-सा प्रयास तो कीजिये तभी तो उसकी विवेचना हो सकेगी। बाहर की सांसारिक प्राप्तियों के लिये तो जी-तोड़ कोशिश चलती है लेकिन उनका क्या नतीजा सामने आता है? यदि ये भौतिक पदार्थ अधिकतम मात्रा में प्राप्त हो जाते हैं तो जीवन-प्रवाह में उन्मत्तता जैसा दुर्गुण समाता हुआ दिखाई देता है। मन कतई नियंत्रण में नहीं रहता है और भोग प्रधान बनकर एक ओर असन्तोष की खाई में छटपटाता रहता है तो दूसरी ओर अधिक-से-अधिक पाने की वितृष्णा में पागल बनकर भटकता रहता है। यही नहीं, वह पांचों इन्द्रियों को भी मात्र वासना के विषयों में अंधा बनाये हुए रखता है। सबसे बड़ा आघात करता है वह आत्म-चेतना पर। सांसारिक व्यामोहों तथा प्रपंचों में उसको इतनी गहराई तक उलझा देता है कि आत्म-चेतना मोहग्रस्त होकर संज्ञाहीन जैसी हो जाती है। आश्चर्य तो यह है कि उन लोगों की भी ऐसी ही अन्तर्दशा दिखाई देती है जिनके पास सदा भौतिक पदार्थों का अभाव रहता है। उनके

जीवन-प्रवाह में उन्मत्तता के स्थान पर प्रतिशोधात्मक वृत्ति उभरती हुई प्रतीत होती है।

अपने स्थान पर और शारीरिक आवश्यकताओं के अनुरूप भौतिक पदार्थों की भी आवश्यकता रहती है किन्तु उससे भी बड़ी आवश्यकता इस व्यवस्था की होती है कि यथायोग्य रीति से यथासाध्य और यथास्थान भौतिक पदार्थों का संविभाग हो। शास्त्रों में भी कहा गया है कि जो भौतिक पदार्थों का संविभाग करते हुए नहीं चलता है, उसको कभी भी मोक्ष नहीं मिलता है। फिर भी इस जीवन-प्रवाह में आवश्यक संशोधन और मोड़ दार्शनिक विचारणा एवं आध्यात्मिक साधना के बिना संभव नहीं होता है। अन्तर्हृदय में ही यदि वैचारिक और नैतिक परिवर्तन आ जाये तो फिर बाहर कैसी भी परिस्थितियां हों, वे मनुष्य की आन्तरिक पवित्रता को प्रभावित नहीं कर पाएंगी। जीवन-प्रवाह की सौम्यता एवं विकासशीलता के लिये आभ्यन्तर सुस्थिरता अनिवार्य होती है।

### जीवन-प्रवाह में विकास का मोड़

जीवन-प्रवाह में विकास का मोड़ लाने के लिये सबसे पहले मन को सुस्थिर बनाना होगा सांसारिक संकल्पों-विकल्पों के विरुद्ध ताकि वह काम, क्रोध, मोह आदि विकारों के अंधकार की ओर गति करने से रुके और अपनी गति के मोड़ को बदले जिससे उसकी गति प्रकाश की दिशा में होने लगे। मन के इस परिवर्तन से जीवन-प्रवाह की अवस्था में एक उत्क्रान्ति जैसी आ जायेगी। वासना के विषयों में डूबी रहने वाली इन्द्रियाँ सजगता ग्रहण कर लेंगी। कान सन्तों के प्रवचन सुनना चाहेंगे तो आंखें उनके दर्शन को उत्सुक रहेंगी। नाक सुगंध-दुर्गंध का भेद भूल जायेगी तो जिह्वा स्वाद के लिये खाना बंद करके शरीर को धर्मसाधन बनाने के लिये ही खायेगी और सन्तों का गुणानुवाद करेगी। शरीर का सम्पूर्ण स्पर्श साधना की किसी भी कठोरता को सहने के लिये तत्पर बन जायेगा। सबसे बड़ी बात तो यह होगी कि आत्मा की आन्तरिकता में जागृति का नया ही प्रकाश फैल जायेगा तथा वह मन और इन्द्रियों पर वास्तविक नियंत्रण के साथ सम्पूर्ण जीवन-प्रवाह को अपने अनुशासन में ले लेगी। इस सारे परिवर्तन के बाद स्वतः ही जीवन-प्रवाह में विकास का मोड़ सार्थक बन कर गतिशील हो जायेगा।

इस जीवन-प्रवाह में जब तक गहराई से आध्यात्मिकता अभिव्यक्त नहीं होती है, तब तक उसमें भौतिकता का गंदला पानी बहता ही रहता है। जहां तक भौतिक तत्त्वों, बाह्य दृश्यों तथा ऐन्द्रिक विषयों में इस आत्मा का उपयोग

अटका रहता है, वहां तक वह अपने ही मूल स्वरूप से अज्ञात रहती है। यह अज्ञान ही उसके दुःखों का और उसकी अशान्ति का कारण है। यही अज्ञान उसके विकास मार्ग को अवरुद्ध किये रहता है। इसलिये प्रत्येक मानव का पहला कर्तव्य यह है कि वह अपने मन-मस्तिष्क को सुस्थिर और सुपथगामी बनावे। अपने आत्मस्वरूप का अवलोकन एवं परीक्षण करे तथा जीवन-प्रवाह को निर्मलता की ओर आगे बढ़ावे।

सोचें कि एक व्यक्ति किसी नगर की गलियों में तेजी से दौड़ रहा था। बिना इधर-उधर देखे या रुके, पसीने से लथपथ। उसे एक विवेकशील पुरुष ने पूछा—भाई, तुम इतना कड़ा परिश्रम क्यों कर रहे हो? इसका तुम्हारे मन में उद्देश्य क्या है? वह बोला—मैं तो वैसे ही दौड़ रहा हूँ—उद्देश्य तो मेरे मन में कुछ भी नहीं है। जब जीवन के प्रति इतना ही अज्ञान हो तो कोई भी जीवन का सही मूल्यांकन ही कैसे कर सकता है और कैसे जीवन-प्रवाह को परिवर्तित कर सकता है?

इस व्यक्ति का यों बेमतलब दौड़ना तो आपको भी अखरेगा किन्तु आपका स्वयं का आचरण भी क्या आपको अखरता है? यह रात-दिन जो आप दौड़ लगा रहे हैं, कभी सोचा है कि उसमें आपके अपने जीवन का कितना हित है? आप तो रात-दिन चाहे शरीर से या मन से—सांसारिक प्रपंचों में फंसे रहते हैं—अपने को तनिक भी विराम नहीं देते हैं, फिर कैसे आ सकता है आपके जीवन-प्रवाह में विकास का मोड़?

### मन की अनिर्वचनीय शक्ति का हास

आप नहीं जानते कि आप भी उस नादान व्यक्ति की तरह लगातार बेमतलब की दौड़ लगा रहे हैं और मन की अनिर्वचनीय शक्ति का हास कर रहे हैं। इस शक्ति के दिशा परिवर्तन से ही जीवन की दिशा बदलेगी। मनुष्य को चाहे सुन्दर और स्वस्थ शरीर मिल गया हो, सुख और सुविधा की सामग्री प्राप्त हो तथा सुयोग्य पुरुषों का मार्गदर्शन सुलभ हो किन्तु यदि उसने अपने जीवन का सुन्दर लक्ष्य निर्धारित न कर रखा हो तो उसकी ये सभी प्राप्तियाँ अर्थहीन ही रहेंगी। वह उनकी सहायता के बावजूद अपने जीवन का विकास नहीं साध सकेगा।

आज के मानव की दिशाहीनता या कि लक्ष्यहीनता का एक दृश्य देखिये। समय परिपक्व न हो उससे पहले ही विवाह करने में उसका मानसिक लगाव बहुत होता है। जब तक उसका विवाह नहीं होता है तब तक तो वह अपने माता-पिता या कि अग्रजों की यत्किंचित् सेवा करता है किन्तु विवाह होते ही

उसका सारा लगाव केवल एक व्यक्ति की तरफ बहने लगता है। इस तरह उसकी मन की गति या कि बुद्धि का प्रवाह केवल एक मोह की तृप्ति के लिये चल रहा है। विवाह के बाद माता-पिता को भूल जाने की तरह वह मोहग्रस्त बनकर जीवन के सभी मूल्यों को आज भूला हुआ है। मोह की तृप्ति के लिये जितना वह बेतहाशा भागता है, उतनी ही उसकी मोह की प्यास बढ़ती चली जाती है। वह तृष्णा बनकर मृग मरीचिका हो जाती है और तब संसार की सारी दौड़ की पोल खुल जाती है कि रेगिस्तान की रेत को ही पानी मानकर मूर्ख प्यासा कितनी नादानी से दौड़ रहा है।

मनोवैज्ञानिक फ्रॉयड ने कामवासना को मनुष्य की सारी वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों का जड़ रूप माना है। यह विवाद का विषय हो सकता है कि मनुष्य के कर्म का आधार कितना विकृति पर या कि कितना प्रकृति पर है, किन्तु कामवासना ग्रस्त मनुष्य जैसे सारा भान भूल जाता है, जैसे ही संसार का प्रत्येक विकार आत्मा की चेतना को ही नष्ट नहीं करता, बल्कि उसे विभ्रम में डाल पथ भ्रष्ट बना देता है। पथ भ्रष्ट हो जाने के बाद आत्मा को इस बात का कहां भान रहता है कि उसकी प्राप्त शक्तियों पर और मोटे आवरण गिर रहे हैं, उसका मन अधिक बेलगाम होकर अपने सत्पुरुषार्थ को खो रहा है तथा विभिन्न शक्तियों की धारिणी इन्द्रियाँ उनका दुरुपयोग करके जीवन को दुःखपूर्ण एवं अशान्त बना रही हैं।

जन्मजात बच्चे को सिगरेट के गंध की जानकारी नहीं होती है पर कहीं से जब उसको सिगरेट का चस्का लग जाता है तब वह उसकी आदत में इतनी बुरी तरह से फंस जाता है कि धन और स्वास्थ्य की भारी क्षति के बाद भी वह सिगरेट के मोह को छोड़ नहीं पाता है। यह मोह का जाल जंजाल बड़ा विकट होता है। मोह के जाल में फंसा हुआ मनुष्य सोचता है कि मैं अधिक-से-अधिक विषय भोगों का सेवन करूँ तो एक दिन उससे मेरी सन्तुष्टि हो जायेगी। लेकिन आप में से किसी ने भी क्या कभी किसी की ऐसी सन्तुष्टि होते देखी है? यह मोह तो मदिरा की तरह होता है कि जितनी ज्यादा पीओ, उसकी तलब उतनी ही ज्यादा बढ़ जायेगी। इस मोह से कभी भी सन्तोष नहीं मिलता है बल्कि भीतर-बाहर का सारा स्वास्थ्य बिगड़ जाता है।

### मोह के जाल से बाहर निकलना होगा

इसलिये यदि सन्तोष प्राप्त करना है और भीतर-बाहर के स्वास्थ्य को उत्तम बनाना है तो मोह के जाल से ही बाहर निकलना होगा। कारण, यह मोह अपने आप कभी भी समाप्त नहीं होता है। इसे तो सबल पुरुषार्थ के माध्यम से

समाप्त करना पड़ता है। मोह त्याग के सम्बन्ध में जो व्यक्ति सत्य-निष्ठा के साथ सम्यक् भाव से चिन्तन करता है, वही अपने मोहनीय कर्मों के जाल को तोड़ सकता है। समझिये कि मोहनीय कर्मों का जाल ज्यों ही छिन्न-भिन्न होता है, इस आत्मा के विकास का द्वार स्वयमेव खुल जाता है तथा सम्पूर्ण जीवन-प्रवाह उसमें प्रविष्ट होने का लक्ष्य लेकर गतिशील हो जाता है।

आज आप देखते होंगे कि विषय-कषायों के मोह में आदमी साठ-सत्तर बरस का हो जाता है तब भी ब्रह्मचर्य व्रत लेने में हिचकिचाता है या कि परिग्रह परिमाण व्रत की ओर प्रभावित नहीं होता है। क्या यह उसका पुरुषार्थहीन और दोषपूर्ण जीवन नहीं है जो वह मोह के जाल से बाहर निकल कर आने का तनिक भी प्रयास नहीं करता?

आप यह जानते हैं कि भव्य आत्माओं ने तीर्थंकर देवों के उपदेश या कि वीतराग वाणी के प्रवचन सुनते ही सभी विषय-कषाय रूप मोह बन्धनों को तोड़ दिया और जीवन के कल्याण मार्ग पर अपने चरण आगे बढ़ा दिये। जम्बू कुमार ने सुधर्मास्वामी का प्रवचन श्रवण करते ही अपनी आत्मा को जागृत बनाया, मोह के जाल को तोड़ा और देवांगनाओं के समान अपनी आठों पत्नियों को छोड़कर भागवती दीक्षा स्वीकार की। क्या यह मोह त्याग का आदर्श उदाहरण नहीं है? क्या इसका अनुसरण करके अपने जीवन-प्रवाह को भी मोड़ा नहीं जा सकता है? वाल्मीकि ऋषि पहले डाकू थे किन्तु ज्यों ही उन्होंने अपनी आत्मा में परमात्मा को प्रतिस्थापित कर दिया, त्यों ही वे एकदम से बदलकर डाकू से ऋषि हो गये।

मानव जब तक अपने आत्म लक्ष्य को नहीं समझता है और उसे पाने की लगन नहीं लगा लेता है, तब तक वह अपने आपको मोह के कठिन बन्धनों से मुक्त भी नहीं कर सकता है। अधिकांश भक्त जन बोध कथाओं को सुनते हैं सो उसके कथा भाग को तो याद रख लेते हैं लेकिन उसका बोध भाग जैसे उनके मस्तिष्क में ही प्रवेश नहीं करता है। ऐसा होना मोहग्रस्तता का ही लक्षण है। आपको देखना चाहिये कि सन्तों की अभिलाषा सम्यक् दृष्टि से अन्तरात्मा में रहती है और उनका जीवन-प्रवाह भौतिकता से दूर बहता है अतः सीखना चाहिये कि आप भी धीरे-धीरे ही सही भौतिकता के मोह से दूर हटें।

### आत्म लक्ष्य को केन्द्रस्थ बनावें

शास्त्रकारों ने कहा है कि जीवन का प्रमुख लक्ष्य आत्म विकास है और इसी लक्ष्य को केन्द्रस्थ कर विवेकशील पुरुष को चलना चाहिये। कोई साधु धर्म

ग्रहण न कर सके तो वैसा न करे लेकिन गृहस्थाश्रम में चलते हुए भी प्रतिपल अपने आत्म लक्ष्य के प्रति सावधान तो रहा ही जा सकता है। ऐसी सावधानी तभी रह सकेगी जब आत्म लक्ष्य को केन्द्र में रखकर सारे काम-काज किये जायेंगे। प्रतिक्षण यह ध्यान में रहे कि इस जीवन का लक्ष्य क्या है तो उस ध्यान से किसी भी परिस्थिति में पतन की राह पर चलना नहीं हो सकेगा। शास्त्रकारों ने जीवन लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए उसकी पूर्ति के विविध साधनों एवं माध्यमों का भी उल्लेख किया है।

भगवती सूत्र में उल्लेख आया है कि गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा—प्रभु, आराधना कितने प्रकार की होती है? उत्तर मिला—तीन प्रकार की। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र रूप और इसे रत्नत्रय का नाम दिया। रत्नत्रय की आराधना को ही मोक्ष का मार्ग बताया। रत्नत्रय को सरल भाषा में कहें तो इस प्रकार कहेंगे कि जानो, मानो और करो। ज्ञान मूल तत्त्व है—जाने बिना कोई काम सफल नहीं हो सकता है। मुम्बई जाना है और मुम्बई का मार्ग नहीं जानें या जानने की कोशिश भी नहीं करें तो क्या मुम्बई जाने का काम सही तरीके से पूरा हो सकता है? हो सकता है कि भटक कर अपने आपको और खतरे में डाल दें। फिर जो जान जाओ, उसे मानो नहीं, तब भी वह जाना हुआ काम नहीं दे सकता है। संशयात्मा विनश्यति। यानी संशय करने वाला आखिर हारता है। इस कारण जो जाना है उसे मानना जरूरी है अर्थात् आस्था जरूरी है, आत्मविश्वास जरूरी है। फिर कर्म करें, सफलता आपके चरण चूमेगी।

यों तीनों परस्पर में सम्बद्ध होते हैं। आप जान लो और करो नहीं तो उस जानने का क्या उपयोग? जानकर मानो नहीं तो जानना भी अधूरा ही रहेगा। आप अपना जानना ही किसी दूसरे के गले नहीं उतार सकेंगे क्योंकि आपकी भी उस पर आस्था नहीं। जानने, मानने और करने का क्रम ऐसा वैज्ञानिक है कि जहां सम्यक्त्व आ जाये और सम्यक्त्व आना अति आवश्यक है तब सम्यक् रूप से रत्नत्रय का व्यवस्थित क्रम चल ही जाता है और आत्म लक्ष्य केन्द्रस्थ बन ही जाता है।

### फिर ज्ञेय, हेय, उपादेय को समझें

शास्त्र में मोक्ष मार्ग की आराधना के मार्ग रूप रत्नत्रय का विश्लेषण करने के बाद यह बताया गया है कि आप तत्त्वज्ञान कैसे करें? इस संसार में रहते हुए विविध प्रकार के तत्त्वों तथा पदार्थों का जीवात्मा से आमना-सामना होता ही है और मनुष्य जैसे बुद्धि सम्पन्न प्राणी के लिये तो यह आवश्यक माना गया

है कि वह उन सभी तत्त्वों एवं पदार्थों का ज्ञान करे जिनका किसी-न-किसी रूप में उसके जीवन के साथ सम्बन्ध जुड़ता है। इसका कारण यह है कि तत्त्व स्वरूप को जाने बिना यह वर्गीकरण कैसे किया जा सकता है कि अमुक तत्त्व तो अपनी आत्मा की विकास यात्रा में सहायक है अतः उसे ग्रहण करना चाहिये अथवा कि अमुक तत्त्व उसमें बाधा रूप है और उसका त्याग कर देना चाहिये।

इस दृष्टि से आराधना का एक अंग यह भी बताया गया है कि इन अपेक्षाओं से संसार में बरत रहे तत्त्वों और पदार्थों के स्वरूप का ज्ञान किया जाये। इस प्रसंग में यह अवश्य बता दिया गया है कि जानने लायक तत्त्व कौन-कौन-से हो सकते हैं। इस रूप में तत्त्वों के तीन वर्गों का उल्लेख किया गया है—

1. ज्ञेय तत्त्व—जानने लायक, जो बुरे हों या अच्छे हों किन्तु जीवन-प्रवाह का जिन तत्त्वों से सम्पर्क होता है उन्हें स्वरूप दृष्टि से जानना चाहिये।
2. उपादेय तत्त्व—इस वर्गीकरण में उन तत्त्वों को लिया गया है जिन्हें आत्म विकास के लक्ष्य की पूर्ति के लिए ग्रहण करना चाहिये अर्थात् ग्रहण करने लायक तत्त्व।
3. हेय तत्त्व—जानकर जिन तत्त्वों को घातक माना गया है, उन्हें त्याग दिया जाये अर्थात् छोड़ने लायक तत्त्व।

जो ग्रहण करने लायक तत्त्व बताये गये हैं, उन्हें आराधना में सहायक मानकर सम्यक् भाव से ग्रहण करना चाहिये। जिन तत्त्वों को हेय कहा गया है, उनका त्याग करने में भी प्रमाद नहीं करना चाहिये। जैसे अठारह प्रकार के पाप कार्यों की जानकारी ले ली ज्ञेय मानकर, किन्तु जानकारी के बाद हेय समझ कर उनका अपनी शक्ति के अनुसार परित्याग कर देना चाहिये। उपादेय तत्त्वों में उच्चस्थ क्रम रत्नत्रय का है, अतः इन तत्त्वों को ग्रहण करने की, इनकी सम्यक् रीति से आराधना करने की तथा रत्नत्रय के अनुसार सम्पूर्ण जीवन-प्रवाह को ढाल लेने की एक विवेकशील पुरुष के हृदय में पूर्ण तत्परता जाग जानी चाहिये क्योंकि इस विधि से ही उसका जानना, मानना और करना सम्यक्त्व की श्रेणी से ऊपर उठता हुआ चौदहवें गुणस्थान तक पहुँच सकता है और इस आत्मा को परमात्मा बना सकता है।

### जीवन-प्रवाह किस सागर में मिले ?

यह सभी जानते हैं कि जल का प्रवाह किसी भी माध्यम से बहता हुआ एक दिन सागर की अतल गहराइयों में समा जाता है। छोटा प्रवाह नाले में

गिरता है, नाला किसी नदी में तो छोटी नदी बड़ी नदी में और अन्ततोगत्वा बड़ी नदी सागर में विलीन हो जाती है। तो क्या अपने जीवन-प्रवाह की भी यह अवस्था होती है?

एक सामान्य आत्मा अपने सत्पुरुषार्थ और सद्धर्माराधना से महानता की ओर आगे बढ़ती है तभी उसकी प्रगति की ओर दूसरों का ध्यान जाता है और दूसरों का सहयोग भी मिलता है। प्रारंभ में अपना जीवन-प्रवाह भी तो बहुत छोटे रूप में होता है और उस छोटे रूप में ही जब चेतना जागृत बनती है तो वह प्रवाह सूखता नहीं है, सजल रहता हुआ बहता चला जाता है। वह वीतराग वाणी सुनता है, उसे सन्तों का सत्संग मिलता है और वह सदाचरण के अपने अभ्यास को सधन बनाता हुआ चलता है तो उसका जीवन-प्रवाह वृहत्तर आकार लेता रहता है और प्रभावोत्पादक बनता जाता है। यही प्रभाव बढ़ते-बढ़ते उस प्रवाह को सम्यक्त्व की छोटी नदी से वीतरागता की महानदी में बदल देता है। फिर वह वीतरागता किस सागर में लीन हो जाती है यह आप सब जानते हैं। जानते हैं न? नहीं तो सुनिये।

वह सागर है ज्योति का, प्रकाश का, जो सिद्धशिला के ऊपर लहरा रहा है। इसे ही मोक्ष कहा जाता है। वहां सिद्धात्माएँ ज्योति स्वरूप विराजती हैं और वीतराग बनी आत्मा भी जब सिद्ध होती है तो ज्योति के सागर में ज्योति रूप ही हो जाती है। यह ज्योतिर्धर या ज्योतिर्मय होना ही आत्मा के विकास की पूर्णाहुति है तो जीवन लक्ष्य की चरम सम्पूर्ति।

कभी-कभी विकासशील या कि निर्दोष आत्मा के जीवन-प्रवाह का ऐसा सुप्रभाव पड़ता है कि क्रूरतम व्यक्तियों के हृदय भी परिवर्तित हो जाते हैं। आपने कल सुना है कि जम्बू कुमार के जीवन-प्रवाह ने चोरों का दिल बदल दिया। इस जमाने की भी एक सत्य कथा है जो एक श्रावक ने आप बीती सुनाई थी। वे जब सन्तों के दर्शन करने आये तो उनका परिवार भी साथ में था और साथ में उनकी दस-बारह वर्ष की एक लड़की भी थी। उन्होंने बताया कि इस लड़की ने हमारी सारी सम्पत्ति की रक्षा की। घटना यों घटी कि यह लड़की मकान के छत पर खड़ी थी। इसने सामने ऊँटों पर बैठे हुए कुछ लोगों को देखा तो अनायास चिल्ला पड़ी—माँ, जल्दी आओ, मामा आ रहे हैं। वे हकीकत में डकैत थे और उस छोटे गांव में रक्षा का कोई साधन नहीं था। श्रावकजी कांप उठे कि अब न जाने क्या गुजरेगी। तभी उनके दरवाजे पर थाप पड़ी। वे हतप्रभ रह गये। बाहर से आवाज आई दरवाजा खोल दो, हम तुम्हें लूटेंगे नहीं। खैर दरवाजा खोला और डाकू भीतर आ गये। अबोध लड़की तब भी 'मामा, मामा'



चिल्लाती रही। डाकुओं के सरदार ने कहा—सेठ, हम खास तौर से तुम्हें ही लूटने आये थे किन्तु इस भोली बच्ची का 'मामा' शब्द हमारे कान में क्या पड़ा कि हम भीतर से हिल गये। यह कहकर बच्ची को उसने गोद में उठा लिया। फिर बच्ची और बच्ची की माँ को यथायोग्य 'कपड़ा' देकर वे वापस चले गये।

डाकुओं के इरादों को बदल दिया एक छोटी-सी बच्ची के जीवन-प्रवाह ने, जिसमें स्नेह और सरलता का ही पुट रहा होगा। यह तो एक मामूली बात है, लेकिन अपने जीवन-प्रवाह को समझें, उसे विकास की दिशा में पलटें और लक्ष्य के प्रति सतत प्रवहमान बना दें तो निश्चित मानिये, कि वैसा जीवन-प्रवाह अपार शक्तियों से परिपूरित हो जायेगा तथा ऐसा कोई नहीं होगा जो उसके अतुलनीय प्रभाव से प्रभावित न हो।

दिनांक : 2.09.1986

(जलगांव)

## 3

## नींव निर्माण की कला

अनन्त जिनेश्वर नित नमूं ...

पर्युषण महापर्व के दिनों में अपने जीवन-प्रवाह को आत्म विकास की दिशा में मोड़ने का प्रयास करना है जिससे जीवन का समग्र वर्तमान स्वरूप, धार्मिक क्रिया-प्रतिक्रिया तथा आन्तरिक भावनाओं की शुद्धता को सुव्यवस्थित बनाना है। मनुष्य जीवन में ही सर्वांगीण आत्मविकास की ओर सफलता पूर्वक आगे बढ़ा जा सकता है, यदि ऐसा इस जीवन में नहीं किया जा सका तो इस दुर्लभ जीवन का कोई सार नहीं निकलेगा।

अन्तगड़ सूत्र का वर्णन कल्पवृक्ष का वर्णन है। मनुष्य जिन-जिन वस्तुओं की इच्छा करता है, अपेक्षा रखता है उसकी वे सभी मनोकामनाएँ कल्पवृक्ष से प्राप्त होती हैं। वैसे ही इस सूत्र में सभी दृष्टि से वर्णन आता है कि इहलोक की साधना का क्या रूप होता है तथा परलोक की साधना का क्या? यदि इन वर्णित विषयों पर सम्यक् भाव से चिन्तन किया जाय तो उनसे कई प्रकार की सत्प्रेरणाएँ प्राप्त होती हैं।

उनमें से एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यदि नींव निर्माण की कला का प्रयोग कुशलता के साथ किया जाय तो उससे ऊपर का सारा निर्माण सुव्यवस्थित, सुदृढ़ और सुन्दर हो जाता है। क्या है यह नींव निर्माण की कला? कैसे यह कला लागू होती है मानव जीवन के निर्माण पर?

### नींव का निर्माण शुरू होता है गर्भ से

अन्तगड़ सूत्र का वाचन-विवेचन इन पर्युषण के आठ दिनों में किया जाता है जिससे विकासशील आत्माओं को पर्याप्त खुराक मिल सकती है। ऐसी खुराक जिसे ठीक से पचाने में अगले बारह महीने लग सकते हैं। फलस्वरूप जीवन की शुभ वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों में स्थिरता आ सकती है एवं मानव परिवार, समाज,

राष्ट्र एवं विश्व तक की सीमाओं को पार करके आत्म-विकास की यात्रा में अग्रगामी बन सकता है।

इस सूत्र में देवकी रानी का वर्णन आता है। और भी कई ऐसी माताओं के वर्णन हैं जिनसे यह तथ्य स्पष्ट होता है कि मानव जीवन का शुभ निर्माण जितनी परिपक्वता से माताएँ कर सकती हैं, वैसा कोई दूसरा नहीं कर सकता। माताओं का यह निर्माण क्रम गर्भावस्था से ही आरंभ हो जाता है। इस प्रारंभिक अवस्था से जिस प्रकार के संस्कार माताएँ अपने बालकों को देती हैं, वे मजबूती से जम जाते हैं और उनके समग्र जीवन काल तक क्रियाशील रहते हैं। इन माताओं के वर्णन में यही विशेषता है कि यदि माताएँ गर्भकाल से लेकर शैशव काल तक भी श्रेष्ठ संस्कारों की छाप अपने बच्चों पर छोड़ें तो उन संस्कारों का प्रभाव उनके पूरे जीवन काल तक बना रहता है। वे श्रेष्ठ संस्कार प्रभावी बनकर सामाजिक जीवन में अपना विस्तार पाते रहते हैं।

देवकी रानी कर्मयोगी श्रीकृष्ण की माँ थी। उसके आदर्श जीवन से वर्तमान में नारी जाति को यह प्रेरणा मिल सकती है कि एक माँ का अपनी सन्तान के प्रति कितना निश्छल स्नेह होता है और किस प्रकार वह अपनी सन्तान का जीवन निर्माण समुचित ढंग से करते हुए अपनी नींव निर्माण की कला का श्रेष्ठ परिचय दे सकती है! शास्त्रीय दृष्टि से इस सम्बन्ध में जिस वस्तुस्थिति का वर्णन किया गया है, उससे उस समय में भी नारी जाति के उत्कृष्ट महत्त्व का पता चलता है। उसका एक प्रमाण इस प्रकार है—तीर्थकर देवों ने श्रावकों के लिये पांच अणुव्रत बताये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह। दूसरा सत्य अणुव्रत है कि श्रावक स्थूल झूठ का त्याग करता है। इस बारे में शास्त्रीय शब्द हैं—कन्नालिये, गोवालिये, भोमालिये आदि। इनका अर्थ है कि कन्या सम्बन्धी, गाय आदि पशु सम्बन्धी एवं भूमि सम्बन्धी झूठ श्रावक को नहीं बोलना चाहिये। इसमें कन्या से सम्बन्धित झूठ नहीं बोलने का निर्देश देकर नारी जाति की पवित्रता का संकेत दिया गया है।

यह पवित्र नारी जाति ही मानव जाति के जीवन का निर्माण नींव से करती है।

### गर्भकाल व शिशुकाल के अमिट संस्कार

देवकी रानी भी उत्क्रान्ति को अनुप्राणित करने वाली महान् माता एवं नारी जाति का गौरव थी। वह अत्यन्त स्नेहिल हृदय एवं दूर दृष्टि वाली नारी भी थी। श्रीकृष्ण जैसे महापुरुष की तो वह माता थी ही किन्तु भगवान् नेमिनाथ के

मुखारविन्द से जब उसे यह ज्ञात हुआ कि उसके सामने जिन छः दिव्य स्वरूप वाले युवकों की भागवती दीक्षा हुई है, वे छः युवक उसी के पुत्र हैं, तब से वह विचार मग्न हो रही थी कि मेरे दिव्य पुत्रों की बाल क्रीड़ाएँ मुझे देखने को क्यों नहीं मिली? ये छः पुत्र देवकी की वे पूर्व सन्तानें थीं जो श्रीकृष्ण जन्म के पहले उत्पन्न हुई थी। तब भगवान् ने देवकी रानी से कहा था—हे देवकी, तुम्हारे ही पवित्र संस्कारों के कारण इन छः पुत्रों ने अपने आत्मविकास के संयम पथ पर यात्रा शुरू की है। यह सुनकर देवकी माता को अपार हर्ष हुआ। कौमार्य अवस्था में अतिमुक्तकुमार ने देवकी को कहा था कि तुम परम आदर्श माता बनोगी और नारी जाति के इतिहास में तुम्हारा अनुपम स्थान रहेगा। तुम्हारा सातवां पुत्र श्रीकृष्ण त्रिखंडाधिपति बनेगा और अन्याय का मूलोच्छेदन करेगा। उस समय उसके मन में जिस जिज्ञासा ने जन्म लिया था, उसका ही निवारण आगे चलकर अरिष्टनेमि भगवान् ने किया।

भगवान् का समाधान सुनकर उस समय देवकी रानी के मन में एक प्रश्न और उठा। वह सोचने लगी कि सन्तान का लालन-पालन कैसे करना चाहिये, किस रूप में अपनी सन्तान को श्रेष्ठ संस्कारों की घुट्टी पिलानी चाहिये और सन्तानों के जीवन की नींव निर्माण में माताओं के क्या कर्तव्य होते हैं—यह सब मैं भलीभांति जानती थी किन्तु मेरे साथ ऐसा क्यों घटित हुआ कि मेरे इस ज्ञान को मैं क्रियान्वित नहीं कर सकी। मैं अपनी सन्तानों को गर्भ काल में जो कुछ संस्कार दान कर सकी, वही कर सकी, उनका शिशुकाल मेरे सम्पर्क से दूर क्यों रहा? वह एक आदर्श माता थी अतः रह-रहकर यही विचार उसे दुःखित बनाता रहा कि उसे अपनी छः-छः सन्तानों के श्रेष्ठ जीवन निर्माण का पूरा-पूरा अवसर क्यों नहीं मिला?

एक माता की तड़प बच्चे के जीवन निर्माण के साथ इतनी घनिष्टता से जुड़ी हुई होती है कि वह उसका मात्र शारीरिक संरक्षण ही नहीं करती है बल्कि उसके मन-मस्तिष्क में ऐसी भावनाओं और विचारों का बीजारोपण करती है जिनके परिपुष्ट बनने पर वे छोटे-छोटे बच्चे महान् सन्तों, शूरीयों तथा आदर्श पुरुषों के रूप में विकसित होते हैं। इसका मुख्य कारण यही होता है कि गर्भ और शिशुकाल में बच्चों को अपनी माता की ओर से जितने श्रेष्ठ संस्कारों का योगदान मिलता है, उतना ही श्रेष्ठ रूप से उनका भावी जीवन निर्मित होता है।

माता के तरल स्नेह का अपार माहात्म्य होता है। जैसे डॉक्टर लोग कहा करते हैं कि माता के दूध में बच्चों के पोषण के सभी आवश्यक तत्व मौजूद होते हैं और वह दूध बच्चे की वृद्धि के लिये अमृत तुल्य होता है। उसी प्रकार

माता का तरल स्नेह बच्चे के दिव्य जीवन निर्माण के लिये सर्वाधिक सशक्त साधन होता है। यों समझिये कि गर्भकाल और शिशुकाल में जिस बच्चे को माता के अधिकाधिक तरल स्नेह से आप्लावित होने का अवसर मिलता है, उसके जीवन में उतने ही श्रेष्ठ सद्गुणों के दिव्य संस्कार पल्लवित होते हैं। इन संस्कारों की पूरे जीवन काल तक अमिट छाप रहती है।

### माता की मंगलमयी ममता

देवकी रानी विचार मग्न हुई कि मैंने सात पुत्रों को जन्म दिया किन्तु एक पर भी अपने लाड़ न लड़ा सकी और न उनकी सहज बाल क्रीड़ाओं का आनन्द लूट सकी। गर्भ के बाद तो वह उन्हें श्रेष्ठ संस्कारों का योगदान भी नहीं कर सकी।

ऐसे विचार किन माताओं के मन में आते हैं? क्या सभी माताएँ इस प्रकार सोचती हैं? जो नहीं सोचती हों उन माताओं को भी सन्तान के प्रति अपने कर्तव्यों के विषय में गहराई से सोचना चाहिये। माता की मंगलमयी ममता उसकी सन्तान के जीवन निर्माण में वरदान बन कर कार्य करती है। यदि माताएँ इस शक्ति और अपने कर्तव्यों के विषय में अनभिज्ञ बनी रहें तो उससे पूरी एक पीढ़ी के जीवन निर्माण को गंभीर क्षति पहुँचती है। क्योंकि गर्भ की अवस्था में ही माता की नाड़ी से जो अन्तरस बच्चे को मिलता है, वह माता के उच्च विचारों तथा सद्बिवेक की वृत्तियों को बालक के हृदय में उतार देता है। माता ही बच्चे को जैसा चाहे, अपनी शुभता से उसके जीवन का वैसा ही निर्माण कर सकती है। माता की मंगलमय भावना उस निर्माण को संरक्षित तथा सुरक्षित बनाती है।

एक कुंभकार की कुशलता आप देखते हैं। वह मिट्टी से विभिन्न कलात्मक आकृतियों व वस्तुओं का निर्माण करता है। मिट्टी जो पैरों से रौंदी जाती है, कुंभकार उसे माथे पर बिठा देता है। मिट्टी से वह जो घड़ा बनाता है, वह महिलाओं के मस्तक पर बैठता है। जब हाथों की कला ही स्थिति में इतना ऊँचा परिवर्तन ले आती है तो हृदय की कला कितनी उच्चतम श्रेष्ठता का निर्माण कर सकती है इसका आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है। माताएँ बच्चों के लिए कलावंत कुंभकार का रूप होती हैं। गर्भवती माता जब सावधानी पूर्वक अपना प्रत्येक कार्य सद्बिचार, सद्बिवेक और सद्बुद्धि के साथ करती है तो उसका सत्प्रभाव बालक के हृदय पर बड़ी गहराई से पड़ता है। बालक उस सदाशयता को कई गुना करके अपना लेता है और उसे अपने जीवन में

रमा लेता है। इसके विपरीत यदि गर्भवती माता ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर, शोक और सन्ताप में डूबी रहती है तो इन दुर्गुणों का दुष्प्रभाव भी उस पर उतना ही गहरा होता है। तब वह सन्तान भी सबको सन्ताप पहुँचाने वाली ही बनती है। इसलिये गर्भावस्था में माताओं को अपने शिशु के भव्य जीवन निर्माण की भावना रखते हुए उसकी सर्वांगीण रक्षा का प्रयत्न करना चाहिये। अपने मन में उन्हें सदा पवित्र एवं मंगलमय भावनाओं का संचार बनाये रखना चाहिये। इस हेतु वे शास्त्रों की वाचना-विवेचना करें, सत्साहित्य का पठन करें तथा सत्संग में अपना अधिक समय व्यतीत करें। वे अपनी ममता को इतनी शुभता से रंग दें कि उनकी सन्तानें पूर्ण संस्कारी पैदा हों तथा बाल्यकाल से ही वे संस्कार निष्ठ जीवन जीने की भावना से ओत-प्रोत रहें।

### नींव निर्माण से जीवन निर्माण तक

देवकी रानी की सातवीं बार की गर्भावस्था में उसका यह निश्चल विचार चलता था कि मेरा सातवां पुत्र परम शूरवीर और अन्याय का सफल प्रतिकार करने वाला होगा तो श्रीकृष्ण का वैसा ही जीवन निर्मित होकर रहा। नींव निर्माण से संस्कारिता की जो प्रक्रिया शुरू होती है, वह दीर्घजीवी बनती है और पूरे जीवन निर्माण तक सक्रिय बनी रहती है।

गर्भ से जब बालक का जन्म होता है तब पहला रस भी उसे माता से ही मिलता है। वह अपनी माता का स्तनपान करता है तो यह समझिये कि वह माता के जीवन का अमूल्य रस पीता है। दूध तो उसके शरीर का निर्माण करता है परन्तु उस दूध में मिला हुआ माता के सद्गुणों का रस उसके मानस का निर्माण करते हुए उसके सम्पूर्ण जीवन का श्रेष्ठ सृजन कर लेता है। तभी तो देवकी माता को सब से बड़ा खेद यही रहा कि पहले के छः पुत्रों का तो उसे ज्ञान ही नहीं था किन्तु अपने सातवें पुत्र को भी वह अपना स्तनपान नहीं करा सकी।

गर्भावस्था में माता अपने श्रेष्ठ जीवन से जितना संस्कारों का दान करती है, उससे भी अधिक वह बच्चे को उसके जन्म के बाद स्तनपान से सुसंस्कारों का दूध पिलाती है तो अपने प्रत्यक्ष आचरण से उसके जीवन में नये-नये संस्कारों का सृजन करती है। माता की मंगल कामना श्रेष्ठता की छाया बनकर प्रत्येक क्षण बालक को नये-नये विचारों से उत्फुल्ल बनाती रहती है। वे विचार बच्चे के उभरते हुए जीवन को सीधे रूप से प्रभावित करते हैं। इस स्तनपान जैसे पवित्र कार्य से कहा जाता है कि आजकल की कई माताएँ उपेक्षित होती जा रही हैं। उनके मन में अपनी सुन्दरता बिगड़ जाने का झूठा भ्रम समा गया

है। वे यह नहीं जानतीं कि बच्चे को अपना स्तनपान नहीं कराके वे उसके जीवन निर्माण के साथ गंभीर खिलवाड़ करती हैं। इस झूठे खयाल में वे अपनी रचना को सुन्दरतम बनाने के उत्तरदायित्व से स्वलित हो जाती हैं। इस भूल का कई रूपों में बच्चे पर बुरा असर भी पड़ता है और उसके जीवन में कई खामियाँ और कई खराबियाँ पनप जाती हैं। ऐसी माताओं को अपनी इस भूल का विचार होना चाहिये और उसका सुधार करना चाहिये ताकि वे अपनी सन्तान का यथोचित रीति से सुन्दर निर्माण कर सकें।

राजस्थान के जोधपुर क्षेत्र में जसवन्त सिंह नाम के एक शूरवीर राजा हुए हैं। एक बार उनके निकटवर्ती एक राजा ने उनके राज्य पर आक्रमण कर दिया। तब जसवन्त सिंह उसका कड़ा मुकाबला करने के लिये निकले। निकलने से पहले उन्होंने अपने राज्य का संचालन भार अपनी महारानी को सौंप दिया। उसने अपने सरदारों को निर्देश दे दिया कि वे राजकाज में अब से महारानी की सभी आज्ञाओं को शिरोधार्य करें। योग ऐसा बना कि जसवन्त सिंह को हार का मुंह देखना पड़ा। हार खाकर वे जोधपुर की तरफ भागे और अपने किले में प्रवेश करने लगे किन्तु महारानी की आज्ञा से उन्हें किले के बाहर ही रोक दिया गया। जसवन्त सिंह ने पुनः महारानी को कहलाया कि उसके पति राजा स्वयं आये हैं। महारानी ने वापस यह उत्तर पहुँचाया कि मेरे पति हारने वाले कभी नहीं हो सकते। यदि हारकर कोई आया है तो वह मेरा पति नहीं, कोई और होगा अतः प्रवेश की आज्ञा नहीं मिलेगी। उत्तर सुनकर जसवन्त सिंह चौंक उठे और एक वीर क्षत्राणी का चित्र उनकी आंखों के आगे खिंच गया। सात दिन भूखे-प्यासे वे बाहर ही पड़े रहे, तब उनकी माता का हृदय द्रवित हो उठा। उसने अपने बेटे को भीतर बुलाया और अपनी बहू को जल्दी से जल्दी भोजन बनाने का निर्देश दिया। बहू ने हलुआ बनाना शुरू किया और जोर-जोर से कड़ाही-कड़छा बजाना भी। कड़ाही-कड़छे की आवाज इतनी जोर से आने लगी कि जसवन्त सिंह झल्ला उठे। तब एक मंगलमयी माता ने अपने बेटे के बुझे हुए दिल में फिर से वीरता की बिजली भर देने के सुविचार से अपनी बहू को तेजी से डांटते हुए अपने बेटे को सुनाया—बहू, तुम जरा भी खयाल नहीं रखती हो। जो युद्ध में तलवारों की झनझनाहट और खनखनाहट से घबरा कर आया हुआ है, वह क्या कड़ाही-कड़छे की खनखनाहट को भी सहन कर सकता है? माता के ये शब्द जसवन्त सिंह के हृदय में गहरे पैठ गये और उनका हृदय गहरी ग्लानि से भर उठा। वे माँ के चरणों में गिर पड़े और कहने लगे—माँ, तुमने मुझे जगा दिया है, मेरे कायर दिल को नये उत्साह से भर दिया है, मैं अब यहां पर एक क्षण के

लिये भी नहीं ठहरूंगा और शत्रु पर विजय प्राप्त करके ही लौटूंगा। राजा उसी समय किले से चले गये।

यह एक सुसंस्कारित माता के संस्कार दान का चमत्कार था। उस राजमाता ने उस समय जसवन्त सिंह को एक बात और कही थी और बताया था कि उसकी इस कायरता का दोष मेरे पर ही है। मेरे ही संस्कार दान की कुछ कमी रही गई जो मेरे बेटे के मन में कायरता का झोंका आ गया है। राजमाता ने स्पष्ट किया कि जब वह बचपन में अपने बेटे को स्तनपान करा रही थी तभी उसके पिता जी ने मुझे बुला लिया था सो मैं अपने बच्चे को एक दासी को सौंप कर चली गई। बच्चा तब रोने लगा था सो उस दासी ने तनिक सा अपना स्तनपान करा दिया, मैं वापस लौटी तब मुझे इसका पता चला। मुझे तभी सन्देह हो गया था कि कहीं यह बात उस की वीरता में कायरता का कलंक न बन जाय।

कहने का अभिप्राय यह है कि कभी-कभी संस्कार निर्माण के समय माता की गफलत से या किसी दूसरे कारण से थोड़ा सा भी दोष रह जाता है तो वह भी भावी जीवन में किसी गंभीर दुर्घटना का सूचक बन जाता है। इस दृष्टि से एक माता को अपनी सन्तान के लिये नींव निर्माण से लेकर जीवन निर्माण तक पूरी तरह सतर्कता बरतनी चाहिये।

### माँ की शिक्षा, सत्जीवन की दीक्षा

माँ की शिक्षा यदि सफलतापूर्वक एक बालक के दिल और खून में रम जाती है तो यह समझा जा सकता है कि उस बालक की सद् और असद् की पहचान करने की बुद्धि प्रखर बन चुकी है तथा श्रेष्ठ व सुसंस्कारी जीवन व्यतीत करने की उसकी दीक्षा पूर्ण हो चुकी है। तभी तो कहा गया है कि एक माता बालक के लिये सौ शिक्षकों के बराबर होती है। उसके संस्कारों की छाप बालक के सम्पूर्ण जीवन पटल से कभी धोयी नहीं जा सकती है। एक सजग माता अपने सजग बालक की आत्मा में सदा जीवित रहती है। भावनाओं की दृष्टि से सुसंस्कारों का दान करने वाली एक माता कभी मरती नहीं है, जीवन निर्माण की परिपक्वता में उसकी मूर्ति सदा बालक के हृदय में बैठी रहती है।

एक प्राचीन कथा है। मदालसा नाम की एक महारानी थी। उसने अपने सात पुत्रों के हृदय में सुसंस्कारों के ऐसे बीज बोये थे कि वे आत्म-शोधन का लक्ष्य लेकर संन्यासी बन गये। मदालसा माता के ये आध्यात्मिक बीज सातों पुत्रों को उनकी गर्भावस्था में मिले थे। मदालसा अपने गर्भकाल में अनदेखी



सन्तान को सम्बोधित करके कहा करती थी—हे पुत्र, तुम शुद्ध हो, बुद्ध हो और समग्र सदगुणों के धनी हो इसलिये अभी से मोह को त्यागने का संकल्प लो तथा अपनी चेतना शक्ति को जागृत बनाओ। उस सम्बोधन का इस रूप में प्रभाव पड़ता गया कि ज्यों ही पुत्र तरुणावस्था तक पहुँचता, साधु धर्म ग्रहण करने के लिये लालायित हो उठता। उनकी आत्म-जागरण की ऐसी अवस्था उनकी माता के सत्संस्कारों का पुण्य प्रतिफल था।

मदालसा के पुत्रों पर पड़ने वाले इस प्रभाव को देखकर महाराजा चिन्तित रहने लगे। वे सोचते कि यों सभी पुत्र संसार को छोड़ कर साधु बनते जायेंगे तो इस राज्य के संचालन का क्या होगा? फिर मेरी वृद्धावस्था में मेरी सेवा करने वाला भी कौन रहेगा? यही नहीं, उसकी चिन्ता का मुख्य विषय तो उससे भी ऊपर था। वह वृद्धावस्था में योग साधना में लगना चाहता था किन्तु यदि राज्य संचालन के लिये कोई पुत्र ही नहीं रहेगा तो वह भी राज-काज को कैसे छोड़ पाएगा? इसलिये एक दिन महाराज ने अपने मन की यह चिन्ता महारानी पर प्रकट कर दी और विक्षोभ के साथ कहा—क्या तुम जीवन पर्यन्त मुझे इस संसार की गाड़ी का बैल ही बनाये रखना चाहती हो? मदालसा ने उत्तर दिया—महाराज, आप ठीक कहते हैं, एक माता का संस्कार दान अत्यन्त प्रभावशाली होता है। अब मैं अपने आठवें पुत्र को महान् शासक बनने के संस्कार दूंगी तथा उसे राजनीति और युद्धनीति में परम निपुण बनाऊंगी। फिर उस माता ने वैसा ही किया और अपने पति की इच्छा पूरी की। ऐसी थीं प्राचीनकाल की संस्कारनिष्ठ एवं शक्तिदायिनी प्रेरणा को फूंकने वाली महान् माताएँ।

### सत्य संस्कार अन्याय के आगे नहीं झुकते

महान् माताओं द्वारा अपनी ओजस्वी सन्तान को दिये गये सत्य संस्कार कभी भी किसी भी प्रकार के अन्याय के सामने झुकते नहीं हैं। वे मरण का वरण कर लेंगे, किन्तु अपने सुसंस्कार को किसी भी दशा में कलंकित नहीं करेंगे।

आधुनिक काल के ऐसे दो शूरवीर बालकों की जीवन गाथा आप भी जानते होंगे। वे दोनों शूरमा गुरु गोविन्द सिंह जी के सुपुत्र थे। उन्हें मुगल बादशाह ने अपना धर्म छोड़ने के लिये कहा था, बड़ा दबाव डाला, यहाँ तक कि उन्हें जीवित ही दीवार में चुनवा दिया, फिर भी वे अपने धर्म पर अडिग रहे। उनमें निर्भयता के अनुपम संस्कार उनकी माता ने भरे थे, इसी कारण वे अपने जीवन पर खेल गये पर अपने सुसंस्कारों से समुज्ज्वल बने रहे।

किन्तु आज तो उन्हीं गुरु के प्रदेश में प्रति दिन निर्दोष व्यक्तियों का बिना किसी उद्देश्य से खून बहाया जा रहा है। सोचने की बात है कि उस समय के संस्कारों से आज के संस्कारों में इतना भीषण अन्तर क्यों आ गया है? क्या हत्याकांड करने वाले उन भटके हुए नौजवानों का ही सारा दोष है अथवा उस दोष का भारी हिस्सा उनकी माताओं के जिम्मे भी आता है? यदि गर्भ और शिशुकाल में माता-पिता के संस्कारों की प्रबलता रहे तो ऐसे दुष्परिणाम सामने नहीं आवें।

अतः नींव निर्माण की कला बड़ी महत्वपूर्ण होती है और इस कला में मुख्य रूप से माताओं की पारंगतता आवश्यक है। इस कला का ही सुप्रभाव होता है कि नई पीढ़ी के पूरे जीवन का उस प्रकाश में निर्माण होता है। वही जीवन निर्माण उनके जीवन को, उनके परिवार, समाज और राष्ट्र के सामूहिक जीवन को गौरवान्वित बनाता है।

दिनांक : 03.09.1986

(जलगांव)

## 4

## शुसंस्कार-सर्जना

अनन्त जिनेश्वर नित नमूं...

हमारे चैतन्य देव का चरम लक्ष्य अनन्त जिनेश्वर की उपलब्धि करना है। अनन्त नाथ भगवान् ने अपने अनन्त पूर्वभवों का अनुभव करके अपूर्व जागृति के साथ शुद्ध लक्ष्य की ओर गति की तथा समस्त विकृतियों पर पूर्ण विजय प्राप्त करके अनन्त जिनेश्वर रूप परम पद की उपलब्धि कर ली।

प्रत्येक आत्मा का भी यही लक्ष्य है तथा इसे ही लक्ष्य मानकर समुचित रूप से अपने जीवन के विकास का उसे प्रयत्न करना चाहिये। अनन्त जिनेश्वर का स्वरूप जानने तथा उस स्वरूप की आत्मानुभूति लेने से परमानन्द की प्राप्ति होती है। एक जागरूक आत्मा द्वारा इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये सुसंस्कारों एवं सद्गुणों की अवाप्ति अनिवार्य होती है।

### सुसंस्कार सर्जना की भूमिका

एक समुन्नत जीवन का मूलाधार सुसंस्कार के सिवाय अन्य नहीं हो सकता है। यही भूमिका है जिसके समतल पटल पर आत्म विकास का सुन्दर प्रासाद निर्मित किया जा सकता है।

सुसंस्कार किन्हें कहें और वे किसी को भी कहां से सुलभ हो सकते हैं? संस्कार का अर्थ होता है जो कर रहे हैं, उसे संशोधित करके अच्छा बनावें यानी कि अपनी कृति को शुद्ध रूप दिया जाय। कृति के शुद्ध रूप के साथ जब श्रेष्ठता को भी जोड़ दें तो वे सुसंस्कार हो जाते हैं। प्रश्न उठता है कि यह कृति किसकी विशुद्ध बने? पहले उनकी कृति शुद्ध और श्रेष्ठ बने जिनकी कृति का प्रभाव अन्य कोमल हृदयों पर पड़ता है। अतः संस्कार वह हुआ जो एक शुद्ध व श्रेष्ठ कृति वाले व्यक्ति का असर नव निर्माण की ओर अग्रसर उस कोमल हृदय पर पड़ता है जो अपने सम्पर्क वाले व्यक्ति से प्रभाव ग्रहण करने को उत्सुक होता है। ये ही संस्कार जब एक पीढ़ी से दूसरी और दूसरी पीढ़ी से आगे की

पीढ़ियों में ढलते जाते हैं तो वे पारम्परिक संस्कारों का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं। उसे संस्कारों की परम्परा भी कह सकते हैं।

इस विश्लेषण को इस प्रकार समझिये कि जब एक विवाहित दम्पती से कोई सन्तान उत्पन्न होती है तो उनका एक रूप माता-पिता का बन जाता है। कोई भी बालक जब गर्भ में आता है तो उसे शरीर निर्माण के साथ ही मानस निर्माण की प्रक्रिया में अपनी माता के संस्कार ही प्राप्त होते हैं—वे संस्कार चाहे जैसे भी हों। और माता के संस्कार वे होते हैं जो उसने जीवन में उपार्जित किये हों अथवा गर्भकाल में भी उपार्जित करती रही हो। फिर बालक का जन्म हो जाने के बाद भी नवजात पर सर्वाधिक प्रभाव माता के संस्कारों का ही रहता है किन्तु वह तब अपने प्रत्यक्ष अवलोकन से वे संस्कार ही ग्रहण नहीं करता बल्कि माता के आचरण से भी बहुत कुछ सीखता रहता है। जन्म के बाद बालक माता के बाद परिवार में जो-जो लोग उसके सम्पर्क में आते हैं, उन सबसे भी वह सीखता ही है और अपने चारों ओर के वातावरण का भी उसके हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ता है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि जन्म से तीन वर्ष तक की आयु में बालक अपने सम्पर्कगत व्यक्तियों तथा वातावरण से इतने अधिक संस्कार पकड़ता है और इतना अधिक सीखता है कि जिसकी सही जानकारी लें तो आश्चर्य चकित हो जाना पड़ेगा। उसकी उस समय की ग्रहण-शक्ति किसी भी प्रौढ़ व्यक्ति से बहुत अधिक होती है।

आकृतिहीन, भद्दी और मैली मिट्टी को एक कुशल कुम्हार के हाथों शुद्ध होती, विभिन्न आकृतियाँ ग्रहण करती तथा सुन्दर रूप लेती हुई तो आप प्रत्यक्ष देखते हैं जिससे सहज ही अनुमान हो जाता है कि रूपान्तरण की क्या प्रक्रिया होती है। लेकिन एक बाल हृदय के रूपान्तरण या निर्माण की प्रक्रिया बड़ी परोक्ष रहती है इस कारण उसके महत्त्व को आंकने के लिये पैनी बुद्धि तथा गंभीर विचार की अपेक्षा रहती है।

सुसंस्कार सर्जना की प्रक्रिया प्रत्येक माता-पिता एवं अन्यान्य लोगों एवं पनपते हुए बाल हृदयों के साथ प्रत्येक युग में प्रतिक्षण क्रियाशील रहती है। क्योंकि सतत क्रियाशीलता आत्म धर्म की विशेषता है। यह आत्मा कभी भी क्रियाहीन नहीं होती सिवाय इसके कि वह सिद्धगति को प्राप्त कर ले। वहां भी ज्ञान क्रिया होती है, शरीर क्रिया नहीं होती तथा प्रत्येक संसारी आत्मा सदा सशरीरी रहती है। आत्मा की इस क्रियाशीलता का ही मुख्य अंग होती है संस्कार सर्जना, जिसका अस्तित्व दुतरफा कार्यरत रहता है। इसके दो पक्ष होते हैं संस्कार देने वाला तथा संस्कार लेने वाला। यह नहीं है कि ये दोनों पक्ष अलग

हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने स्तर पर संस्कार लेता भी है तो देता भी है। यह हो सकता है कि दोनों कार्यों में से कभी किसी एक की न्यूनता हो और कभी किसी की अधिकता। किन्तु संस्कार सर्जना की भूमिका के सभी भागीदार होते हैं।

### संस्कारों का 'सु' और 'कु' रूप

संस्कार सर्जना की प्रक्रिया तो सबके साथ सर्वदा चलती ही रहती है किन्तु आत्म-जागरूकता का तकाजा यह होता है कि प्रतिक्षण बनने वाले संस्कारों के स्वरूप पर ध्यान केन्द्रित रखा जाये। इस एकाग्र ध्यान की सावधानी यह होनी चाहिये कि जो भी संस्कारों का निर्माण अथवा पारस्परिक आदान-प्रदान हो उसमें 'कु' का प्रवेश न होने दें तथा उन्हें 'सु' का रूप प्रदान किया जाता रहे।

संसार में विभिन्न तत्त्वों के सद् और असद् स्वरूप के समान संस्कारों का भी सद् अथवा असद् स्वरूप होता है। सद् और असद् की वही कसौटी है जो सब स्थानों पर आजमायी जाती है। सद् वह जो आत्मस्वरूप का उसकी शुद्धता में विकास करे तथा असद् वह जो उसके वर्तमान स्वरूप को अधिक अशुद्ध बनावे। आत्मस्वरूप कहिये या जीवन का स्वरूप कहिये—एक ही बात है। क्या अच्छा होता है और क्या बुरा—यह अपने-अपने ज्ञान के अनुसार अपनी अन्तरात्मा के निर्णय से सभी पहचानते हैं। क्योंकि यह अपने स्वयं के अनुभव की बात होती है। इस कारण संस्कारों के 'सु' और 'कु' रूपों को सामान्य रूप से पहचान लेना कठिन नहीं होता है। ज्यों-ज्यों बुद्धि को अधिक प्रखर तथा ध्यान को अधिक केन्द्रित बनाते जायेंगे, त्यों-त्यों 'सु' और 'कु' की सूक्ष्मता का भी परिचय होता जायेगा।

संस्कार-सर्जना के संदर्भ में 'सु' और 'कु' के रूपों को पहचानना, उनके अन्तर का अनुमान लगाना तथा 'कु' का 'सु' में रूपान्तरण करते रहना सतत प्रक्रिया के रूप में चालू रहना चाहिये। संस्कार दे रहे हैं तब भी वही सजगता और संस्कार ले रहे हैं तब भी वही सजगता रहनी चाहिये। कारण, संस्कार मुख्य नहीं, उनके 'सु' स्वरूप की ही प्रधानता होती है। असद् संस्कार तो दोनों पक्षों को भारी क्षति पहुँचाते हैं अतः प्रत्येक आत्मा की प्रतिपल यह सतर्कता होनी चाहिये कि विषय-कषाय वश अथवा प्रमाद वश कभी भी कोई कुसंस्कार न तो अपने जीवन की वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों में प्रवेश करे और न ही अपनी ओर से अपना कोई कुसंस्कार अपने से संस्कार ग्रहण करने वाले के जीवन में डाला जाये। जब सत्संस्कारों के ग्रहण और आदान-प्रदान की सजगता सक्रिय बन जायेगी तो उस समय समग्र वातावरण में सद्गुणों का प्रभाव इस प्रकार

प्रकाशित होता जायेगा जिस प्रकार एक दीपक की ज्योति से दूसरे दीपक और इस प्रकार सैकड़ों, हजारों, लाखों दीपकों की बातियाँ प्रज्वलित करके सारे वातावरण को प्रकाशमय बना दिया जाता है।

### सुसंस्कारों से ही वर्तमान और भविष्य की श्रेष्ठता

सुसंस्कारों के आरोपण और प्रत्यारोपण से न सिर्फ आत्मस्वरूप और जीवन का वर्तमान ही परिष्कृत होकर विशुद्ध बनता है, बल्कि उस विशुद्ध वर्तमान की सुन्दर पृष्ठभूमि पर समुन्नत भविष्य का सहज निर्माण हो जाता है। इस कारण यह मान लिया जाना चाहिये कि सुसंस्कारों से ही वर्तमान और भविष्य की श्रेष्ठता प्रतिस्थापित होती है तथा वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में सुसंस्कृति ढलती है।

यह भी समझ लीजिये कि संस्कृति क्या होती है? संस्कार से ही संस्कृति शब्द बना है। जो संशोधित रूप से किया जाता है वह संस्कार और जो संशोधित कृति बन जाती है, उसी का नाम संस्कृति बन जाता है। संस्कार सर्जना की पारम्परिक प्रक्रिया से ही संस्कृति का निर्माण होता है तथा विभिन्न देश-काल में जो इस तरह का विविधात्मक निर्माण होता है उसीसे विभिन्न प्रकार की संस्कृतियाँ सामने आती हैं। धारावाहिक सामूहिक जीवन के वर्तन से ही संस्कृति की स्थापना होती है तो उसी की एकरूपता से उस संस्कृति का प्रवाह स्थायी रूप लेता है।

इस दृष्टि से सुसंस्कार सर्जना का सत्पुरुषार्थ किसी एक या कुछ व्यक्ति अथवा किसी एक देश और काल से ही सम्बन्धित नहीं होता बल्कि वह संस्कृति का रूप धर कर सार्वदेशिक, सार्वजनिक और सार्वकालिक हो जाता है। इसी कारण वह वर्तमान और अनन्त भविष्य के साथ सम्बद्ध भी बन जाता है। अतः इस पुनीत पुरुषार्थ का महत्त्व अमूल्य माना जाना चाहिये।

वर्तमान में अपने एवं सभी सम्पर्कगत के जीवन तथा भविष्य की कई पीढ़ियों से सीधे रूप में सम्बन्धित होने व रहने के कारण सुसंस्कार-सर्जन के सत्पुरुषार्थ को प्रत्येक जागरूक आत्मा अपना अति गंभीर दायित्व माने। दायित्व कर्तव्य से ऊँचा होता है—यह ध्यान में रहे।

### सुसंस्कार निर्माण का प्रथम स्रोत

मानव जीवन का प्रारंभ उस जीवात्मा के अपनी माता के गर्भ में प्रवेश करते ही हो जाता है किन्तु संस्कार ग्रहण करने का उसका सामर्थ्य तब उत्पन्न होता है

जब गर्भ में शरीर की समुचित रचना पूरी हो जाती है। इस समय सुसंस्कार निर्माण का प्रथम स्रोत उस गर्भस्थ बालक की अपनी माता से शुरू होता है यानी कि बालक माता की प्रत्येक प्रकार की वृत्ति अथवा प्रवृत्ति की छाप अपने मन पर उकेरता है और उसे स्थायित्व देता जाता है। यह नहीं है कि माता के सिवाय माता के सम्पर्क में आने वाले अन्य व्यक्तियों अथवा वातावरण का उस पर प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु वह प्रभाव भी माता के प्रथम स्रोत के माध्यम से ही भीतर पहुँचता है। अतः प्रारंभ में माता का ही संस्कार दान के सम्बन्ध में प्रधान दायित्व होता है।

जब एक नये जीवन के श्रेष्ठ निर्माण के सम्बन्ध में माता का इतना व्यापक और प्रभावशाली दायित्व होता है तो यह भी समझने की बात है कि माता को अपना स्वयं का जीवन कितनी श्रेष्ठता में ढालना चाहिये तथा उसे अपने निकट के व्यक्तियों के सदाचरण के सम्बन्ध में भी कितनी जागृति रखनी चाहिये। आस-पास के वातावरण की शुद्धता का भी उसे पूरा ध्यान होना चाहिये जब वह गर्भवती हो।

सही अर्थों में देखें तो गृहस्थ धर्म भी एक साधना रूप ही होता है। वह साधना होती है अपने और अपने परिवार जनों के श्रेष्ठ निर्माण की तथा उस निर्माण से आस-पास के समूचे वातावरण को भी श्रेष्ठ बनाने की। इसी साधना का मुख्य अंग होता है नया जन्म लेने वाली आत्माओं में संस्कारों की सर्जना, क्योंकि उसमें प्रारंभ से लेकर अन्त तक के जीवन का नव निर्माण होता है। यदि प्रारंभ में ही सुसंस्कारों का आरोपण गहराई से हो जाता है तो वह उभरने और ढलने वाला नया जीवन अपनी सम्पूर्ण क्रिया-प्रक्रियाओं में नैतिक होगा, सद्गुणों से संयुक्त होगा तथा दुःखितों एवं पीड़ितों का सच्चा सहायक होगा। और यदि इस प्रकार से कई जीवनों का ऐसा श्रेष्ठ निर्माण होता चला जाता है तो उससे परिवार, समाज, राष्ट्र और समूचे संसार तक में श्रेष्ठता का वातावरण बनता है और मानव जाति में पारम्परिक सहानुभूति एवं सहयोग से उन्नायक सभ्यता एवं संस्कृति की रचना होती है।

जिस देश, भूभाग अथवा कालखंड की सभ्यता और संस्कृति ऊँची उठती है, तब-तब वहाँ की समस्याओं के सुन्दर समाधान निकल आते हैं और सुख व शान्ति का सर्वत्र संचार होता है।

इस रूप में सुसंस्कार निर्माण कितना महान् और भगीरथ कार्य होता है इसकी कल्पना आसानी से की जा सकती है और इसका स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम स्रोत के रूप में इसकी माता पर कितनी गंभीर जिम्मेदारी होती है। यह जिम्मेदारी कि एक माता को शुरू से अपने जीवन में किन-किन

अच्छाइयों को अपनाकर तथा किन-किन बुराइयों को छोड़कर अपने संस्कारों की प्रदान शक्ति का शुद्ध और प्रभावशाली रूप गढ़ते जाना चाहिये तथा अपने परिवार व आस-पास के वातावरण को इसी दृष्टि से सुदृढ़ बनाते जाना चाहिये।

### नवजात बालक की संस्कारिता

नवजात बालक की तीन वर्ष की आयु तक यह मुख्य प्रवृत्ति रहती है कि वह अपने मन और इन्द्रियों की शक्ति से अधिकाधिक ग्रहण करने को उत्सुक रहता है। ग्रहण शक्ति तो बाद में भी कार्यरत रहती है लेकिन उसकी उग्रता में फिर कमी आ जाती है। इस प्रबल ग्रहण शक्ति के समय में जितना अच्छा उसके देखने, सुनने और अनुभव करने में आयेगा, उतना ही वह अच्छा ग्रहण करेगा यानी कि वह उसके लिये सुसंस्कारों की भूमिका बन जायेगी।

नवजात बालक की संस्कारिता इस रूप में श्रेष्ठ रीति से स्थापित हो सकेगी कि उस के हृदय में अधिकाधिक सद्गुणों का समावेश हो जो ठेठ तक उसके जीवन व्यवहार को सुन्दर मार्गदर्शन देते रहें। इसके विपरीत यदि उसके सम्पर्क और वातावरण में अहंकार, काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि के कृत्यों का बाहुल्य रहेगा तो वह उन दुर्गुणों के प्रति आकृष्ट हो जायेगा तथा उन दुर्गुणों के संस्कार उसके भावी जीवन को भी दुर्गुणमय बना देंगे। इसलिये नवजात बालक को ऐसे संस्कार और ऐसा वातावरण दिया जाना चाहिये कि उसके मन में नम्रता, कोमलता, सरलता, शुद्धता आदि के संस्कार जमे और उनके विस्तार से उसका भावी जीवन स्व-पर कल्याण का कारणभूत बने।

दया की आर्द्रता और करुणा की कोमलता के बिना जीवन का मधुर विकास नहीं हो पाता है। पानी चाहे कितना ही बरसे लेकिन चिकनी चट्टानों पर उसकी एक बूंद भी ठहर नहीं पाएगी, इसी प्रकार क्रूर और निर्दय वृत्ति वाले हृदयहीन एवं करुणाहीन होते हैं—उनके चिकने दिल पर सद्गुणमय उपदेश का एक भी वचन नहीं ठहरता है। अतः बालक के हृदय पर प्रारंभ से दया और करुणा के मृदु संस्कार अवश्य डाले जाने चाहिये। यह ध्यान में रखें कि पानी को ग्रहण करने की क्षमता मिट्टी में होती है। और पानी की सरसता मिलने पर उसी मिट्टी से नानाविध खाद्य पदार्थों का उत्पादन होता है। इस मिट्टी के समान ही मानव मन में कोमलता बसनी चाहिये। कोमलता होगी तो दयालुता और विनम्रता अवश्य आ जायेगी। और इन सद्गुणों की आपूर्ति से जीवन में ममता घटेगी तथा समता बढ़ेगी।

जीवन जब सुसंस्कार सम्पन्न एवं सद्गुणमय होगा तो वह जिनेश्वर देव के चरणों में अवश्य समर्पित होगा और अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने के



लिये अवश्यमेव पुरुषार्थरत बनेगा। उस जीवन के कण-कण में सम्यक्त्व रमेगा तो समत्व का समरस सब ओर व्याप्त रहेगा। चाहे उस जीवन के समक्ष शत्रु भी आ जाये अथवा अन्य किसी भी विपदा उपस्थित हो जाये तब भी उसके विचार और व्यवहार में कभी भी विषमता की झलक मात्र भी नहीं आवेगी। ऐसा ही सम्यक् जीवन सफलता के उच्चतम शिखर पर आरूढ़ हो सकता है तथा नवजात बालक की सुसंस्कारिता का जीवन्त प्रमाण बन सकता है।

### सुसंस्कारिता का दिव्य प्रमाण

अन्तगड़ सूत्र के अन्दर अनेक दिव्य पुरुषों का वर्णन आता है। उन्हीं में से एक गजसुकुमार का आदर्श त्यागमय जीवन उनकी सुसंस्कारिता का दिव्य प्रमाण ही कहा जा सकता है। उन्होंने न्यूनतम समय में अपने समस्त कर्मों का नाश करके अपने श्रेष्ठतम जीवन का निर्माण किया था तथा उस रूप में एक अनुपम आदर्श प्रस्थापित किया था।

वर्तमान समय में जनजीवन का जिस प्रकार का रूपक चल रहा है, वैसे जनजीवन में गजसुकुमार जैसी शक्यता कैसे आ सकती है? यह दुर्लभ मानव जीवन छोटा-सा होता है, कर्मों के पहाड़ को काटने का कार्य अति विशाल होता है। फिर भी इस जीवन में जो शक्तिमय उपलब्धियाँ प्राप्त हैं, यदि उन्हें अनावृत करने का सत्पुरुषार्थ किया जाये तो जीवन विकास में शीघ्रता आ सकती है। इसके साथ ही आचार विचार में जो उपाधियाँ एवं भौतिकता के कारण अहंकार का चारों ओर फैलाव हो जाता है, उस अहंकार को विवेक के साथ समाप्त किया जा सकता है। शास्त्र श्रवण से इन भौतिक साधनों की निरर्थकता एवं विकृतता का ज्ञान होगा एवं समतामय आचरण के विकास में धन, सम्पत्ति, पद, परिवार, अधिकार आदि अहंकारी प्रवृत्तियों की समाप्ति की जा सकेगी।

एक सुसंस्कारित जीवन में यह क्षमता उत्पन्न ही नहीं होती बल्कि पुष्ट हो जाती है कि कोई गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी नीति और न्याय का अडिग पालन कर सके। कर्मयोगी श्रीकृष्ण वासुदेव की माता देवकी रानी के जितने भी पुत्र थे, वे सभी अपनी सुसंस्कार-प्रदाता माता के यश के वाहक थे। श्रीकृष्ण का जीवन भी माता द्वारा प्रदत्त सुसंस्कारों का दिव्य प्रमाण था कि उन्हें तीन खंड का स्वामित्व मिल जाने के बाद भी लेशमात्र अभिमान नहीं था। उनका जीवन नम्र, कोमल, मधुर तथा सम्यक् व साम्यभाव से परिपूर्ण था। वे प्रतिदिन प्रातःकाल अपनी माता के चरण स्पर्श करने के लिये उसके कक्ष में जाया करते थे। अपने अग्रजों को नमस्कार करना तथा उनसे आशीर्वचन प्राप्त करना

बड़े सौभाग्य की बात मानी जाती है। नमस्कार के रूप में नतमस्तक होने से अहंकार नष्ट होता है। अहंकार नष्ट होता है तो विनम्रता आती है। अहंकार नष्ट होता है तो क्रोध नष्ट होता है और जीवन में सरलता का समावेश हो जाता है। इसलिये नमस्कार में बहुत बड़ी शक्ति होती है।

एकबार सदा की तरह श्रीकृष्ण अपनी माता के कक्ष में गये और उन्होंने चरण स्पर्श करते हुए नमस्कार किया तो ऐसा प्रतीत हुआ कि माता सदा की तरह प्रसन्न नहीं है। उन्होंने नम्रता से पूछा—माता, आपको क्या कष्ट है जिससे उदास दिखाई दे रही हैं? तब देवकी ने अपने मन का सारा कष्ट श्रीकृष्ण को सुना दिया कि पहले के छः पुत्रों को तो वह स्तनपान करा कर उनकी बाल क्रीड़ाओं का आनन्द न ले सकी सो तो ठीक, लेकिन स्वयं श्रीकृष्ण को भी वह स्तनपान करा कर उनकी बाल क्रीड़ाएं नहीं देख सकी जिससे उसका मातृ-हृदय खेदग्रस्त बना हुआ है। श्रीकृष्ण हंसे और बोले—वाह माँ, इस खेद का क्या—मैं इसे एक क्षण में दूर कर दूंगा। वे तो वैक्रिय शक्तियों के धनी थे, तुरन्त पर्दे की ओट में गये और अपना बाल रूप धारण करके वापस लौट आये। फिर माँ को सन्तोष देने की भावना से दूध पीने की मांग करने लगे तो तरह-तरह की बाल लीलाएँ भी दिखाने लगे। माँ भी अपने लाल के बाल रूप में ऐसी खो गई कि जो आनन्द उसे तब तक नहीं मिला था, उस आनन्द का अनुभव अब अलौकिक लग रहा था। वह तो श्रीकृष्ण की माया थी, माँ का मन प्रसन्न करके वे अपनी माया समेट कर राज काज में लग गये। किन्तु एक तथ्य जो इससे प्रकट होता है वह यह है कि माता के सुसंस्कार दान की प्रभाविकता उसकी सन्तान के सम्पूर्ण जीवन में छाया हुई रहती है। माँ और पुत्र की वास्तविक एकरूपता सुसंस्कारिता में ही जीवित रहती है।

उस बाल लीला में ही श्रीकृष्ण को अपनी माता के मुख से इस तथ्य का ज्ञान होता है कि उन्हें कुल आठ पुत्र होंगे। अपने से बड़े छः पुत्रों का परिचय पाने की अभिलाषा श्रीकृष्ण को हुई पर वे यह जान गये कि दीक्षित हो जाने के कारण वे उनके साथ आकर तो रह नहीं पायेंगे। लेकिन अपने छोटे भाई के सम्बन्ध में जानने की तीव्र इच्छा से वे पोषध शाला में गये और हिरणगमैषी देव को बुलाने के लिये तेल धार कर बैठ गये। देव उपस्थित हुआ और उसने यह जानकारी दी कि आपके एक छोटा भाई तो होगा किन्तु यौवन की देहरी पर पांव रखते ही वह दीक्षित हो जायेगा। तपश्चर्या का ऐसा अद्भुत प्रभाव होता है कि यदि चित्त की एकाग्रता और शुद्धता के साथ तेल की तपस्या भी की जाय तो सेवा में देवता चले आते हैं। आज भी भाई-बहिनें अठाई और मासखमण से भी बढ़-चढ़ कर तपस्याएँ करते हैं किन्तु क्या कारण है कि उनकी प्रभावकता

अलौकिक रूप से प्रकट नहीं हो पाती है। इस प्रसंग से अपने चित्त की एकाग्रता एवं विशुद्धता के सम्बन्ध में विचार और आलोचना करने की आवश्यकता है।

### गजसुकुमार के आदर्श सुसंस्कार

यथा सुकुमार देवकी रानी अपने आठवें पुत्र गजसुकुमार को जन्म देती है। और यथासमय वे अपने यौवन की देहरी पर पांव रखते हैं। उस समय भगवान् अरिष्टनेमि का उस नगर में पदार्पण हुआ। श्रीकृष्ण वासुदेव अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ भगवान् के दर्शन करने के लिये निकले तो उन्होंने गजसुकुमार को भी बुला लिया। देशना के बाद श्रीकृष्ण अपने परिवार के साथ वापस लौट आये किन्तु उस समय गजसुकुमार भगवान् की सेवा में बैठे हुए थे अतः उन्हें वे वहीं छोड़ आये।

जब गजसुकुमार अपने स्थान पर लौटे तो उनका हृदय वैराग्य रस में हिलोरें मार रहा था। आते ही उन्होंने अपने अग्रजों के समक्ष दीक्षा ग्रहण करने के अपने भाव प्रकट किये। श्रीकृष्ण आदि सबने उन्हें बहुत समझाया कि इतनी छोटी आयु में दीक्षा लेने का विचार छोड़कर वे राज सिंहासन पर बैठने की तैयारी करें। किन्तु वे किसी भी तरह नहीं माने।

यह गजसुकुमार की आदर्श सुसंस्कारिता का ही सुफल था कि वे दीक्षित ही नहीं हुए बल्कि दीक्षा के पहले ही दिन कठिनतम भिक्षु प्रतिमा को धारण करने की अनुमति प्राप्त करके श्मशान में रात्रिकाल के समय ध्यानस्थ खड़े हो गये। उस समय सोमिल ब्राह्मण ने इस कुविचार के साथ कि इसके साथ मेरी पुत्री का सम्बन्ध होने वाला था और यह तो दीक्षित हो गया है, उनके मस्तक पर मिट्टी की पाल बांधकर धधकते अंगारे रख दिये। उस अपार कष्ट को शान्तिपूर्वक सहन करके वे एक दिन की दीक्षा में ही मोक्षगामी हो गये। जीवन के चरम लक्ष्य की पूर्ति इस सुसंस्कारिता से हो सकती है।

इसलिये इस मानव जीवन को सुसंस्कारित बनाने के लिये सभी को कठिन प्रयास करना चाहिये क्योंकि एक बार सुसंस्कारित जीवन की परम्परा डाल दी जायेगी तो उस परम्परा में आने वाली कई पीढ़ियाँ अपने जीवन निर्माण में सहजतापूर्वक प्रवृत्त हो सकेंगी। इस कारण एक बार संकल्पपूर्वक इस शुभ कार्य को सफल बनाने में सबको मन, वाणी और कर्म से जुट जाना चाहिये। सुसंस्कार-सर्जना एक पवित्रतम दायित्व है।

## 5

## मोह मदिरा त्यागें

अनन्त जिनेश्वर नित नमूं...

आज पर्युषण महापर्व का पांचवां दिन है। इन पांच दिनों में भव्य आत्माओं ने धर्म की भावना से आन्तरिक चिन्तन किया होगा। इस चिन्तन के फलस्वरूप उन्होंने अपने आत्म लक्ष्य की ओर मुड़ने के लिये सार्थक भूमिका भी बनायी होगी। कोई छोटा-बड़ा भवन बनाना हो तब भी कुशल कारीगर की राय से उसकी रूपरेखा निश्चित की जाती है ताकि वह भवन आवश्यक सुविधाओं के साथ निर्मित किया जा सके। उसी प्रकार आत्मा के स्थायी निवास हेतु संयम और त्याग का भवन बनाना है तो आप किनका परामर्श लेंगे? और किनके वचन आपका सफल मार्गदर्शन करेंगे? यह सब आपने अपने गूढ़ आत्मिक चिन्तन में अवश्य सोचा होगा।

## आत्मस्वरूप का विस्तार कैसे?

इस विचित्र संसार में यह चैतन्य देव कुछ पथ विभ्रम-सा लगता है। इसको निज स्वरूप का विस्तार करना चाहिये अपनी गहन आन्तरिकता में, किन्तु यह तो अपने भटके मन और लोलुप इन्द्रियों के वश में पड़कर बाहर की दुनिया में अपना विस्तार कर रहा है। सभी प्रकार के बाहरी भौतिक पदार्थों में अपनी अभिरुचि को फैला रहा है तो सारे नाशवान तत्त्वों के प्रति मोहग्रस्त बन कर मदिरा पान जैसी विक्षिप्तता में अचेतन-सा बना हुआ है। लेकिन वास्तविकता यह है कि इन चर्म चक्षुओं से दिखाई देने वाले पदार्थ इस आत्मा के अपने स्वरूप तथा स्वभाव के अनुरूप नहीं हैं। इन पदार्थों के स्वभाव तथा आत्मा के स्वभाव में पूर्ण रूप से भिन्नता होती है। मोह-मदिरा के दुष्प्रभाव से बाह्य रूप से आकर्षक इन पदार्थों की लालसा बलवती बनती है और वह यथार्थ आत्मस्वरूप को आच्छादित कर देती है। इसी के परिणाम स्वरूप आन्तरिक संघर्ष, दुःख-द्वन्द्वों का विस्तार तथा विग्रह का कटु वातावरण चारों ओर दिखाई देता है।

आज भौतिकता एवं पदार्थ मोह के ऐसे घटाटोप अंधकार में ही आत्मस्वरूप को खोजने व पहचानने की समस्या है तो उसे पहचान कर विस्तारित बनाने का प्रश्न सभी विचारवान पुरुषों के समक्ष खड़ा हुआ है। आत्मस्वरूप के विस्तार से ही आत्मचेतना का प्रसार होगा एवं आत्म समानता के अनुभव का उदय।

पर्युषण पर्व के इन दिनों में भव्य एवं दिव्य पुरुषों के जीवन वृत्त सुनाये जा रहे हैं जिनसे आत्मस्वरूप के विस्तार की विधियाँ ज्ञात होती हैं तो आत्म-लक्ष्य की ओर बढ़ते जाने की अनुपम प्रेरणा। इस कारण इन जीवन वृत्तों को कान की सीमाओं तक ही बंधे हुए न रहने दें, अपितु उन्हें अपने हृदय के अन्तस्तल तक पहुँचावें। जब श्रोता गण इन जीवन वृत्तों के आदर्शों पर सम्यक् भाव से चिन्तन करेंगे और उन पर आचरण करने का संकल्प बनावेंगे तो उन्हें अपने आत्मस्वरूप की प्रतीति भी होने लगेगी। यह जागृत प्रतीति ही समग्र जीवन के रूपान्तरण की साधिका होगी।

### परिवर्तनशीलता और शाश्वतता

इस संसार के धन-वैभव, सम्पत्ति आदि समस्त भौतिक पदार्थ परिवर्तनशील होते हैं क्योंकि वे नाशवान होते हैं। यह शरीर भी जड़ तत्त्वों से निर्मित होने के कारण परिवर्तनशील और नाशवान वर्ग में ही आता है। यह दूसरी बात है कि एक जागृत आत्मा अपने शरीर के साथ मोह बंध न रखते हुए भी इसका धर्म साधन के सबल माध्यम के रूप में सदुपयोग कर सकती है। शरीर और आत्म तत्त्व की दृष्टि से ही परिवर्तनशीलता तथा शाश्वतता की व्याख्या की जा सकती है कि जो परिवर्तनशील होता है वह जड़ तत्त्व होता है जबकि आत्म तत्त्व की शाश्वतता एक सत्य होती है। आत्मा कभी नहीं मरती, अमर थी, है और सदा अमर रहेगी। उसका स्वरूप अनश्वर होता है।

नश्वर होता है जड़ तत्त्व जो प्रतिपल अपने स्वरूप की दृष्टि से परिवर्तित होता रहता है—सड़ता, गलता और नष्ट होता रहता है। कोई भी पुद्गलों का स्कंध एकरूप नहीं रह सकता है—चाहे वह पदार्थ कितना ही मजबूत क्यों नहीं दिखाई देता हो। असंख्य काल के बाद भी हो पर पौद्गलिक पदार्थ का विनाश निश्चित होता है। किन्तु इन सारे नाशवान पदार्थों के बीच में भी एक शक्तिशाली तत्त्व है जिसका द्रव्य स्वरूप कभी परिवर्तित नहीं होता है। यही शाश्वत तत्त्व रूप आत्मा होती है। सारे संसार के अन्दर सभी पदार्थों का बिगड़ना, बनना, परिवर्तित होना, नष्ट होना आदि जड़ तत्त्व के अनुरूप स्वाभाविक है। किन्तु यह आत्म तत्त्व कभी भी विनष्ट नहीं होता है।

अकसर आप लोग देखते होंगे कि आकाश में बादल मंडराया करते हैं। इस स्थित भाव से देखा जाये तो मालूम होगा कि उन बादलों का आकार-प्रकार प्रतिक्षण बदलता जा रहा है। ये ही बादल घनीभूत होकर श्यामवर्णी हो जाते हैं तो जलधारा की वर्षा करते हैं। इसी से इनकी परिवर्तनशील अवस्था का बोध होता है। मेघ समूह कभी एक रूप में दीर्घ काल तक नहीं रह सकता है।

सम्पूर्ण संसार के स्वरूप का संक्षिप्तीकरण किया जाय तो उसका समावेश छः द्रव्यों में हो जाता है। यह संसार षड् द्रव्यमय है और इन्हीं छः द्रव्यों की परिभाषा से परिवर्तनशीलता एवं शाश्वतता का स्वरूप या यों कहिये कि जड़ तत्त्व एवं आत्म तत्त्व का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

### षड् द्रव्य विवेचन सार

गुण और पर्यायों के आधार को द्रव्य कहा गया है। द्रव्य वह जो अपनी गुणवत्ता के साथ उत्तरोत्तर पर्यायों को प्राप्त होता हो। ये द्रव्य छः माने गये हैं—

1. धर्म द्रव्य—जो पुद्गल और जीवों की गति में सहायक हो। धर्मास्तिकाय के चार गुण बताये गये हैं—अरूपिता, अचेतनता, अक्रियता एवं गति-सहायता। इसकी चार पर्यायें होती हैं—स्कंध, देश, प्रदेश तथा अगुरुलघु। प्रत्येक द्रव्य के समान इस धर्म द्रव्य में भी आठ पक्ष होते हैं—नित्य, अनित्य, एक, अनेक, सत्, असत्, वक्तव्य और अवक्तव्य। धर्मास्तिकाय के चारों गुण और एक लोकपरिमाण स्कंध रूप पर्याय नित्य है। इसकी शेष तीन पर्यायें अनित्य होती हैं। इसका लोक परिमाण स्कंध एक है तो गुण, पर्याय एवं प्रदेश असंख्यात है। छहों द्रव्यों के अनुरूप धर्मास्तिकाय भी स्व द्रव्य, स्व क्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव से सत् अर्थात् विद्यमान है तथा पर द्रव्य, पर क्षेत्र, पर काल एवं पर भाव की अपेक्षा से असत्-अविद्यमान है। धर्मास्तिकाय का स्व द्रव्य होता है अपने गुण व पर्यायों के आश्रित होना अर्थात् धर्मास्तिकाय के गुण-पर्याय जिसमें रहते हों वह धर्मास्तिकाय का स्वद्रव्य है। उसका स्वक्षेत्र अपने-अपने असंख्यात प्रदेश हैं और अगुरुलघु पर्याय स्वकाल है। उसका अपना मुख्य गुण उसका स्वभाव है। धर्मास्तिकाय का मुख्य गुण है गति सहायता। वक्तव्य वह जो वचन से कहा जा सके तथा जो वचन से न कहा जा सके—वह अवक्तव्य है। छःहों द्रव्यों के समान धर्म द्रव्य में भी अनन्त गुण और अनन्त पर्याय अवक्तव्य भी हैं। केवली भगवान् सर्व द्रव्य एवं पर्यायों को देखते हैं लेकिन उनका अनन्तवाँ

भाग ही कह सकते हैं। उन के प्रदत्त ज्ञान का अनन्तवाँ भाग उन आगमों का भी असंख्यातवाँ भाग इस समय में विद्यमान है। इस प्रकार वक्तव्य एवं अवक्तव्य का स्वरूप मानना चाहिये।

2. अधर्म द्रव्य—जो जीव और पुद्गलों की स्थिति में सहायक हो। इस अधर्म द्रव्य के चार गुण—अरूपिता, अचेतनता, अक्रियता एवं स्थिति सहायता तथा चार पर्यायों धर्म द्रव्य की तरह ही स्कंध, देश, प्रदेश एवं अगुरुलघु हैं। उसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के भी आठ पक्ष होते हैं—लोक परिमाण स्कंध से एक है तो गुण, पर्याय और प्रदेश से अनेक। इसके भी चारों गुण और एक लोक परिमाण स्कंध रूप पर्याय नित्य है व शेष तीन पर्यायें अनित्य। सद्, असद् और वक्तव्य—अवक्तव्य भी धर्मास्तिकाय के समान ही है। स्व द्रव्य आदि का स्वरूप भी उसी प्रकार का बताया गया है।

3. आकाश द्रव्य—यह जीव और पुद्गलों को स्थान देने वाला द्रव्य होता है। आकाशास्तिकाय के चार गुण होते हैं—अरूपिता, अचेतनता, अक्रियता और अवगाहन—दान अर्थात् द्रव्य के समान ही इसकी चार पर्यायें होती हैं। आठों प्रहर में भी वैसी ही समानता है। स्व द्रव्य आदि का स्वरूप भी उसी प्रकार कहा गया है।

4. काल द्रव्य—जो जीव और पुद्गलों में अपरापर पर्याय की प्राप्ति रूप परिणमन करता रहता है। तदनुसार काल द्रव्य के चार गुण हैं—अरूपिता, अचेतनता, अक्रियता तथा वर्तना (नये को पुराना करना) एवं चार पर्याय हैं—अतीत (भूतकाल), अनागत (भविष्य काल), वर्तमान तथा अगुरुलघु। आठ पक्षों की दृष्टि से काल द्रव्य के चारों गुण नित्य है तो दूसरे गुण, पर्याय और समय अनेक समय हो गये और भविष्य काल के भी अनन्त समय होंगे। वर्तमान का समय एक ही रहता है। शेष चारों पक्षों में काल द्रव्य का स्वक्षेत्र समय है।

5. जीव द्रव्य—जीव द्रव्य उसे कहते हैं जिसमें ज्ञान, दर्शन रूप उपयोग हो। जीव द्रव्य के चार गुण होते हैं—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र एवं अनन्त वीर्य और चार पर्यायें—अव्याबाध, अनवगाह, अमूर्तिकाल एवं अगुरुलघु। जीव द्रव्य के चारों ओर तीन पर्याय नित्य है, केवल अगुरुलघु पर्याय ही अनित्य है। जीव अनन्त हैं, एक जीव में असंख्यात प्रदेश हैं और अनन्त गुण और पर्याय हैं। सर्व जीवों में जीवपना अर्थात् चेतना लक्षण एक समान होता है। निश्चय नय की अपेक्षा से सर्व जीव सिद्ध के समान हैं क्योंकि सब

जीव कर्म क्षय करके सिद्ध हो सकते हैं। जीव का स्वक्षेत्र एक जीव की अपेक्षा असंख्यात प्रदेश हैं। जीव द्रव्य में चार भागों का रूप इस प्रकार है, ज्ञान आदि गुण अनादि-अनन्त हैं—नित्य हैं। मोक्ष जाने वाले भव्य जीव के कर्म का संयोग अनादि-शान्त है क्योंकि कर्म अनादि से लगे हुए हैं किन्तु भव्य जीव के मोक्ष चले जाने पर उन कर्मों का सम्बन्ध बिल्कुल नष्ट हो जाता है। जीव जन्मान्तर करता हुआ कभी देवत्व, नरकत्व, मनुष्यत्व और तिर्यकत्व को प्राप्त करता है तो ये पर्यायें सादि शान्त होती हैं। उत्पत्ति भी होती है तो अन्त भी होता है। भव्य जीव कर्म क्षय करके जब मोक्ष पा लेता है। तो उसकी मुक्तत्व पर्याय उत्पन्न होने से सादि और उसका कभी अन्त न होने से अनन्त अर्थात् सादि-अनन्त है।

6. पुद्गल द्रव्य—जो रूप, रस, गंध और स्पर्श से मुक्त हो उसे पुद्गल द्रव्य कहते हैं। पुद्गलास्तिकाय के चार गुण—रूपिता, अचेतनता, सक्रियता और मिलन-बिखरण (मिलना और अलग होना या पूरण-गलन अर्थात् पूर्ति करना और गल जाना) होते हैं। इसकी पांच पर्याय होती है—वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और अगुरुलघु। आठ पक्ष की दृष्टि से पुद्गल द्रव्य के परमाणु अनन्त हैं और एक-एक परमाणु में अनन्त गुण और पर्याय हैं, किन्तु सर्व परमाणु में पुद्गलपना एक ही है। पुद्गल में चार गुण अनादि अनन्त हैं। पुद्गल के सब स्कंध सादि सान्त हैं और बाकी दो भंग पुद्गल में नहीं होते।

ये छः द्रव्य शाश्वत अर्थात् अनादि अनन्त हैं। इनमें से पांचों अजीव हैं, केवल जीव द्रव्य जीव है। जीव द्रव्य का लक्षण चेतना है तो उपादेय है, बाकी के पांचों अजीव द्रव्य देय (त्यागने योग्य) हैं।

निश्चय नय की अपेक्षा से छहों द्रव्य परिणामी अर्थात् परिवर्तनशील हैं। व्यवहार नय की अपेक्षा जीव और पुद्गल ही परिणामी हैं। शेष चारों अपरिणामी हैं। एक पुद्गल द्रव्य मूर्ति है—रूपी है, शेष पांचों अरूपी। एक काल द्रव्य अप्रदेशी है, शेष पांचों सप्रदेशी। धर्म, अधर्म, आकाश—ये तीन द्रव्य एक-एक है, बाकी पांचों क्षेत्राश्रित हैं। निश्चय नय से सभी द्रव्य सक्रिय हैं। व्यवहार नय की अपेक्षा से जीव और पुद्गल ही सक्रिय हैं।

सामान्य रूप से सभी द्रव्यों में छः सामान्य गुण होते हैं—अस्तित्व (सदा विद्यमान), वस्तुत्व (सामान्य विशेषात्मक स्वरूप), द्रव्यत्व (गुण पर्याय आधार), प्रमेयत्व (प्रत्यक्ष प्रमाण विषय), अगुरुलघुत्व (भारी या हलका होना) तथा प्रदेशत्व (प्रदेश-निरंश अंश सहित होना)।



### द्रव्य-स्वरूप समीक्षा

संक्षेप में षड् द्रव्यों के स्वरूप की समीक्षा करें तो धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल द्रव्यों को एक तरफ कर सकते हैं जो सभी को अपने विशिष्ट लक्षणों से प्रभावित करते हैं जैसे कि गति, स्थिति, समावेश या वर्तन में सहायता। इस प्रकार मुख्य रूप से शेष दो द्रव्य ही प्रभावकारी रह जाते हैं जो हैं—जीव द्रव्य एवं पुद्गल द्रव्य। सच पूछें तो ये दोनों ही द्रव्य संयुक्त होकर इस सारे संसार के कर्ता-धर्ता बने हुए हैं।

पुद्गल और जीव कहिये अथवा जड़ और चेतन—इन दोनों का संयोग ही नानाविध रचनाओं का कारणभूत है। जैसा कि कहा गया है कि इस संसार में इन चर्म चक्षुओं से जो कुछ भी दिखाई देता है, सब जड़ तत्त्व है। इस जड़ तत्त्व में जहां-जहां भी क्रियाशीलता दिखाई देती है, वह सब चेतन तत्त्व के कारण होती है। यह लकड़ी का पाटा सफा लड़ है जो इसमें स्वयमेव कोई क्रिया नहीं हो सकती है और जो जीवात्माएँ सिद्ध स्थिति में होती हैं वे सब अशरीरी होकर शारीरिक क्रियाओं से रहित होती हैं। अतः क्रियाशीलता का मुख्य स्थल वहीं रह जाता है जहां जड़ और चेतन का मिलन होता है।

जो जड़ और चेतन का मिलन इस संसार में होता है उसी का नाम जीवन है। जैसे मनुष्य जीवन को ही ले लें। आत्मा जो है वह चेतन तत्त्व है तथा यह चेतन तत्त्व जिस शरीर में निवास कर रहा है वह जड़ तत्त्व है। जब तक दोनों द्रव्यों का संयोग है तब तक जीवन है, अन्यथा मृत देह पूर्णतः जड़ तत्त्व होकर नष्ट कर दी जाती है। यह सब कार्य सम्पन्नता, शक्ति का प्रयोग अथवा क्रिया-प्रतिक्रियाएँ जीवन द्वारा ही संभव होती हैं।

जीवन संचालन के क्रम में जो कुछ सोचा, बोला या किया जाता है उसका फलाफल चेतन तत्त्व को भुगतना होता है तथा उस फल भोग का माध्यम भी जड़ तत्त्व होता है। यही कर्म सिद्धान्त है। चेतन तत्त्व मूल रूप में पूर्ण विशुद्ध होता है किन्तु जब उसका जड़ तत्त्व (शरीर) के साथ संयोग होता है और वह अन्य जड़ तत्त्वों (रूप, रस, गंध, स्पर्श) के आकर्षण में आबद्ध होता है तो वह उस मोह ग्रस्तता के कारण अपने आत्मस्वरूप को अशुद्ध बनाता रहता है। अशुद्धता होती है पाप कर्मों की। ये कर्म भी कार्माण वर्गणा के पुद्गल ही होते हैं जो आत्मस्वरूप पर आवरणों की तरह छा जाते हैं। पाप कर्म अशुभ फल देते हैं तो पुण्य कर्म शुभ फल किन्तु आत्मा का चरम लक्ष्य यही माना गया है कि वह जड़ तत्त्व के संयोग को पूरी तरह समाप्त कर ले अर्थात् चेतन तत्त्व

शरीर बंधन से भी मुक्त हो जाय तथा कर्म बंधन से भी। चेतन तत्त्व अपने मूल स्वभाव में चला जाय यही उसका मोक्ष है।

अब इस द्रव्य स्वरूप समीक्षा का सार यह है कि यह चैतन्य देव अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करे यानी कि अपने जड़ संयोग को सम्पूर्णतः समाप्त कर दे। इस लक्ष्य को इस दृष्टि से गंभीरतापूर्वक समझना है कि जब अन्ततोगत्वा इस आत्मा को जड़ पदार्थों के संयोग से सर्वथा विलग होना है तो फिर उस कारण को ही ढूंढना पड़ेगा जो इस विलगाव को प्रतिबाधित करता है। चेतन और जड़ तत्त्व को जो आपस में जोड़े हुए है या कि बांधे हुए है वह है दोनों के बीच का मोह सम्बन्ध। यह वह रस्सा है जिसे काटे बिना चेतन तत्त्व का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं हो सकता है। फिर मोह भी मदिरा की तरह होता है जो विचार एवं विवेक सम्पन्न आत्मा की बुद्धि और विवेक शक्ति का हरण कर लेता है। मोह के वशीभूत होकर ही आत्मा अशक्त और असमर्थ हो जाती है—अपना आपा खो देती है। अतः यदि आत्म-जागरण की कोई समस्या है तो वह चेतन तत्त्व का जड़ तत्त्वों के प्रति जुड़ाव है।

### मोह रूपी मदिरा का त्याग

इस पूर्ण समर्थ मानव जीवन में भी आत्मा की मोहग्रस्त बुद्धि में जागरण नहीं आया तो फिर ऐसा कब होगा? संसार के भव भ्रमण के चक्र में फिर तो यह आत्मा भ्रमित होती ही रहेगी और उसके विकास की उसके चरम लक्ष्य की पूर्ति की संभावनाएँ क्षीण हो जायेंगी। इसलिये आत्म विकास का जागरण और उन्नयन इसी जीवन में साधना चाहिये। मूल में यह मोह-मूर्च्छा से जागना है और चेतन को अपने लक्ष्य के प्रति चेताना है।

भौतिक विज्ञान के इतने विकास के बाद में भी वे तत्त्व संसार के सम्मुख नहीं आ सके हैं जिन पर तीर्थंकर देवों ने पहले ही प्रकाश डाल दिया है। षड्-द्रव्यों का विश्लेषण उन्हीं के मुख से उद्भूत हुआ है तथा मोह के सांघातिक प्रभाव का उन्होंने उल्लेख किया है। यह भी उन्हीं का मार्गदर्शन है कि इस मोह कर्म का सर्वथा विनाश करने पर जड़ तत्त्वों से यह चेतना विमुक्त होकर सिद्ध हो सकती है।

जो भव्य आत्मा इस मार्गदर्शन को ग्रहण करती है, वह नाशवान जड़ पदार्थों के मोहक आकर्षण से दूर हटेगी—नये मोह से असम्पर्कित रहेगी तथा पुराने जमे हुए मोह को विगलित करेगी। जड़ वस्तुओं में मोह इतना घातक होता है कि वह आत्म विकास को अवरुद्ध बना देता है। आप प्रत्यक्ष देखते

होंगे कि मदिरा पान से व्यक्ति की समझ और ताकत दोनों गायब हो जाती है। कहां जाना है इसका उसे भाव नहीं रहता तो चलने मात्र से उसकी टांगें जवाब दे देती हैं। अधिकतर मदिरा पान का यही नतीजा सामने आता है कि शराबी गटर में गिरा हुआ दिखाई देता है। यह सामान्य मदिरा का असर होता है तो मोह रूपी मदिरा तो भयंकर व तेज असर करने वाली होती है जो आत्मा के विवेक को आच्छादित बनाकर उसकी प्रगति शक्ति को ही अवरुद्ध कर देती है। मोह मदिरा में डूबी हुई आत्मा समझ नहीं पाती कि वह क्या करे और जब यह कुछ समझने लगती है तो मोह के वरण से फिर संज्ञाहीन हो जाती है।

इसलिये आत्म पतन के मूल कारण को मोह रूप में जानें। जब तक मोह की प्रबलता रहती है तब तक आत्मा का जागना, सोचना, समझना तथा सत्पुरुषार्थ का प्रयोग करना कठिन रहता है। इसी कठिनाई को जीतने की प्रेरणा वीतराग वाणी देती है। और सन्त लोग आपको जगाते हैं कि जड़ पदार्थों के प्रति अपने मोह को घटाइये और धीरे-धीरे ही सही उसे मिटाइये। स्वयं आपका यह शरीर भी नाशवान है—इसमें भी आसक्ति मत रखिये। इससे जो भव्य आत्माएँ अपने विवेक को जागृत एवं कार्यरत बना लेती हैं, वे सर्वप्रथम इस मोह पर ही करारा आघात करती हैं। यह आघात ही उन्हें संसार त्याग कर साधु धर्म अंगीकार करने को अनुप्रेरित करता है जिस अवस्था में वे मन, वचन और काया की योग साधना की सहायता से मोह बंधनों को काट देने का साहसपूर्ण उपक्रम करती हैं। वे मोहक मदिरा के दुष्प्रभाव से कतई अलग हो जाती हैं और इस प्रयत्न में जुट जाती हैं कि वे एक दिन मोह विमुक्त होकर स्वभाव में स्थित बन जाय।

### कितना मोह त्यागा है आपने ?

अगर मैं यहां उपस्थित बुजुर्गों से पूछूं—सत्तर-अस्सी वर्ष के वृद्धों से प्रश्न करूं कि सन्त लोग वर्षों से आपको वीतराग वाणी और शास्त्रों के वचनों का मार्मिक अर्थ समझाते आ रहे हैं तो उसके संदर्भ में अब तक आपने मोह त्यागा है? कम से कम क्या इतना भी बता सकते हैं कि मोह त्याग के प्रसंग से दस वर्ष पहले और आज के आपके जीवन में क्या महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है? आत्म विकास का कुछ ज्ञान पैदा हुआ या नहीं? कोई कुछ नहीं बोल रहा है, जिसका सीधा सादा यही अर्थ लिया जा सकता है कि इस अतिशय वृद्धावस्था में भी आपकी आत्मा का मोह धन-सम्पत्ति, वैभव, परिवार आदि के प्रति घनिष्ठता से जुड़ा हुआ है और शायद सबसे ऊपर यह मोह अपने ही शरीर के प्रति भी है।

आप जानते हैं कि मोह ही के दुष्प्रभाव से अनेक प्रकार के विकार मनुष्य के आचार विचार में जन्म लेते हैं और वे पनप कर उसके जीवन को दूषित तथा कलुषित बना देते हैं। यही कारण है कि आज के मनुष्य का सारा जीवन विविध विकारों से भरा हुआ दिखाई देता है। काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ आदि विकारों की जकड़ से उसका जीवन जरा भी ढीला नहीं होता है। हकीकत तो यह है कि आज मनुष्य की स्वार्थ वृत्ति ने मोह के जाल को बड़ा जटिल बना दिया है और वह स्वयं ही इस जटिलता में ऐसा फंस गया है जैसे मकड़ी अपने ही जाल में फंस कर अपना प्राण खो बैठती है।

मनुष्य वचन से शास्त्रों का उच्चारण करता है, कानों से सत्सिद्धान्तों का श्रवण करता है किन्तु यह सबकुछ कान और मुंह तक ही सीमित रह जाता है—हृदय में उतरता नहीं है। इसी कारण ऐसी मोह दशा बनी हुई है। जबकि सत्य यह है कि शास्त्र श्रवण से अपने जीवन के भेद विज्ञान का ज्ञान होता है तो सत्सिद्धान्तों से सदाचरण की उग्र प्रेरणा मिलती है। कम से कम धर्म-स्थानक में आने के बाद तथा सन्तों का प्रवचन सुनने के बाद तो अपने जीवन में कुछ न कुछ शुभ परिवर्तन लाइये। आप अन्तगड़ सूत्र का श्रवण कर रहे हैं तो वर्णित जागृत पुरुषों के जीवन आदर्शों से भी आवश्यक प्रेरणा लीजिये और मोह रूपी महाबली आत्म शत्रु को जीतने के लिये सत्पुरुषार्थ करना प्रारंभ कर दीजिये।

### नश्वर तत्त्वों के प्रति कैसा मोह ?

आप श्रीकृष्ण का जीवन वृत्त सुन रहे हैं। वे भगवान् अरिष्टनेमि के समीप गये तो उन्होंने अपने ज्ञान में देखा और बताया—यह अल्कापुरी के समान सुन्दर और रमणीय नगरी द्वारिका भी स्थायी नहीं है। इसका भी अन्त सन्निकट है और अन्य सारे दृश्य पदार्थ तथा स्वयं का शरीर भी नश्वर है। फिर नश्वर तत्त्वों के प्रति कैसा मोह ? इसलिये ममत्व का त्याग करना चाहिये तथा समत्व को जगाना चाहिये। इस मार्ग पर यदि भव्य आत्माएँ चलेंगी तो वे तीर्थंकर पद भी प्राप्त कर सकती हैं और परमात्म पद पर भी अवस्थित हो सकती हैं।

किन्तु यह आत्मोन्नति तभी संभव होती है जब मोह मूर्च्छा को दूर करने का प्रयत्न आरंभ कर दिया जाय। यह मोह मदिरा तो भावनाओं की होती है किन्तु आज के जीवन में लोगों में विभिन्न व्यसन भी विकृति का कारण बने हुए हैं, जिनमें मदिरा पान और नशीले पदार्थों का सेवन भी शामिल है। अन्य प्रचलित व्यसन वेश्या गमन, मांस मच्छी अण्डा भक्षण, धूम्रपान आदि भी जीवन को भारी हानि पहुँचा रहे हैं। सबसे बढ़कर तो दारू, भांग, गांजे के बाद

भूरा चूर्ण व स्मैक आदि भयंकर नशीले पदार्थों के सेवन ने नई पीढ़ी के विवेक व शरीर शक्ति की कमर ही तोड़ दी है। अतः सभी प्रकार के कुव्यसनों के त्याग को अनिवार्य माना जाना चाहिये।

यह सब बाहर का नशा है और मोह भीतर का नशा है। बाहर का नशा जब इतना घातक है तो अनुमान लगा सकते हैं कि भीतर का नशा ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य की शक्तियों की कितनी घात करता है। अतः मोह भी त्यागें और मदिरा भी, ताकि आत्म जागृति का शंखनाद हो।

दिनांक 05.09.1986

(जलगांव)

## 6

## आत्म-बल धारें

धर्म जिनेश्वर मुक्त हिवड़े बसो...

समय अविराम गति से चला जा रहा है। एक दृष्टि से विचार करें तो समय भी ऐसी शक्ति है जिसके श्रेष्ठ उपयोग से मनुष्य चाहे जैसा कर सकता है। यों अन्य कई प्रकार की शक्तियाँ भी मानव को सहज ही में उपलब्ध हैं। यदि इस जीवन में उपलब्ध सभी प्रकार की शक्तियों का सदुपयोग किया जाये तो आत्मोन्नति के ऊँचे आयाम सिद्ध किये जा सकते हैं। अतः मनुष्य के लिये यह चिन्तनीय एवं आत्मालोचना का विषय है कि वह इन प्राप्त शक्तियों का सदुपयोग कर रहा है अथवा दुरुपयोग। ऐसी विवेकपूर्ण चिन्तन एवं आलोचना की शक्ति भी इस चैतन्य देव को ही प्राप्त है। यह चैतन्य देव ही अपनी समस्त आत्म शक्तियों को प्रकट करके प्रकाश में ला सकता है। हाँ, उसके इस कठिन कार्य में समय की अपेक्षा रहती है।

### मनुष्य का जीवन शक्तियों का केन्द्र

मनुष्य का यह जीवन विविध प्रकार की अनेक शक्तियों का केन्द्र होता है। इस जीवन के संचालन एवं इसकी गतिविधियों के नियंत्रण का सामर्थ्य चैतन्य देव के पास ही रहा हुआ है। इस संचालन और नियंत्रण के उसके माध्यम होते हैं—उसका मन और मस्तिष्क तथा पाँचों इन्द्रियाँ। इस मन और मस्तिष्क के पास में भी अनेकानेक शक्तियाँ एकत्रित हैं। ऐसे शक्ति स्वरूप एवं ऊर्जा के पुंज मानव तन एवं जीवन को आध्यात्मिक एवं आत्मिक बल के केन्द्र रूप में रूपान्तरित किया जा सकता है क्योंकि ऐसा सामर्थ्य भी इसी आत्मा के पास रहा हुआ है।

तो मैं कह रहा था कि समय अपनी गति से बहता रहता है। वह किसी के कुछ करने या न करने की राह नहीं देखता है। यह तो करने वाले की निष्ठा और लगन का प्रश्न है कि वह इस बहते हुए समय का कितना जल्दी और

अच्छा सदुपयोग कर सकता है। यह सभी जानते हैं कि यह जो मानव जीवन मिला है, उसकी आयु, अवधि निश्चित है, चाहे उसका ज्ञान हमें न हो। तो यों मानिये कि इस निश्चित अवधि का एक-एक पल जो निरर्थक जाता है, वह इस जीवन की महान् क्षति है। वैसे देखा जाय तो आत्म विकास की ऊँचाइयाँ केवल इस मानव जीवन में ही साधी जा सकती हैं और आत्म विकास का यह कार्य सामान्य रीति से सम्पन्न नहीं हो जाता है। इसके लिये अमित पुरुषार्थ के प्रयोग की आवश्यकता होती है तो समुचित समय की भी अपेक्षा रहती है। जब कार्य कठिन हो और समय अल्प, तब कोई भी सोच सकता है कि प्राप्त समय के पूर्ण सदुपयोग की कितनी बड़ी अनिवार्यता होती है। यह अनिवार्यता इस दृष्टि से भी मानी जानी चाहिये कि यदि विविध शक्तियों की सम्पन्नता वाले इस मानव जीवन में भी आत्म विकास नहीं साधा जा सका तो फिर इसे सिद्ध करने का अवसर ही कब मिलेगा ?

यह तथ्य ध्यान में रखिये कि शक्ति केन्द्र मिल गया और उसका आपने उपयोग नहीं किया—उसे निरर्थक पड़ा रखा तो उससे आपकी बुद्धिहीनता का ही परिचय मिलेगा। इससे बढ़कर यदि आप इस शक्ति केन्द्र का दुरुपयोग करते हैं जैसा कि आज के जमाने में खुलकर हो रहा है तो वह बुद्धिभ्रष्टता की मिसाल होगी। आपके पास आत्मा की शक्ति है, मन और इन्द्रियों की शक्ति है तथा इस तन में भी कई शक्ति स्रोत व ऊर्जा केन्द्र हैं जिनका सदुपयोग करके आत्म विकास के लक्ष्य की तरफ प्रगति की जा सकती है। किन्तु वैसा न करके इन शक्तियों को यदि भोग विलास, विषय वासना तथा विकार सेवन में बरबाद कर दें तो क्या आपको अपने बुद्धि प्रयोग पर गंभीरता से चिन्तन नहीं करना चाहिए ? और वास्तव में गंभीर चिन्तन किया गया तो क्या उसमें से जागृति की प्रकाश रेखा नहीं फूट पड़ेगी ? फिर आत्म जागृति के प्रकाश में क्या आप आत्म बल को धारण करने के लिये उत्सुक नहीं हो जायेंगे ?

### आत्म बल कितना जल्दी, कितना ज्यादा ?

जब आत्म जागरण में उन्नायक दशा उत्पन्न होती है तो आत्म बल की उपलब्धि इतनी ज्यादा और इतनी जल्दी होती है कि उसकी कल्पना तक कठिन हो जाती है। इस प्रकार के आत्म बल का मूल होता है केन्द्रस्थ शक्तियों का अनावृत होकर प्रकाश में आ जाना। यह जागरण की उद्दीप्तता पर निर्भर करता है। एक, तो कोई नींद से जागे और देर तक आंखें ही मसलता रहे! और एक ऐसा होता है जो नींद से उठते ही स्वस्थ चित्त से काम में लग जाय। जैसा जागरण होता है, वैसा ही आत्म बल प्राप्त होता है। गजसुकुमाल का

जीवन वृत्त आपने सुना है। भगवान् अरिष्टनेमि का उन्होंने एक ही प्रवचन सुना और उनकी समस्त आत्म शक्तियाँ जागृत हो उठीं। इतनी जागृत कि उसी दिन संसार त्याग कर साधु धर्म अंगीकार करने का उन्होंने निश्चय कर लिया। जागृति का वेग कितना प्रबल, प्रखर और विशुद्ध था कि दीक्षा ली, उसी दिन भिक्षु प्रतिमा धारण करके श्मशान में खड़े हुए तथा धधकते अंगारों का परीषह सहन करके उसी दिन मोक्षगामी हो गये। उनकी अनन्त आत्म शक्तियों का पुंज अनन्त काल के लिये ज्योतिर्मय हो गया।

अन्तगड़ सूत्र में वर्णित ऐसा ही प्रबल आत्म जागरण का आदर्श जीवन वृत्त है अर्जुन माली का। ये जीवन वृत्त प्रतिवर्ष आप श्रवण करते रहते हैं किन्तु खेद का विषय यही रहता है कि उन उच्च कोटि के आदर्शों का अपने जीवन में यथाशक्ति भी रूपान्तरण नहीं किया जाता। कम से कम पर्युषण के दिनों में तो अपनी आत्मवृत्तियों की आलोचना करनी चाहिये तथा आदर्श महापुरुषों के सद्गुणों को यत्किंचित् रूप से अपने आचरण में उतारने का प्रयत्न करना चाहिये। अर्जुन माली के घटनाक्रम पर ही अन्तर्चिन्तन कीजिये कि कहां तो वह ऐसा क्रूर पापात्मा था और कहां उसने अपने शक्ति केन्द्रों को जागृत बना कर आत्म बल का महान् आदर्श उपस्थित कर दिया। आत्म बल भी इतना जल्दी और इतना ज्यादा प्राप्त कर लिया कि कोई उस जीवन वृत्त को एकाग्र चित्त से सुने तो आत्म विभोर हो जाय।

अर्जुन माली एक सामान्य जन की तरह अपनी पत्नी के साथ नगर के उद्यान में रहता था तथा माली का काम करता था। वह अपने स्वयं के पुरुषार्थ से अपना निर्वाह नीतिपूर्वक करता था। उसी नगर में छः तरुण अपने यौवन एवं धन वैभव का गंभीर दुरुपयोग करते हुए काम-वासना में लिप्त हो रहे थे। इसमें उन्होंने सारी मर्यादाएँ तोड़ दी थीं। उनकी सारी जीवन-शक्तियाँ पतनोन्मुखी बन गई थीं।

पतन के भी कई कारण होते हैं। प्रभु महावीर का कथन है कि यदि जवानी भटक जाय तो वह एक ही आत्म पतन का असाध्य कारण बन सकती है। फिर ऊपर से धन सम्पत्ति हो तथा अधिकार भी हो तो करेला और नीम चढ़ा हो जाता है। इस तरुण के अहंकार, अन्याय और अत्याचार का कहना ही क्या? वह इन तीनों शक्तियों के साथ अविवेक से जुड़कर पूरी तरह पतनोन्मुखी बन जाता है। कारण, जिन आत्म-शक्तियों का नियोजन आत्मा एवं लोक के कल्याण हेतु किया जाना चाहिये, उन्हें ही जब भोग विलास के घृणित विकारों में लगा देते हैं तो वे शक्तियाँ विध्वंसक रूप ले लेती हैं। तब वे दूसरों का ही



विध्वंस नहीं करतीं, अपितु स्वयं के आत्म-गुणों का भी विध्वंस कर डालती हैं। अतः पतन का मूल कारण यही होता है कि आत्म बल के प्रयोग की दिशा जब शुभ से अशुभ बन जाती है तो विध्वंस भी इतनी जल्दी और इतना ज्यादा होने लगता है कि धरती कांप उठती है।

सत्य यह है कि आत्म बल तो महान् बल ही होता है किन्तु यह उसके प्रयोग कर्ता पर निर्भर करता है कि वह उस बल का सदुपयोग करता है अथवा दुरुपयोग या अपने आत्म बल से अनभिज्ञ ही बना रहता है। इसलिये विकासोन्मुखी आत्मा की चेष्टा यह होनी चाहिये कि वह अपने बल को समझे, शक्ति केन्द्रों को जागृत बनाये तथा उन्हें निरुपयोगी न रखकर श्रेष्ठ रीति से स्व-पर कल्याण हेतु प्रायोजित करे।

### विध्वंस की विध्वंसात्मक प्रतिक्रिया

नगर के वे छः तरुण विध्वंस की आग बिखेरते हुए स्वच्छन्द वृत्ति से मनमाने अत्याचार कर रहे थे। एक दिन वे उद्यान में घुस गये और उन्होंने अर्जुन माली को बांध कर उसकी पत्नी के साथ दुर्व्यवहार किया। अर्जुन नीतिवान व्यक्ति था। यह देखकर कि उन दुष्टों ने उसकी आंखों के सामने ही उसकी पत्नी पर बलात्कार करके उसका शील भंग किया है, उसके क्रोध ने सीमाएँ तोड़ दीं। उस राक्षसी कृत्य को देखकर उसके भीतर का राक्षस भी उत्तेजित हो उठा। फिर उस विध्वंस की भीषण विध्वंसात्मक प्रतिक्रिया फूट पड़ी।

उद्यान स्थित जिस यक्ष प्रतिमा की वह नियमित उपासना करता था, उस यक्ष के बारे में भी उसके क्रोध की प्रतिक्रिया उभर उठी। अर्जुन माली सोचने लगा कि मैंने इस यक्ष की जो प्रतिमा स्थापित कर पूजा के योग्य बनाई, उसमें भी कोई यक्षत्व नहीं, वरना क्या ऐसी राक्षसी घटना घटित हो सकती थी? उसकी तीव्र अभिलाषा जागी कि यदि इस यक्ष प्रतिमा में तनिक भी सचाई है तो कोई चमत्कार हो। उस उत्तेजित वातावरण का कुछ ऐसा योग बना कि यक्ष वहां प्रकट हो गया और बोला—अरे अर्जुन, भयभीत मत हो, मैं तेरी उपासना से प्रसन्न हूँ और अपनी सारी वैक्रिय शक्ति तेरे शरीर में प्रवाहित कर रहा हूँ। इसलिये उठ और दुष्टों को दंड दे। तभी अर्जुन माली को महसूस हुआ कि अपार शक्ति और स्फूर्ति उसके शरीर में प्रवेश कर गई है। वह कसमसाकर बन्धन तोड़ते हुए उठ खड़ा हुआ और यक्ष प्रतिमा पर रखी गदा को उठा लिया। फिर उस गदा को घुमाते हुए दौड़ने लगा और दहाड़ने लगा। सबसे पहले उसने उन छहों दुष्ट पुरुषों की हत्या कर डाली

और फिर ग्लानि के साथ अपनी पत्नी की भी हत्या कर दी। तब उसके सिर पर छः पुरुषों और एक महिला का खून चढ़ गया। फिर उस उत्तेजना में उसे जिस-जिस पुरुष व महिला पर यह शंका होती कि इन्होंने उन छः तरुणों की स्वच्छन्द वृत्ति को भड़काने में योग दिया था, उन सबकी वह उसी गदा से हत्या करने लगा। उसका यह क्रम बन गया कि वह नित्य प्रति छः पुरुषों और एक महिला की हत्या करता रहा। वह गदा घुमाते हुए भयानक आवाजें करता रहता और सारे उद्यान में घूमता रहता। यों विध्वंस की विध्वंसात्मक प्रतिक्रिया अपना क्रूर रंग दिखाने लगी थी।

अर्जुन माली के भीषण क्रोध और रक्तपात से सारा नगर भयाक्रान्त हो उठा। उसकी भयानक शक्ति के समक्ष किसी की भी एक नहीं चल रही थी। प्रतिदिन संहार का यह क्रम चलता जा रहा था।

जरा चिन्तन करिये कि आज के युग में भी कितना कदाचार, अन्याय और अत्याचार बढ़ रहा है? नैतिकता किस कदर ढल रही है और अनैतिकता का जोर किस कदर बढ़ता ही जा रहा है। मानव हृदय की विध्वंसात्मक वृत्तियाँ फैल रही हैं तथा किस प्रकार वे अपने ही भाइयों व साथियों के गले काट रही हैं? उसकी आन्तरिक ऊर्जा बाहर विकृति का स्वरूप पकड़कर कैसे-कैसे तांडव नृत्य सामने ला रही है। यह सब आपके अनुभव का विषय है। और इसी कारण आपके गंभीर चिन्तन का भी विषय है कि किस विधि से आप अनैतिकता एवं दुर्व्यसनों को अपना लेने के कारण बिगड़ती हुई नई पीढ़ी को पतन से बचावें और उन्हें सुधार की राह पर आगे बढ़ावें। नशीले पदार्थों की खपत बेशुमार बढ़ रही है और गर्भपात कराने वालों की संख्या का अता-पता ही नहीं लगता है। क्या ये घोर पतन के लक्षण नहीं हैं? क्या नित प्रति घटित हो रहा यह विध्वंस नई-नई विध्वंसात्मक प्रतिक्रियाएँ पैदा नहीं करेगा?

कितना पापाचार बढ़ गया है इस धर्मप्राण भारत देश में भी? कितने निर्दय होते जा रहे हैं यहां के नागरिकगण? अपने चरित्र और अपनी नैतिकता के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं—वह तो अलग, मूक पशुओं के साथ भी घोर अत्याचार कर रहे हैं। गायों और पशुओं के अनेक कत्लखाने चल रहे हैं और लाखों निरीह प्राणी मांस भक्षण के निमित्त काटे जा रहे हैं। कम से कम प्रबुद्ध नागरिकों तथा विवेकवान श्रावकों को तो इन कठिन परिस्थितियों से संघर्ष करना चाहिये और सामान्य जन को विध्वंसात्मक प्रतिक्रियाओं के दुष्परिणामों से बचाना चाहिये।

## धार्मिकता व नैतिकता का प्रसार करें

इस घोर अधोपतन का मुख्य कारण है कामवासना पर नियंत्रण हीनता और मन व इन्द्रियों का कामुक खिलवाड़। संयम की तरफ आम लोगों का झुकाव नहीं तो अपनी जीवनचर्या में ब्रह्मचर्य पालन को तनिक भी स्थान देने का कोई भान नहीं। जो जीवन विभिन्न शक्तियों का केन्द्र तथा पुंज है, उसे विकारों का खिलौना बना दिया गया है। आज शिक्षा के नाम पर दिया जा रहा दिशाहीन शिक्षण, मनोरंजन के नाम पर अश्लील चलचित्रों का चलन और शृंगार प्रसाधनों की बाढ़ ने इस विकार वृद्धि की आग में घी का काम किया है। इसमें आज के माता-पिता तथा शिक्षकों की असावधानी भी शामिल है। उनका इस तरफ बहुत कम ध्यान है कि अपने बच्चों को नियमित रूप से सन्तों के पास ले जावें, सत्संस्कार डालने का प्रयत्न करें और स्थान-स्थान पर धार्मिक पाठशालाएँ खुलवाकर उनमें अपनी सन्तान को धर्म और नीति का शिक्षण दिलावें। स्वयं माता-पिता अपने बच्चों को अच्छे संस्कार देने के प्रसंग से स्वयं के आचरण को भी अच्छा और अनुकरणीय बनाने के प्रश्न को भुला रहे हैं। जब वे खुद संयम का पालन नहीं करते और सिनेमा व टी.वी. के कामुक कार्यक्रमों को देखते हैं तो भला अपने बच्चे-बच्चियों को वे संयम-पालन की शिक्षा कैसे दे सकते हैं? छोटे निर्दोष बालकों पर फिर जो दुष्प्रभाव पड़ना है, वह पड़ेगा ही। जब बचपन से ही वे कामुक कार्यक्रम देखेंगे तो उनकी कामवासना बड़े होने पर विध्वंसक रूप लेगी ही। तब वे वीतराग देव के सच्चे भक्त कैसे बन सकते हैं और कैसे सद्गुण सम्पन्न बनकर आगे बढ़ सकते हैं? क्या आप जैनों के ऐसे बालक जैन नाम की लाज भी रख सकेंगे?

आज छात्र वर्ग अधिकांशतः विकारों के मार्ग पर चल रहा है तथा अपने कुत्सित क्रिया-कलापों से युवा वर्ग में भी कुछ अच्छा कर-गुजरने का दम दिखाई नहीं देता है, बल्कि इनकी तरुणाई स्वयं ही वृद्धत्व की छाया से निस्तेज होती जा रही है। इस दुरवस्था में तुरन्त बदलाव की आवश्यकता है, वरना कह नहीं सकते कि यह अधोपतन सारे समाज और राष्ट्र को कितनी बुरी तरह से क्षत-विक्षत कर देगा? इस कारण सभी समझदार लोगों को पूरी गंभीरता से सारी स्थिति का बारीक समीक्षण करके निर्धारित करना चाहिये कि इस नारकीय-सी स्थिति में किन प्रयासों से बदलाव लाया जाना चाहिये? सबसे पहले कामवासना के प्रसार, कत्लखानों और गर्भपात एवं शिशु, गौवंश, व पशु हत्या को तुरन्त रोकने के बारे में क्या ठोस उपाय नहीं किये जाने चाहिये?

ऐसे सारे ठोस उपायों का स्थायी मूलाधार यही हो सकता है कि सारा जन समुदाय तथा विशेष रूप से छात्र व युवा वर्ग में धार्मिकता एवं नैतिकता का

पूर्ण प्रसार किया जाये। इस कार्य में हम सबको अपना समय, धन और बल ही नियोजित नहीं करना होगा बल्कि आज की विकारपूर्ण व्यवस्थाओं तथा परिस्थितियों से सफल संघर्ष करने के लिये कठिन साहस भी जुटाना पड़ेगा। इसके सिवाय सभी क्षेत्रों से सभी वर्गों का सहयोग भी प्राप्त करना होगा।

मैं देखता हूँ कि सहयोग की बात भी कम मुश्किल नहीं है। ऊँचे पदों पर बैठे हुए अधिकांश राजनेता और अधिकारी मत और अधिकार पाने के लिये जनता के सामने आते हैं, बाहरी दिखावे से दुर्व्यवस्था के विरोध में मोर्चे और आन्दोलन कराते हैं और बड़े लच्छेदार भाषण-वक्तव्य देते हैं, लेकिन पद प्राप्त कर लेने के बाद उतनी सचाई से वे काम नहीं करते कि बिगड़ी हुई परिस्थितियों में सुधार आ सके, बल्कि कथनी और करनी की खाई को चौड़ी करते रहते हैं। इस कारण जो सुज्ञ नागरिक वातावरण को विशुद्ध बनाने का बीड़ा उठाते हैं, उन्हें भी ऐसे लोगों की तरफ से पर्याप्त सहयोग नहीं मिल पाता है। फिर भी काम करने वालों के लिये निराशा का कोई कारण नहीं होना चाहिये। जब पूरे साहस और उत्साह के साथ कोई दायित्व ग्रहण कर लिया जाता है तो उसकी सफलता में शंका का कोई स्थान नहीं रहता है। अब ऐसे साहसी लोगों को धार्मिकता एवं नैतिकता के प्रसार में अपना सम्पूर्ण योगदान देना आरंभ कर देना चाहिये।

### धर्म के शिक्षण-आराधन से आत्म बल जागेगा

मैंने अजमेर में एक जगह देखा कि एक छोटे से कमरे में एक काजी छोटे-छोटे बच्चों को कुरान पढ़ा रहा था। अपने धर्म के प्रति बड़ी आस्था से वह यह काम कर रहा था। ईसाई मिशनरियों का धर्म प्रचार के सम्बन्ध में उत्साह देखते ही बनता है। ये लोग तो कई जगह अपने प्रचार की सीमाओं का उल्लंघन भी करते हैं तथा मानव प्रेम व सहयोग की भावनाओं को आघात भी पहुँचाते हैं। किन्तु आपका धर्म तो विश्व धर्म बनने के योग्य है—इसके सिद्धान्त किसी खास वर्ग, क्षेत्र या जाति ही का नहीं, सम्पूर्ण विश्व एवं समस्त प्राणियों का हित साधन करने की सुन्दर शिक्षा देते हैं। ऐसे धर्म के शिक्षण की सुन्दर व्यवस्था की ही जानी चाहिये, क्योंकि ऐसे धर्म के शिक्षण तथा आराधना का क्रम ज्यों-ज्यों विस्तृत बनेगा, त्यों-त्यों आत्म बल की प्रखरता निखरती जायेगी। आत्म बल का विकास सर्वहित विचार, सत्यभाषण तथा ठोस काम पर ही निर्भर करता है।

धार्मिक शिक्षण एवं आराधना का यह मूल बिन्दु रहना चाहिये कि काम-वासनाओं के उद्दीपक वातावरण को समाप्त किया जाये तथा विकारलिप्सु-वृत्तियों पर संयम का अंकुश लगाया जाये। ब्रह्मचर्य पालन पर सबसे अधिक

बल दिया जाना चाहिये। छात्रों एवं युवकों को ब्रह्मचर्य का महत्त्व जितनी गहराई से समझाया जायेगा, उनके जीवन का विकास उतनी ही सरलता से साधा जा सकेगा। ब्रह्मचर्य के पालन से वे ऐसे आत्म-बली भी हो सकेंगे कि सारे समाज एवं राष्ट्र की कलुषित परिस्थितियों में संशोधन कारी रूपान्तरण ला सकें।

ब्रह्मचर्य पालन के महत्त्व को समझाने का यह दृष्टान्त बड़ा असरदार है। एक बार एक युवक एक विख्यात चिकित्सक के पास गया और कहने लगा—मेरा जीवन सुरक्षित और सफल बन सके—ऐसा कोई ठोस उपाय सुझाइये। डॉक्टर ने कहा—निश्चित रूप से ठोस उपाय है कि तुम आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने की प्रतिज्ञा कर लो। युवक चौंका और बोला—डॉक्टर, ऐसा तो मैं नहीं कर सकता हूँ। आजन्म ब्रह्मचर्य पालन मेरे लिये संभव नहीं हो सकेगा। डॉक्टर ने कहा—देखो, ब्रह्मचर्य सामान्य व्रत नहीं है। इसका पालन करने से आत्मा में छिपी हुई अनेक शक्तियाँ उजागर हो जायेंगी और उससे तुम्हारा आत्म बल बहुत बढ़ जायेगा। फिर भी यदि जीवन पर्यन्त ब्रह्मचर्य का पालन न कर सको तो एक वर्ष में एक दिन की छूट ले लो। यह तो ठीक है न? युवक फिर भी झिझका तो डॉक्टर ने और रियायत दी—अच्छा, एक माह में एक दिन की छूट। चलो यह प्रतिज्ञा तो कर ही लो। युवक फिर भी तैयार नहीं हुआ तो डॉक्टर एक माह में दो दिन की छूट पर सहमत हो गया। फिर भी जब युवक और छूट मांगने लगा तो झल्लाकर डॉक्टर ने कह दिया—भाई, मुझे मत पूछो, तुम्हारी मरजी हो सो करो मगर अपने कफन का सामान पहले से लाकर घर में धर लेना। इससे अधिक वह समझदार चिकित्सक और भला क्या कहता!

वर्तमान समाज और राष्ट्र में सिर्फ कामवासनाओं की ओर जो यह घातक दौड़ लग रही है, उसे रोकना जरूरी है। यह काम केवल कानून से भी संभव नहीं है। इसके लिये तो समर्पित पुरुषों को ही कार्यरत होना पड़ेगा। और अपने जीवन का भोग भी देना पड़ेगा। इस प्रवृत्ति के लिये ही धर्म के शिक्षण और आराधन की सब ओर व्यापक व्यवस्था की जाय। आत्म-बल को अधिक से अधिक नागरिकों में बढ़ाने तथा सारे वातावरण में नवजीवन जगाने की दृष्टि से यह प्रवृत्ति सबका हित साध सकती है। इसी प्रवृत्ति से उपजे ज्ञान और बल के आधार पर स्थापित मर्यादाओं का पालन किया और कराया जा सकेगा और सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में मानवीय मूल्यों का सम्मान बढ़ाया जा सकेगा।

### गहरी खाई से आत्म बल के शिखर पर

एक पापी से पापी, क्रूर से क्रूर और पतित से पतित व्यक्ति भी एक बार आत्म बल प्राप्त करने की डोर मजबूती से थाम ले, तो वह अपनी कठोरतम

साधना से अल्पतम समय में आत्म बल के उच्चतम शिखर पर भी आरूढ़ हो सकता है। गहरी खाई से निकल कर पर्वत के सर्वोच्च शिखर पर चढ़ जाना केवल वीरों का पुरुषार्थ हो जाता है।

अर्जुन माली को ऐसा ही सौभाग्य प्राप्त हुआ था। जिन दिनों प्रतिदिन सात हत्याओं का क्रम वह चलाये हुए था, उन्हीं दिनों भगवान् महावीर का उसी उद्यान में पदार्पण हुआ। सारे नागरिक अर्जुन माली के भय से बन्द दरवाजों के पीछे बैठे हुए थे, किसी ने बाहर निकलने का साहस नहीं किया। उसी नगर में एक धर्मनिष्ठ बारह व्रतधारी श्रावक सुदर्शन सेठ भी रहते थे। भगवान् महावीर के दर्शन-श्रवण के लिये वे आतुर हो उठे। घर-परिवार वालों ने बहुत रोका, किन्तु वे अपने घर से बाहर निकल ही पड़े। वह दृढ़ संकल्पी सेठ जब नगरद्वार से बाहर निकला तो उसने देखा कि कुछ दूरी पर अर्जुन माली अपनी गदा घुमाते हुए उसी की ओर चला आ रहा है। वह प्रखर आत्म बल का धनी था। उसकी आकृति पर लेशमात्र भी व्यग्रता नहीं उभरी, उसका हृदय पूर्ण निर्भय बना रहा। वह वहीं ध्यानस्थ खड़ा हो गया और नवकार मंत्र का दत्तचित्त होकर जाप करने लगा। सागारी संथारा ग्रहण करके उसने मन ही मन संसार के समस्त प्राणियों के साथ साथ अर्जुन माली से भी क्षमा याचना कर ली। वह पूर्ण आत्म बल के साथ उस उपसर्ग को सहन करने के लिये तत्पर हो गया। उसे ज्यों का त्यों खड़ा देखकर अर्जुन क्रोध से कांपने लगा। हमेशा की तरह ही उसने सेठ सुदर्शन की हत्या करने के लिये अपनी गदा ऊपर उठाई। परन्तु यह क्या? गदा ऊपर की ऊपर ठहर गई। वह गदा क्या ठहरी कि उसकी वह क्रूर वृत्ति ही ठहर गई। उसके मन-मस्तिष्क में एक भयंकर तूफान उठा, थमा और जैसे सारी सदबुद्धि वापस लौट आई। अर्जुन माली सुदर्शन सेठ के चरणों में गिर पड़ा और प्रायश्चित्त के आंसू बहाने लगा। वह सेठ से कहने लगा कि उसके पापमय जीवन का वे उद्धार करें। सेठ ने उसे गले से लगाया और कहा—तुम मेरे साथ चलो, हम पतित पावन के पास ही चल रहे हैं। वह पापात्मा भगवान् की शरण में पहुँचा। देशना सुन दीक्षित हुआ। प्रबुद्ध बना और कर्म मुक्त होकर सिद्ध हो गया।

आत्म बल की अमरगाथा है अर्जुन माली की कथा। जागरण की उच्चता पैदा हो तो सर्वश्रेष्ठ आत्म बल अवाप्त हो जाय। इसलिये आप भी आत्म बल धारें और आत्म बल की भूमिका को पुष्ट बनावें।

## 7

## विघातक प्रवृत्तियाँ रोकें

धरम जिनेश्वर मुझ हिवड़े बसो...

ये पर्युषण पर्व के दिन मानवीय जीवन में एक विशिष्ट सन्देश लेकर आते हैं। यह धर्म भावनाओं से ओत-प्रोत सन्देश होता है कि आज का मानव अपने जीवन की अमूल्यता को समझे, मोह मूर्च्छा और प्रमाद निद्रा से जागे तथा जीवन के वास्तविक स्वरूप को हृदयंगम करके आत्मा से परमात्मा तक की विकास यात्रा की सम्पन्नता के लिये अपनी आन्तरिकता में उपयुक्त सामर्थ्य उत्पन्न करे।

मानव के हृदय में यह सन्देश तभी उतरेगा तथा अपने प्रभाव से उसे प्रभावित बना सकेगा, जब मानव एक विशिष्ट अभियान में स्वयं जुटे तथा अधिकाधिक विविध बुद्धिचेताओं को उसमें सम्मिलित करे। यह अभियान होगा अपने ही जीवन में फैल रही विघातक प्रवृत्तियों को रोकने का। वर्तमान जीवन के विचार-व्यवहार में कुछ ऐसी विघातक प्रवृत्तियों का फैलाव बढ़ता जा रहा है जो जीवन के मूल मूल्यों का ही घात करने वाली है। यदि मूल मूल्य ही नष्ट होते जायेंगे तो उस जीवन का विकास कैसे सम्पादित किया जा सकेगा? उजड़ती और बंजर होती हुई भूमि पर क्या हरी भरी फसल उगाई जा सकती है? और जो कुछ पौधे निकल भी आवें तो वे उस बंजरता से बच नहीं पायेंगे।

### अशान्ति से व्यथित यह मानव जीवन

जीवन आता है और चला जाता है। न समय का प्रवाह रुकता है तथा न जीवन का। इस कारण यह देखने की आवश्यकता होती है कि वह प्रवाह किस दिशा में बह रहा है? दिशा-ज्ञान से उस प्रवाह को, यदि शुभ दिशा में नहीं है तो शुभ दिशा में मोड़ने में सहायता मिलेगी। एक बार इस प्रवाह को यदि शुभ दिशा में मोड़ देने के कार्य में सफलता मिल जाती है तो यह आशा भी बंध जाती है कि उस दिशा में तीव्र प्रगति साध कर कुछ उल्लेखनीय कार्य सम्पन्न किया जा

सकेगा। ऐसा कार्य, जो इस मानव जीवन को अशान्ति के व्यथा चक्र से बाहर निकाल कर उसे शान्ति और सुख की प्रकाश रेखा के दर्शन करा सके।

यह मानव जीवन अनेक जन्मों के पुण्य संचय के फलस्वरूप बहुत विलम्ब के बाद मिलता है, किन्तु इस जीवन के बीत जाने में विलम्ब नहीं होता है। तभी तो इसे पत्ते पर पड़ी हुई प्रातः कालीन ओस की बूंद की उपमा दी गई है जो पवन के एक हलके झोंके से ही धूल धूसरित हो जाती है। ऐसे अमूल्य किन्तु अल्पकालीन जीवन का कितना सजग सदुपयोग किया जाना चाहिये—यह सबसे बड़ी महत्त्व की बात है। कीमती रत्न मिले और उसे या तो अज्ञानवश कांच का टुकड़ा मानकर पत्थर से फोड़ डालें व फेंक दें अथवा उसे घर के एक कोने में पटक दें। तब क्या उस रत्न का किसी भी रूप में लाभ उठाया जा सकता है? अज्ञानी को मिला हुआ बेशकीमती रत्न भी जिस प्रकार निरर्थक चला जाता है, उसी प्रकार यह मानव जीवन यदि अज्ञान के अंधकार में ही डूबा हुआ रहे तो फिर इस जीवन का आत्म कल्याणार्थ सदुपयोग कैसे किया जा सकता है? इस कारण इस अंधकार से जीवन को बाहर निकाले बिना तथा विघातक प्रवृत्तियों को रोके बिना आत्म विकास का मार्ग मिल नहीं सकेगा।

आज की विकट परिस्थितियों में मानव जीवन पर जो सबसे बड़ा आघात लग रहा है, वह यह है कि उसकी शान्ति और उसका सुख-चैन लुप्त होता जा रहा है। अशान्ति की उसकी व्यथा इतनी मर्यान्तक होती जा रही है कि वह अपने जीवन में मानसिक एवं शारीरिक सन्तुलन तक का निर्वाह नहीं कर पाता है। हर वक्त तनाव-टेंशन, बीमारी और वेदना उसे चैन की सांस तक नहीं लेने देती है। परिस्थितियाँ नानाविध विकारों की छाया में इतनी विषाक्त होती चली जा रही हैं कि उसके श्वसन में आज गहरी घुटन है। जरा सोचिये कि वह जीवन कैसा जीवन है जिसमें शान्ति का श्वास तक नहीं लिया जा सकता हो?

अशान्ति की यह व्यथा उपजती है उन विघातक प्रवृत्तियों के विस्तार से जो जीवन के मूल को ही नष्ट भ्रष्ट करता जा रहा है। शान्ति-लाभ तभी हो सकेगा जब इन प्रवृत्तियों का रूपान्तरण कर लें—उन्हें विघातक से विधायक बना लें। प्रवृत्तियाँ जो शुभता का घात करती हैं, यदि नये रचनात्मक स्वरूप में ढाल दी जायें तो वे परिवर्तित प्रवृत्तियाँ विधायक हो जायेंगी। आत्म विकास की महान् यात्रा में रचनात्मक सहयोग प्रदान करने वाली और ज्ञान का प्रकाश फैला कर जीवन में सत्पुरुषार्थ को जगाने वाली बन जायेंगी। इसलिये व्यापक पैमाने पर अभियान यह छेड़ा जाय कि इस जीवन की विघातक प्रवृत्तियों को रोक कर इनके स्वरूप को विधायक बनाया जाये।



## विघातक से विधायक दिशा में

इस विराट् विश्व में विभिन्न धर्मग्रंथों एवं शास्त्रों का अध्ययन करें तो विदित होगा कि सम्पूर्ण सृष्टि के समस्त प्राणियों में मानव तन और जीवन ही प्रधान है। सर्वोत्तम है तथा आत्म-विकास की यात्रा को सफल बनाने में सक्षम है। एक दृष्टि से इसे राजा जीवन कहा जाता है। यह राजा जीवन ही अगर विघातक प्रवृत्तियों में लिप्त रहे तो इसका राजापन क्या सार्थक हो सकेगा? इन विघातक प्रवृत्तियों को रोकना अत्यावश्यक है।

मानवीय जीवन की इस कलियुग में कोई स्थिरता नहीं है। कल ही इस जीवन का क्या होगा या इसमें क्या परिवर्तन आ सकता है—इसका ज्ञान आज के समुन्नत विज्ञान को भी नहीं है। इसलिये पर्युषण पर्व जैसे पावन प्रसंगों पर दिव्य एवं चरित्रवान पुरुषों के जीवनादर्शों का श्रवण करके उन्हें अपने इस जीवन में अपनाने के लिये सम्यक् भाव से चिन्तन और मनन करें तो वह अवश्य दिशा-निर्देशक बन सकता है।

अन्तगड़ सूत्र के प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि धन-वैभव, सम्पत्ति, भौतिक सत्ता, मान, सम्मान एवं कीर्ति की विपुल उपलब्धियों के बावजूद उन दिव्य पुरुषों ने अपने जीवन, उसकी प्रभावशाली शक्तियों एवं प्रचलित प्रवृत्तियों का यथार्थ मूल्यांकन किया तथा यथासमय समस्त भौतिक उपलब्धियों का भावपूर्वक त्याग करके वे आत्म विकास की महान् यात्रा में सजग और सावधान हो गये। उन्होंने स्व-पर कल्याण भी साधा तो अपने जीवन को शान्त और सुखी बनाकर वे सम्पूर्ण संसार के लिये शान्ति और सुख का आदर्श एवं अनुकरणीय सन्देश भी छोड़ गये। उस सन्देश का यही सार तत्त्व है कि अपनी समस्त प्रवृत्तियों को विघातक से विधायक दिशा में मोड़ लें।

उन दिव्य पुरुषों के आदर्शों का बखान आप प्रत्यक्ष रूप से सुन रहे हैं। आपके कान खुले हैं और यह आंखें भी खुली हुई हैं। किन्तु क्या आपका सोया हुआ ज्ञान भी खुल रहा है या नहीं? यदि आपका मन और उसकी चेतना शक्ति बाहर से कुछ और करती हुई दिखाई दे रही हो तथा भीतर में उसका कुछ दूसरा ही योग व्यापार चल रहा हो और आप इन आदर्शों को अपने ध्यान और दिल में नहीं उतार रहे हों तो फिर आप ही जानें। यह मन नेत्रों और कानों के साथ जुड़ा हुआ नहीं हो और आंख-कान के खुले रहते हुए भी वह सोया हुआ या अन्यत्र भटकता हुआ रहे तो आपके यह सब सुनने और देखने का कोई अर्थ नहीं है।

मैं कौन हूँ—कहाँ हूँ और कहाँ जा रहा हूँ अर्थात् क्या कर रहा हूँ—यदि आप के मन की चेतना शक्ति इन प्रश्नों को बार-बार नहीं टटोलती है, उनके उत्तर नहीं लेती है तथा प्राप्त समाधान से शिक्षा ग्रहण नहीं करती है तो अपने जीवन में प्रचलित प्रवृत्तियों की परख और पहचान कैसे हो सकेगी? और पहचान नहीं होगी तो उनको विघातक से विधायक स्वरूप में रूपान्तरित करने के पुरुषार्थ को कैसे सफल बनाया जा सकेगा? जीवन में यदि इस दिशा में सही विचार और विवेक नहीं जागता है तो उसमें आत्म-विकास की नई प्राण शक्ति भरना भी संभव नहीं हो सकेगा। मशीनवत् वृत्ति को जीवन्त एवं क्रियाशील वृत्ति में बदल कर तदनुसार सम्पूर्ण प्रवृत्तियों को विधायक दिशा देनी होगी।

### मन की चित्र-विचित्र अवस्थाएँ

आत्मा, मन और शरीर का परस्पर में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। वास्तव में मन आत्मा और शरीर के बीच की कड़ी के रूप में है जिसका सही कर्तव्य यह होना चाहिये कि वह सजग आत्मा के आदेशों का निष्ठापूर्वक पालन करे तथा तदनुसार शरीर को अपनी प्रवृत्तियों को चलाने व ढालने में प्रतिबंधित रखे। शरीर पर आत्म-नियंत्रण उसके क्रियाशील माध्यम से रहे। किन्तु आत्मा के साथ रहने की बजाय जब मन शरीर के साथ रहने लग जाता है तो उसकी सारी कार्य प्रणाली भौतिकता के रंग में रंगने लग जाती है। शरीर के साथ रहने का अर्थ है कि वह आत्म-शान्ति और सुख के महत्त्व को भुलाकर मात्र शारीरिक सुख और भौतिक शान्ति की अंधी गलियों में भटकने लगे। तब वह आत्म-विकास की यात्रा का कोई काम सफलतापूर्वक नहीं करवा सकता है क्योंकि स्वयं चेतना शक्ति शिथिल और सुषुप्त-सी होने लगती है। ऐसे समय में मन शरीर को नहीं, सारे जीवन को अशान्ति की धधकती हुई आग में झुलस जाने के लिये झोंक देता है। मन के विकार ग्रस्त हो जाने पर वह विपथगामी बन जाता है तथा विघातक प्रवृत्तियों में ही रुचि लेने लग जाता है। शान्ति और सुख भी वह उन्हीं में खोजता है तब अशान्ति की ही व्यथा नहीं बढ़ेगी तो और भला होगा?

मन की ऐसी चित्र-विचित्र अवस्थाओं को समझना और आत्म-विकास की दिशा में उनसे होने वाले हानि-लाभ को आंकना कर्तव्य पथ पर जागृत होकर चलते रहने के लिये अनिवार्य है। इस विषय में स्वामी रामतीर्थ ने अपने एक अनुभव का उल्लेख किया है जिससे मानस-ज्ञान, नियंत्रण एवं संशोधन की अनिवार्यता स्पष्ट होती है। वे एक बार जापान की राजधानी टोकियो में ठहरे हुए थे तब उनका परिचित एक व्यापारी उनके सम्पर्क में आया। उसकी आंखों में

पानी देखकर स्वामी जी ने पूछा—क्यों भाई, किस बात से इतने दुःखी दिखाई दे रहे हो? उस व्यापारी को रोना ही आ गया, कहने लगा—स्वामी जी, क्या बताऊँ? मैंने दिन-रात एक करके करोड़ों की सम्पत्ति कमाई वह आज अचानक नष्ट हो गई है। इस सम्पत्ति अर्जन करने में मैंने अपने जीवन के कितने अमूल्य वर्ष और कितना श्रम खर्च किया? यही नहीं, इसके अर्जन में मैं नैतिकता का भी ध्यान भूल गया और अनीति की दूषितता में बहता रहा, किन्तु सारे गोदाम के जल जाने से मैं आज राह का भिखारी हो गया हूँ। इसीलिये मैं अपने आंसुओं को रोक नहीं पा रहा हूँ।

इतने में व्यापारी का मुनीम आया और कहने लगा—सेठ जी, आप दुःखी न हों। अपने गोदाम का बीमा कराया हुआ है अपना सारा नुकसान बीमा कम्पनी भरेगी। यह सुनते ही उस व्यापारी की आंखों के आंसू गायब हो गये और चेहरे पर मुसकराहट फैल गई। तभी सेठ का लड़का आ गया और बोला—पिताजी, अपने बीच उस गोदाम का बीमा कराने की बात जरूर हुई थी लेकिन बीमा कराया नहीं था सो यह सारा नुकसान अपना ही मानिये। अब सेठ जी की मुसकराहट गायब और फिर आंखों से आंसुओं की झड़ी लग गई।

ऐसी होती हैं मन की चित्र-विचित्र अवस्थाएं जो बाह्य परिस्थितियों के अनुसार जब बनती और बदलती रहती हैं तब भीतर की शान्ति स्वयमेव ही नष्ट हो जाती है। क्योंकि तब मनुष्य का मन सुख-दुःख के भ्रम-भरे झूले में झूलता रहता है और अपनी स्थिरता एवं स्वस्थता को खो देता है। अतः इस मन को शरीर से पहले आत्मा से जोड़ने की जरूरत है ताकि वह आत्म-नियंत्रण में अनुशासित रहकर सत्पथ पर गमन करता रहे।

### विघातक वृत्तियाँ एवं प्रवृत्तियाँ

विघातक प्रवृत्तियाँ तभी फैलती हैं जब विघातक वृत्तियाँ पहले लोगों के दिलों में जन्म लेती हैं और मजबूती पकड़कर बाहर के कार्यों में उतरती हैं। ऐसी वृत्तियाँ लोगों के दिलों में क्यों पैदा होती है—इसके कारण वर्तमान युग की घोर भौतिक लिप्सा में रहे हुए हैं जो धन लालसा से भी जुड़ी हुई है तो कामवासना से भी। धन और काम की युति ने स्वार्थ को भीषण रूप दे दिया है और यह अंधा स्वार्थ विघातक वृत्तियों का विस्तार करता चला जा रहा है।

आज का मानव, भौतिक सम्पत्ति, सत्ता, पद और भोग विलास के पीछे पागल बनकर दौड़ रहा है। इस दौड़ में उसने नैतिकता का भी भान भुलाकर अनीति का पल्ला पकड़ लिया है तथा अनैतिक प्रवाह में अन्याय

और अत्याचार के रास्ते पर भी वह बेखबर बढ़ता चला जा रहा है। इस कारण प्रवृत्तियों पर रोक लगाने के लिये पहले विघातक वृत्तियों का विरोध करना होगा। इन दोनों से मानव को दूर हटने के लिये इस अनैतिकता से अपना पीछा छुड़ाना होगा। आज सबसे पहले जीवन व्यवहार में नैतिकता की पुनः प्रतिष्ठा करनी होगी तभी नैतिकता व मानवता का पक्ष मजबूत होगा। नैतिकता व मानवता के मूलाधारों पर ही धार्मिकता का वटवृक्ष फल-फूल सकेगा। उसी की शान्त और सुखदायक छाया में धर्म और आत्मा का स्वरूप स्पष्ट भी होगा तो स्वस्थ भी बनेगा।

आन्तरिक स्वस्थता के ऐसे धरातल पर ही व्यक्ति से लेकर समाज तक की सभी विघातक प्रवृत्तियों से सफल संघर्ष किया जा सकेगा। चूंकि विघातक वृत्तियां धार्मिकता के प्रसार से शिथिल बनकर नष्ट हो जायेगी, उनसे उपजने और फैलने वाली प्रवृत्तियां तब स्वतः ही समाप्त हो जायेंगी। इस पर्युषण पर्व में निश्चय कीजिये कि अपने विचार और व्यवहार में नैतिकता एवं मानवता को जगाना है। सबका भला सोचना चाहिये और मानवता के विरुद्ध एक भी कार्य नहीं करना चाहिये। ऐसा निश्चय करने के पूर्व अपने पिछले पापों का प्रायश्चित्त भी कर लेना चाहिये।

चिरकाल तक यदि स्थायी शान्ति का आनन्द लाभ लेना है तो जीवन को व्यापक शुभता के क्षेत्र में सुधारना और निखारना आवश्यक है जिससे सम्पूर्ण सामाजिक जीवन में शान्ति की स्थायी स्थापना हो सके। जब विषमताओं की परिस्थितियाँ समाप्त हो जायेंगी तो समता की भावना के प्रसार से स्वार्थों के धरे टूटेंगे और तदनुसार विघातक वृत्तियाँ एवं प्रवृत्तियाँ भी समाप्त होती जायेंगी।

### एक सामाजिक विघातक प्रवृत्ति—विवाह के सौदे

समाज के स्नेह और सहयोग की घात करने वाली एक खतरनाक प्रवृत्ति आज के इस सामाजिक जीवन में फैल रही है जिसके भयंकर दुष्परिणाम सबके सामने प्रकट हो रहे हैं। उसके विरोध में जैसे कठिन प्रयत्न होने चाहिये अभी तक वैसे प्रयत्न होते हुए दिखाई नहीं दे रहे हैं—यह खेदजनक वस्तुस्थिति है।

यह सामाजिक विघातक प्रवृत्ति है विवाहों में की जाने वाली सौदेबाजी और परिणाम स्वरूप बाद में होने वाली नृशंस हत्याएँ आदि। आज विवाह जो दो खानदानों के स्नेह मिलन का आधार था घृणित सौदेबाजी का साधन बन गया है। यह कहा जा सकता है कि आज विवाह एक युवक और एक युवती के बीच कम, धन व आडम्बर के साथ अधिक किया जाता है। दहेज की बीमारी

आज शरीर की किसी भी असाध्य बीमारी से भी अधिक सांघातिक बनी हुई है। उसकी वजह से अनेक कन्याओं को आत्मघात करने पर मजबूर किया जाता है। एक कन्या चाहे कितनी ही सुशील, गुणी और धार्मिक हो, किन्तु यदि उसके पिता धनहीन हैं तो कन्या से वरपक्ष अपना मुंह फेर लेता है। वर का पिता कन्या की गुणसम्पन्नता और सुन्दरता की तरफ नहीं देखता बल्कि उसकी लालची आंख कन्या के पिता की धन सम्पन्नता की तरफ लगी रहती है। वह तो देखता है कि विवाह में कन्या का पिता कितना धन देगा तथा छल या दबाव से कितना धन और खींचा जा सकेगा।

आज के जमाने में 'हम दहेज नहीं लेंगे' ऐसा नारा तो लगाया जाता है, किन्तु नारे लगाने वाले भी दूसरे माध्यमों से चोरी छिपे दहेज बटोरने की चेष्टा में लगे रहते हैं। ऐसे रूपों में दहेज इस तरह लिया जाता है कि उसे दहेज का नाम न दिया जा सके। इन्दौर में एक धनी घराने का तरुण मेरे पास आकर रोने लगा कि मेरे पिता ने केवल दहेज के लालच में एक कुलक्षणी कन्या से मेरा विवाह कर दिया और अब मैं बहुत दुःखी हो गया हूँ। घर में रोज महाभारत मचता रहता है जिससे छुटकारा पाने का मुझे कोई उपाय नहीं सूझ रहा है। इस परिस्थिति पर आप भी जरा चिन्तन करें कि उसके पिता ने धन तो ले लिया किन्तु अपने पुत्र का सारा जीवन दुःखपूर्ण बना दिया। क्या यह लाभ का व्यापार रहा? आप तो अधिकांशतः व्यापारी हैं, जरा लम्बी नजर से वैवाहिक सौदेबाजियों को परख लें तो समझ में आ जायेगा कि यह अन्ततः घोर हानि का व्यापार है।

जिस नारी की पवित्र कोख से सृष्टि निर्मित हुई है, उस नारी की माँ, बहिन या पत्नी के रूप में पूजा होनी चाहिये, उसे क्रय-विक्रय की सामग्री बना दिया है। एक खिलौना मानकर चाहे जैसे दामों पर बेचा जा रहा है। यह दहेज का व्यापार समाज के माथे पर लगा हुआ वह कलंक है जो कभी सारे सामाजिक धरातल को ही क्षत-विक्षत बना देगा। बाजार में प्राणियों का मांस बेचा जाता है लेकिन विवाहों के ये सौदागर जिन्दा शरीरों का मांस बेचते और खरीदते हैं और फिर भी अहिंसा को मानने की दुहाई देते हैं। दस शर्तों में से विवाह के समय यदि कोई एक शर्त जो किसी विवशता के कारण रह जाती है तब सारा वरपक्ष उस नव-विवाहिता का शत्रु बन जाता है। उसके साथ रोज कहने सुनने से लेकर मारने पीटने और क्रूर यातनाएँ देने की घटनाएँ सामने आती हैं। नवयुवतियों को जला कर या अन्य प्रकार से मार डालने के समाचार भी रोज पढ़ने को मिलते हैं। आश्चर्य इस बात का भी होता है कि ऐसी अधिकतर दुर्घटनाएँ सभ्रान्त एवं शालीन कहे जाने वाले उच्च परिवारों में होने लगी हैं।

एक समय ऐसा था जब लड़कियाँ मजबूरी में बिकती थीं और आज लड़के धड़ल्ले से बेचे जाते हैं। यही नहीं, कन्या पक्ष से लूटे जाने वाले तिलक, दहेज के धन से अपने परिवार की गौरव वृद्धि होने का गरूर भी करते हैं। जो कुछ भी है यह सब समाज विघातक दानवी वृत्ति है, जो मानवता के मूल्यों को नष्ट भ्रष्ट करती जा रही है। इस समाज विघातक प्रवृत्ति का सबसे बुरा असर मध्यम वर्ग एवं इस वर्ग की कन्याओं को भोगना पड़ रहा है। इस ओर सभी का ध्यान जाना चाहिये, चाहे वे राज्य सत्ता के नेता हों या सामाजिक क्षेत्र के अग्रणी नेता। इसके लिए कानून का आश्रय लेना पड़े अथवा आन्दोलन का, किन्तु इस दहेज के राक्षस का अन्त मानवता के हित में अत्यावश्यक है।

### दहेज की राक्षसी विघातक प्रवृत्ति

एक मध्यम वर्ग का व्यक्ति अपनी गुणवती कन्या का विवाह अपने समकक्ष परिवार में ही करना चाहता है किन्तु दहेज की मांग के चलते वह मुंह फेर लेता है। तब वह अपने से भी कमजोर स्थिति वाले भाई के पास जाता है, परन्तु वह भी भारी दहेज के बिना कन्या को स्वीकार करने से इनकार कर देता है। इस अवस्था में कई बार ऐसा होता है कि कन्या का पिता कड़ी शर्तों पर कर्जा लेता है और अपनी कन्या का विवाह रचाता है। लेकिन विवाह के बाद उस पर मुसीबतों का पहाड़ टूट पड़ता है। एक ओर वह अपने परिवार के भरण-पोषण से ऊपर उठ नहीं पाता कर्ज का ब्याज तक नहीं चुका पाता है। दूसरी ओर कन्या का पति व सास-ससुर नित नई मांग खड़ी करते रहते हैं जिनकी पूर्ति के अभाव में उसकी जान की धमकियाँ देते रहते हैं। कई बार तो विवाहित कन्या को अपने घर पर ही सुरक्षा देनी पड़ती है जिस कारण उसका मानसिक तनाव बढ़ जाता है। ऐसी ही विकट परिस्थितियों में आत्मघात या हत्याओं की दुर्घटनाएं घटित होती हैं। लेकिन याद रखें कि धार्मिक दृष्टि से भी इस क्रूरता का पाप कन्या को कम और दोनों परिवारों को अधिक लगेगा। वर का परिवार भयंकर अपराधी माना जायेगा। दहेज जैसे राक्षसी दुष्कृत्य के परिणाम में अनुमोदना के पाप के भागी भी कई सारे लोग होते हैं।

मानवता को तिलांजलि देकर दानवी क्रूरता का वातावरण बनाने वाले सभी पापी कहे जायेंगे। जब तक वे हृदय से धार्मिक नीतिमत्ता को अपनाकर अपने जीवन को नैतिक नहीं बना लेते हैं, तब तक वे चाहे जितनी धार्मिक क्रियाओं का पालन करते हुए दिखाई दें, उन क्रियाओं का कोई शुभ फल उन्हें नहीं मिलेगा।

समाज के अन्दर निरन्तर फैलती हुई विघातक प्रवृत्तियों में दहेज के अलावा अन्य कुछ इस प्रकार हैं—विवाह के आयोजनों में आडम्बर और धन का दिखावा, अंधी काम लिप्सा और गर्भपात, मृत्यु भोज, सार्वजनिक रुदन जैसी कुरीतियों का चालू रहना। रीति-रिवाजों का बोझा बढ़ना आदि। इन विघातक प्रवृत्तियों को रोकने के साथ सामाजिक क्षेत्र में अन्य विधायक प्रवृत्तियों को प्रारंभ करने का भी प्रश्न है जिनसे युवक और युवतियों को नीतिमय संस्कार, सादा जीवन तथा सहयोगपूर्ण, व्यवहार मिल सके। यदि ऐसा किया जा सका तो समाज का भविष्य आत्मोन्नति के सुनहरे प्रकाश में नई करवट ले सकेगा।

### विघातक प्रवृत्तियों को रोकने के लिये प्रतिज्ञा लें

पर्युषण पर्व के इन पावन दिनों में अपनी आत्मालोचना के साथ सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण करें। उनको संशोधित करने के उपायों पर चिन्तन करते हुए विघातक प्रवृत्तियों को रोकने के लिये प्रतिज्ञा लें। ऐसी प्रतिज्ञा कि प्राण चले जायें पर प्रतिज्ञा अटल रहे। बिना ऐसी संकल्पबद्धता के वर्तमान समाज का सुधार और हित साधना संभव नहीं है। सभी विकासकामी आत्माओं को गंभीरतापूर्वक सोचना चाहिये कि मानवता और नैतिकता का अपने आचरण में समावेश किये बिना जीवन में धार्मिकता का उदय नहीं होता है। जब तक समाज में फैल रही उपर्युक्त विघातक प्रवृत्तियों पर कारगर रोक नहीं लगाई जायेगी तथा समता भरे वातावरण की रचना नहीं की जायेगी तब तक यह मानना कठिन होगा कि मानवता और नैतिकता के मूल्य प्रतिष्ठापित हो गये हैं।

यों दहेज की समस्या का सन्तोषजनक समाधान निकालने के लिये इन तीन उपायों का प्रयोग किया जा सकता है—1. वर के माता-पिता तथा स्वयं वर यह निश्चय करें कि प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति से दहेज की मांग नहीं की जायेगी। 2. युवा वर्ग में भी ऐसा वातावरण बनना चाहिये कि दहेज मांगने का दुस्साहस न हो एवं कन्या के गुणों को सर्वोच्च महत्त्व दिया जाये। 3. जितनी भी कुंवारी कन्याएँ हैं, उन्हें निश्चय कर लेना चाहिये कि दहेज का सौदा करने वाले राक्षस के घर जाने की बजाय ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करेंगी।

हालांकि तीनों उपाय अपने आप फलित होने वाले नहीं हैं। इनके लिये युवा वर्ग में एक जोरदार अभियान चलना चाहिये कि युवक और युवतियाँ निश्चय करने और निश्चय को कार्यान्वित करने में अधिकाधिक रूप से अनुप्रेरित हो सकें।

### विधायक प्रवृत्तियाँ प्रारंभ करें

विघातक प्रवृत्तियों पर रोक लगाने का एक यह भी प्रभावशाली उपाय हो सकता है कि सभी क्षेत्रों में अधिक से अधिक विधायक यानी रचनात्मक प्रवृत्तियाँ प्रारंभ की जायें जिनका सम्बन्ध सामाजिक सुधार एवं नव निर्माण के साथ हो। ऐसी प्रवृत्तियों के प्रारंभ हो जाने से कई व्यक्तियों को अपनी रुचि के अनुरूप कार्यक्षेत्र मिल जायेगा। इसकी वजह से कई लोग विघातक प्रवृत्तियों से दूर हटकर विधायक प्रवृत्तियों में लग जायेंगे जो धीरे-धीरे विघातक प्रवृत्तियों के अन्त का कारण बन सकेगा।

समाज में वातावरण का बहुत प्रभाव होता है। कुछ प्रबुद्ध और कर्मठ लोग आगे आकर किसी भी विघातक प्रवृत्ति के विरुद्ध और विधायक प्रवृत्ति के पक्ष में एक बार वातावरण बना दें तो उस वातावरण का अनुसरण करने वाले अनेक लोग मिल जायेंगे। इससे अपेक्षित सुधार सफल बन जायेगा। इसलिये विवेकवान पुरुषों को अब आगे आकर समाज सुधार का बीड़ा उठाना ही चाहिये।

दिनांक 07.09.1986

(जलगांव)



## 8

## तपाराधन कदें

धर्म जिनेश्वर मुझ हिवड़े बसो...

आज इस पर्युषण महापर्व का अन्तिम दिन उपासना के मध्य व्यतीत हो रहा है। गत सात दिनों की आराधना आज के दिन परिपक्व बनकर आचरण को सुव्यवस्थित बनावे तथा जीवन में स्थिरता को स्थापित करे। आज का दिन मुख्यतः इस उद्देश्य के लिये है कि पिछले वर्ष की त्रुटियों और भूलों का परिमार्जन करें। उनके लिये अभी क्षमा याचना हो और भविष्य में उनकी पुनरावृत्ति न हो सके—ऐसा संकल्प बनावें। आज का दिन इस कारण भी विशेष महत्त्वपूर्ण है कि सात दिन के तपाराधन के बाद आज की तपश्चर्या विशेष उल्लेखनीय हो।

जीवन में भौतिक तत्त्वों के प्रति सघन बनी मोहाविष्टता को शिथिल करने तथा सम्पूर्ण वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों को आत्मोन्मुखी बनाने के लिये तपश्चर्या का विशेष महत्त्व एवं प्रभाव बताया गया है। तप शरीर को तपाता है और उसे मोह के घेरे से हटा कर धार्मिकता का परिपक्व साधन बनाता है। तप आत्मा को तपाता है और उसके स्वरूप पर पड़े कर्मावरणों को हटाता है। तपाराधन से मन पर भी अंकुश लगता है और वह आत्मा के अनुशासन में कार्यरत बनता है। तप समग्र रूप से जीवन के विकास को प्रभावित एवं प्रकाशित करता है।

### तप : संशोधन का सशक्त साधन

तप को उस अग्नि की उपमा दी जा सकती है, जिसमें मैल भरा अशुद्ध स्वर्ण शुद्ध ही नहीं होता बल्कि कुन्दन का अति विशुद्ध रूप ग्रहण कर लेता है। उसी प्रकार तप एक साथ आत्मा, शरीर और मन को तपाकर सबको एक साथ एक लक्ष्य की दिशा में चलने के लिये तत्पर बना देता है। यही कारण है कि पर्युषण महापर्व के आयोजनों में तपाराधन को अति विशिष्ट स्थान मिला हुआ है।

तपाराधन से लौकिक एवं लोकोत्तर दोनों प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं, क्योंकि उसी की सहायता से इन्द्रियों और शरीर के द्वारा भी अपनी प्रवृत्तियों में संशोधन का प्रसंग उपस्थित होता है। लौकिक लाभ जहां शारीरिक स्वास्थ्य में निरोगता लाता है, वहां तप की आराधना से होने वाले लोकोत्तर लाभ का कोई हिसाब ही नहीं है। कारण, जितना भावनापूर्ण कठिन तप, उतनी ही कर्मों की अधिक निर्जरा और आत्म-स्वरूप की अधिक निर्मलता। यह निर्मलता सम्पूर्ण निर्मलता तक तपाराधन से चलती रहती है जो एक दिन मुक्तिद्वारा तक पहुँचा देती है।

दूसरे पहलू की ओर देखें तो आज जितना आत्म-स्वरूप अज्ञान के अंधकार एवं कर्मों के आवरण से आच्छन्न है, उतने ही कठिन तपाराधन की आवश्यकता है। सामान्यतः मनुष्य इन्द्रिय जन्य आमोद-प्रमोद में या तो व्यस्त रहता है अथवा उन्हें येन-केन प्रकारेण प्राप्त कर लेने की दौड़ में व्यस्त रहता है। उसका ध्यान आत्मस्वरूप, आत्म विकास या तपाराधन की तरफ मुश्किल से ही जाता है। वह यह भी कम ही सोचता है कि जो आत्म-शक्तियों से भरा-पूरा विराट जीवन मिला है, उसकी भौतिकता एवं शरीर सुख के छिछले कार्यों में बर्बादी नहीं करनी चाहिये। ऐसी असावधानी को दूर करने तथा उनका संशोधन एवं परिमार्जन करने के लिये ही तपाराधन की उपयोगिता कही गई है और तपाराधन को पर्युषण पर्व का आत्मिक शृंगार बताया गया है।

### तपाराधन का शास्त्रीय महत्त्व

भगवान् से प्रश्न किया गया कि तप का आचरण करने से क्या फल प्राप्त होता है? उत्तर मिला—तप से पूर्व में बंधे हुए कर्मों का नाश होता है तथा आत्मा विशिष्ट शुद्धि प्राप्त करती है। तप रूपी बाण चढ़ाकर मुनि कर्म रूप कवच का भेदन कर देता है और संग्राम से निवृत्त होकर इस संसार से मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार नवीन पाप कर्म रोक देने पर तपस्वी साधुओं के करोड़ों भवों के संचित कर्म तप द्वारा नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि जिस तालाब में नया पानी आना बन्द है, उसका भरा पानी बाहर निकालने से और तप की धूप से धीरे-धीरे सूख जाता है।

यह निर्देश दिया गया है कि तप की आराधना कर आत्मा को उज्ज्वल बना दो। जैसे अग्नि जीर्ण काष्ठ को शीघ्र ही जला देती है, उसी प्रकार आत्म समाधिवन्त मुनि तप रूप अग्नि से कर्म रूपी काष्ठ को शीघ्र ही जला देते हैं। तप ऐसा करना चाहिये कि विचारों की पवित्रता अभिवृद्ध हो एवं

इन्द्रियों की शक्ति बनी रहे ताकि दैनिक कर्तव्यों में शिथिलता न आने पाए। जो तपस्वी है, दुबला-पतला है, इन्द्रियों का निग्रह करने वाला है, उग्र तप कर जिसने शरीर का रक्त और मांस सुखा दिया है, जो शुद्ध व्रत वाला है, जिसने कषाय को शान्त कर आत्मशान्ति प्राप्त की है, उसी को शास्त्रों में ब्राह्मण कहा गया है। क्योंकि साक्षात् तप की ही विशेषता दिखाई देती है, जाति में कोई विशेषता नहीं है।

इस दृष्टि से तपाराधन के पूर्व अपने आरोग्य, अपने विश्वास तथा तप के स्थान को भलीभांति तोल लेना चाहिये ताकि शरीर व इन्द्रियों की आवश्यक क्षमता को बनाये रख कर आत्म विवेक को जागृत किया जा सके। तप कभी भी बाहरी प्रतिष्ठा, कीर्ति लालसा अथवा लोकपूजा की भावना से नहीं किया जाना चाहिये तथा न ही तपस्या के पूर्ण होने पर समारोह या आडम्बर करना चाहिये। तप से जिस सरलता का विकास होता है, बाहर भी वैसी ही सादृगी रहनी चाहिये।

तपस्या मात्र भूखे रहना ही न मानें। भूखे रहने का अर्थ शरीर को तपाना है इस उद्देश्य से कि उमड़ती हुई सांसारिक इच्छाओं पर अंकुश लगाया जाय। मूल में इच्छाओं को रोकना ही विशिष्ट तप कहा गया है क्योंकि इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त होती हैं। उनकी पूर्ति के लिये जो समय और श्रम खोया जाता है, वह आत्म-विकास की दृष्टि से निरर्थक होता है।

उसी तपस्या को श्रेष्ठ कहा गया है जिसके द्वारा क्रोध को जीता जाता है और क्षमाशीलता के परिवेश में सम्यक् बोध के साथ आध्यात्मिक क्षेत्र में गति करने की प्रेरणा मिलती है। श्रमण के जीवन में आत्म समाधि का प्रभावशाली साधन तपाराधन ही होता है। क्योंकि धृति को ही तप का मूल माना गया है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि महाबली मोहनीय कर्मों की निर्जरा कठिन तप के बल से की जाती है।

वही उन्नायक तपाराधन माना गया है जिसके प्रभाव से शरीर और इन्द्रियाँ क्षीण हों लेकिन आत्म बल निरन्तर बढ़ता जाए। जहां तपाराधन है, वहां संयम भी अक्षुण्ण रहता है और एक संयमी साधक तपस्वी बनने की भी अभिलाषा रखता है।

मूल रूप से जिस अनुष्ठान से शरीर के रस, रक्त आदि सात धातु और आठ कर्म तप कर नष्ट हो जाएं, वही तप है। तप के छः रूप बाह्य तो छः रूप आभ्यन्तर कहे गये हैं।

### तपाराधन के बारह प्रकार

तपाराधन के बारह प्रकार शास्त्रों में बताये गये हैं जिनमें से पहले छः बाह्य तथा अन्तिम छः आभ्यन्तर हैं। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(अ) शरीर से सम्बन्ध रखने वाले छः प्रकार के बाह्य तप—1. अनशन-आहार का त्याग करना अनशन तप है जो एक उपवास से लेकर छः माह तक की अवधि (इत्वर अनशन) तक का होता है। 2. ऊनोदरी—जिसका जितना आहार है उससे कम आहार करना ऊनोदरी तप है। आहार की तरह आवश्यक उपकरणों से कम उपकरण रखना भी ऊनोदरी तप है। आहार एवं उपकरणों में कमी करना द्रव्य ऊनोदरी है तो क्रोध आदि का त्याग करना भाव ऊनोदरी है। 3. भिक्षाचर्या—विविध अभिग्रह लेकर भिक्षा का संकोच करते हुए विचरना भिक्षाचर्या तप है। अभिग्रह पूर्वक भिक्षा करने से वृत्ति का संकोच होता है। अभिग्रह अनेक प्रकार के बताये गये हैं। 4. रस परित्याग—विकार जनक घी, दूध, दही आदि विगयों का तथा स्निग्ध व गरिष्ठ खानपान की वस्तुओं का त्याग करना रस परित्याग है। 5. कायक्लेश—शास्त्र सम्मत रीति से शरीर को क्लेश पहुँचाना काय क्लेश है। उग्र वीरासन आदि आसनों का सेवन करना, लोच करना, शरीर की शोभा शुश्रूषा का त्याग जैसे काया क्लेश तप के कई प्रकार हैं। 6. प्रतिसंलीनता—प्रतिसंलीनता का अर्थ होता है गोपन करना जिसके चार भेद हैं—इन्द्रिय प्रतिसंलीनता, कषाय प्रतिसंलीनता, योग प्रतिसंलीनता तथा विविक्त शय्यासनता।

(ब) आत्मा के भावों से सम्बन्धित आभ्यन्तर तप के छः भेद—

1. प्रायश्चित्त—जिससे मूल गुण व उत्तर गुण विषयक अतिचारों से मलिन आत्मा शुद्ध हो उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। प्रायः का अर्थ पाप और चित्त का अर्थ शुद्धि, अतः पाप की शुद्धि का अनुष्ठान प्रायश्चित्त तप है। 2. विनय—आठ प्रकार के कर्मों को अलग करने हेतु रूप क्रिया विशेष को विनय कहते हैं। विनय के रूप हैं—सम्मान्य गुरुजनों के आने पर खड़ा होना, हाथ जोड़ना, उन्हें आसन देना, उनकी सेवा करना आदि। 3. वैयावृत्य—धर्म साधन के लिये गुरु, तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित आदि को विधिपूर्वक आहार आदि लाकर देना और उन्हें संयम पालन में यथाशक्ति सहायता करना वैयावृत्य तप है। 4. स्वाध्याय—मर्यादापूर्वक शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन आदि करना स्वाध्याय तप है जिसके पांच भेद हैं—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा। 5. ध्यान—आर्तध्यान और रौद्रध्यान को त्याग कर धर्मध्यान और शुक्लध्यान धरना ध्यान तप कहलाता है। 6. व्युत्सर्ग—ममता का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है। यह द्रव्य और

भाव से दो प्रकार का है—गण, शरीर, उपधि और आहार का त्याग करना द्रव्य व्युत्सर्ग है। कषाय, संसार तथा कर्म का त्याग करना भाव व्युत्सर्ग है।

बाह्य तप मुक्ति के बाह्य अंग कहलाते हैं और प्रायः बाह्य शरीर को तपाते हैं। आभ्यन्तर तप मोक्ष प्राप्ति के अन्तरंग कारण होते हैं। जिस आत्मा की दृष्टि अपनी आन्तरिकता में उतरती है, तभी वह आभ्यन्तर तप साध सकती है। इनका असर बाह्य शरीर पर नहीं पड़ता, किन्तु वृत्तियों में रहे हुए राग-द्वेष, कषाय आदि पर पड़ता है। इनका सविशेष महत्त्व होता है।

### आत्म संशोधन एवं वृत्ति-परिमार्जन

तपाराधन के दिव्य महत्त्व को समझते हुए विवेकशील व्यक्तियों को यह सोचना चाहिये कि उन्होंने विगत बारह मास में क्रोध, वैर, विरोध आदि विकारों का सेवन किया हो, अहिंसा व सत्य आदि का समुचित रीति से पालन न किया हो और वे अपने सभी प्रकार के कर्तव्यों से कहीं पर भी स्खलित हुए हों तो तत्सम्बन्धी भूलों के लिये प्रायश्चित्त करें एवं उन भूलों से कष्टित हुए व्यक्तियों से नम्र हृदय के साथ क्षमायाचना करें। इससे आत्मस्वरूप का संशोधन होगा एवं आन्तरिक वृत्तियाँ परिमार्जित होंगी। ऐसे सत्पुरुषार्थ को सफल बनाने पर ही यह अनुभूति होगी कि यह पर्युषण महापर्व कैसे अलौकिक उत्साह एवं आत्मिक आनन्द को देने वाला दिव्य पर्व है।

विशेष रूप से प्राप्त होने वाला ऐसा आत्मिक आनन्द अधिक अपूर्व प्रतीत होगा, जबकि इस दुनिया में चारों ओर अशान्ति ही अशान्ति फैली हुई है। यदि सारे संसार में शान्ति का कोई विश्रामस्थल है तो वे वीतराग देव के अमृतमय वचन ही हैं। यह पर्युषण उन्हीं उत्कृष्ट वचनों के अनुसार अपने जीवन को ढालने का पर्व है। समवायांग सूत्र के मूल पाठ में उल्लेख है कि अपने स्वयं के स्वरूप के साथ भगवान् महावीर स्वामी ने चातुर्मास काल के प्रारंभ के दिन से एक माह और बीस दिन-रात्रि समाप्त होने पर इस पर्युषण महापर्व का प्रस्थापन किया।

जब युग का परिवर्तन होता है या किसी खंड के विकास होने का अवसर आता है तब सृष्टि का रूपान्तर प्रकट होता है जिसे शास्त्रों की दृष्टि से आरा (कालखंड) कहा जाता है। इसका प्रारंभ श्रावण बदी एकम को होता है। इन आरों की शृंखला में अभी पंचम आरा चल रहा है जो इक्कीस हजार वर्षों के बाद समाप्त होगा। तब छठा आरा प्रारंभ होगा जो इक्कीस हजार वर्ष का होगा। कहा गया है कि छठे आरे के अन्त में मानव की स्थिति अत्यन्त दयनीय बन

जाएगी। आज मानव अनीति के जिस मार्ग पर चल रहा है, उससे प्रतिदिन नशीले पदार्थों का सेवन बढ़ रहा है। गर्भपात एवं भ्रूण हत्याएँ हो रही हैं और नाना प्रकार की बुराइयों का दायरा फैलता जा रहा है। पतन की ओर ऐसी गति का अन्त विनाश में ही तो पूरा होगा। यदि अब भी वर्तमान परिस्थितियों में शुभ परिवर्तन नहीं लाया जाता है तथा आत्म-संशोधन एवं वृत्ति परिमार्जन का पुरुषार्थ नहीं किया जाता है तो उसके दुष्परिणाम बड़े ही भयावह होंगे।

बताया गया है कि छोटे आरे में मानव तन की ऊँचाई मात्र एक हाथ की रह जाएगी। उस काल में अति शीत और अति उष्ण रहेगा। रात्रि एकदम ठंडी और दिन एकदम गर्म। तरह-तरह की मुसीबतें इस कदर उमड़ेंगी कि मनुष्य का जीना मुश्किल हो जाएगा। उसे अपनी सुरक्षा के लिये पहाड़ों की गुफाओं में रहना शुरू करना पड़ेगा। दिन में ही वह सुबह एवं शाम को बाहर निकल कर जंगल में अपना भोजन-पानी तलाश सकेगा। मानव की असुविधाएँ भी बढ़ेंगी तो उसकी क्रूरता भी। अतः ऐसी दुरवस्था के पूर्व ही आज के मानव को अपनी आत्मा को विकसित बनाने की प्रक्रिया प्रारंभ कर देनी चाहिये। पर्युषण पर्व का यह स्वर्णिम अवसर है कि मानवता का अवलम्बन लेकर जीवन का पूर्ण सदुपयोग किया जाये।

### अहिंसा, संयम और तप की साधना

शास्त्रकार कहते हैं कि धर्म उत्कृष्ट मंगल रूप होता है, तो प्रश्न उठता है कि वह धर्म कैसा हो? बताया गया है कि वह धर्म अहिंसा, संयम और तप का साधना रूप होना चाहिये तथा जिस साधक का मन सदैव इस प्रकार के धर्म में तल्लीन रहता है, उसे स्वर्ग के देवता तक नमस्कार करते हैं। ऐसे अहिंसा, संयम और तप रूप साधना से युक्त धर्म के पालन का प्रशिक्षण लेने का भी यह पर्युषण महापर्व सर्वथा उपयुक्त अवसर है।

पर्युषण पर्व के समय-निर्धारण का यह कारण है कि चातुर्मास के प्रारंभ में किसान, व्यापारी आदि सभी वर्गों के व्यक्ति अपने व्यवसाय के निमित्त से व्यस्त हो जाते हैं। लेकिन चातुर्मास के पचास दिन व्यतीत हो जाने के बाद उनको थोड़ा विश्राम मिलता है। इस कारण इन दिनों में धर्म ध्यान रूप अहिंसा, संयम और तप की साधना करने हेतु अवसर भी मिलता है तो अभिरुचि भी जागती है। यह पर्व एक प्रधान सन्देश भी देता है कि आन्तरिक आनन्द की उपलब्धि करो और उसी अमूल्य उपलब्धि के लिये अहिंसा, संयम और तप की साधना करो। यह सन्देश किसी विशेष वर्ग, जाति या क्षेत्र के लिये नहीं है,

अपितु सम्पूर्ण मानव जाति के लिये है। यह सन्देश समस्त प्राणियों के लिए हितावह है।

अपने चैतन्य देव की उपासना में स्थित होना—यह सारे उद्देश्यों का मूल है। इन दिनों में बाहरी दृश्यों में फैले हुए अपने बुरे विचारों को हटाकर निजानन्द में रमण करना सीखना चाहिये। निजानन्द की प्रतीति होगी अहिंसा, संयम एवं तप की साधना से। अहिंसा, हिंसा का तो समूल नाश चाहती ही है यह भी सिखाती है कि आप दूसरों के साथ वही व्यवहार करें जैसा व्यवहार आपको प्रियकर और सुखदायक लगता है। यह 'जीओ और जीने दो' का मूल मंत्र है बल्कि 'जीने दो' में अपने त्याग और बलिदान का भी समावेश करता है। अपना जीवन सर्वप्राणी-हितकर एवं सुखकर बन जाएगा तो संयम स्वतः ही आत्म धर्म रूप ले लेगा। अहिंसा, संयम की साधना से निर्मल बनता हुआ आत्म-स्वरूप तब तपाराधन द्वारा उसे निर्मलतम बना देना चाहेगा।

आत्मस्वरूप को सुधारना, उसे श्रेष्ठ सद्गुणों से संवार कर उस स्वरूप को परमोज्ज्वल बना देना ही इस जीवन का चरम लक्ष्य है। लक्ष्य की दिशा में सम्यक् भाव से आगे बढ़ने की शक्ति और उमंग इस पर्वाराधन से संचित की जा सकती है। इस प्रसंग पर उपवास, बेला, तेला, आर्यंबिल आदि तपाराधन का शास्त्रों में प्रावधान है जिसका विवरण अभी स्पष्ट किया गया है। बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रकार की तप-परिभाषा में और उनका महत्त्व भी स्पष्ट किया गया है। वीतराग देवों का वचन है कि तप की आराधना से विकारों को जीतिये तथा अपने आत्मस्वरूप को पहचानिये। मनुष्य का मन-मस्तिष्क भी विविध-शक्तियों का केन्द्र होता है अतः उसकी ऊर्जा शक्ति का भी सदुपयोग कीजिये। किन्तु इस अवसर पर भी जो व्यक्ति अपने विकारों एवं व्यसनों का दमन नहीं कर पाता है वह आने वाले पूरे वर्ष में अशुद्ध वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों के बहाव में ही बहता रहता है।

### शुद्धीकरण का अपूर्व अवसर

आयुर्वेद शास्त्र में कहा गया है कि जब मनुष्य के शरीर में तीन प्रकार की विकृतियाँ बल पकड़ती हैं तब शरीर में भांति-भांति के रोग फैलते हैं। ये तीन विकृतियाँ होती हैं—वात, पित्त एवं कफ। शरीर में ये तीनों विकृतियाँ जोर न पकड़ें—ऐसे प्रयास निरन्तर चालू रहने चाहिये। आत्मशुद्धि के संदर्भ में यह अपूर्व अवसर है कि भाव विकारों का शुद्धीकरण के साथ दमन किया जाए कि बाहरी प्रवृत्तियाँ भी तदनुसार शुद्ध स्वरूप ग्रहण कर लें। आज संवत्सरी के दिन

उपवास करने व पोषध रखने का जो विधान है, उसका अर्थ यह है कि इस शरीर की विकृतियां तो मंद होंगी ही, आत्मस्वरूप की विकृतियां भी ज्ञान एवं तप की साधना से शिथिल होंगी। ऐसे प्रयास निरन्तर चालू रहे तो इन विकृतियों का विनाश भी कठिन नहीं रहेगा।

वीतराग देव के सिद्धान्तों में विवेक को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। तपाराधन तक में विवेक जागृत रहना चाहिये। अष्टप्रहरी पोषध करना है किन्तु गर्भवती महिलाओं, रोगियों आदि को इसकी छूट रहती है। यह भी ध्यान रखा जाए कि घर के पशु-पक्षी भूखे न रहें।

आत्मा के शुद्धीकरण का एक प्रबल साधन तपाराधन है तो उस दृष्टि से क्षमापना का महत्त्व भी कम नहीं है। आज का दिन समस्त प्राणियों से अपनी भूलों के लिये क्षमा मांगने का तथा सबको शुद्ध हृदय से क्षमा कर देने का प्रसंग है। सावधानी रखते हुए भी मानव से प्रतिदिन भूलें हो ही जाती हैं, इसीलिये तो एक अंग्रेजी कहावत में बताया गया है कि भूल करना मनुष्य का स्वभाव होता है किन्तु भूल के लिये क्षमा कर देना देवता का स्वभाव है। फिर भी जाने-अनजाने में पूरे वर्ष तक जो भूलें होती रही हैं, आज के दिन उनके लिये प्रायश्चित्त करना चाहिये। जिनके प्रति भूलें हुई हैं, उनसे नम्रता पूर्वक क्षमा मांगनी चाहिये।

जिन-जिन भव्य आत्माओं ने अपना शुद्धीकरण किया है, उन दिव्य पुरुषों का चरित्र अन्तगड सूत्र में गूँथा गया है। यह आपने पर्युषण पर्व के इन दिनों में सुना है। इन दिव्य पुरुषों के आदर्श जीवन का अनुसरण करते हुए साधु-साध्वी अपने संयमी जीवन को परिपूर्णता की ओर ले जाएं तो श्रावक-श्राविकाएँ भी दान, शील, तप के भावों की शुभ आराधना करें।

गृहस्थाश्रम में रहने वाले व्यक्ति यह न समझें कि वे तो अपनी चहारदीवारी में रहते हैं, उनके सिर पर कौन-सी जिम्मेदारियां हो सकती हैं? हर-एक गृहस्थ पर अपने परिवार, समाज तथा राष्ट्र के कर्तव्यों से लेकर विश्व शान्ति तक के दायित्व होते हैं। शास्त्रकारों ने श्रावकों के बारह व्रतों का भी पूर्ण विश्लेषण दिया है। इस दृष्टि से उनके कर्तव्य और दायित्व भी बहुमुखी तथा बहुआयामी होते हैं। इनकी सम्यक् रीति से पूर्ति तभी हो सकती है जब इस पर्व पर शुद्धीकरण की प्रक्रिया में अद्भुत प्रगति साधी जाए।

### क्षमाशीलता का आदर्श उदाहरण

शुद्धीकरण का स्पष्ट सुपरिणाम निकलता है क्षमाशीलता की परिपक्वता के रूप में। जब क्रोध आदि विकारों का दमन करके अशुद्धता का परिमार्जन



कर लिया जाता है तो प्राप्त शुद्धता के अनुरूप क्षमाशीलता की उच्चता उपलब्ध होती है। उच्च कोटि की क्षमाशीलता के आदर्श उदाहरण के रूप में उदयन महाराजा का उल्लेख आता है।

उदयन महाराजा एक विशाल राज्य के स्वामी थे। वे धार्मिक वृत्ति के उदार व्यक्ति थे तथा बारह व्रतधारी श्रावक भी। उनके महल में कुब्जा नाम की एक दासी थी जो देखने में कुबड़ी और कुरूप थी। उसकी नियुक्ति भोजनशाला पर थी ताकि वह साधु-साध्वियों तथा स्वधर्मी बन्धुओं की योग्य रीति से आहार सेवा कर सके। संयोग से वहां भोजनशाला में भोजन पान हेतु एक लब्धिधारी ऐसे फक्कड़ आये जो ऐसी सेवा भावी दासी की शारीरिक स्थिति पर पसीज गये। उन्होंने उसे एक ऐसी स्वर्ण गुटी दी जिसके सेवन के प्रभाव से वह सौन्दर्यमयी बन गई। उसकी अद्भुत सुन्दरता का वर्णन दूर-दूर तक फैल गया।

उस समय उज्जयिनी नगरी का राजा चंडप्रद्योतन था। वह पापाचार में लिप्त रहने वाला व्यक्ति था। जब उसने कुब्जा दासी की अद्भुत सुन्दरता का वर्णन सुना तो उसके दिल में उसको प्राप्त करने की इच्छा बलवती हो गई। कुब्जा का नाम तब स्वर्णगुटिका हो गया था। शक्तिशाली सम्राट उदयन से युद्ध करके उस दासी को प्राप्त करना चंडप्रद्योतन के सामर्थ्य में नहीं था। उसने छल बल से उस दासी का वहां से अपहरण करवा लिया। जब उदयन महाराज को पता चला कि राजा चंडप्रद्योतन ने चोरी से उनकी दासी को भगा लिया है तो वे इस अन्याय का प्रतिकार करने के लिये तत्पर हो उठे। वह एक दासी का प्रश्न नहीं था—एक अन्याय का प्रश्न था क्योंकि दासी को यदि वह मांग लेता तो वे उसे सहर्ष दे देते। किन्तु अपहरण तो एक जघन्य कृत्य था जिसे दंडित किया ही जाना चाहिये। अनीति को सह लेने से अनीति बढ़ जाती है। यह सोचकर उन्होंने राजा चंडप्रद्योतन को संदेश भिजवाया कि या तो वह अपहरण की गई स्वर्णगुटिका दासी को वापस उनके राज्य में भिजवा दे अथवा युद्ध के लिये तैयार हो जाए। वासनालिप्त चंडप्रद्योतन फिर भी नहीं माना। इस कारण युद्ध हुआ और चंडप्रद्योतन को हरा कर जीवित पकड़ लिया गया। उसे तब उदयन महाराजा के समक्ष प्रस्तुत किया गया। महाराजा ने उसकी ललाट पर 'मम दासी पति' लिखवाने तथा बन्दी बनाकर साथ ले चलने का आदेश दे दिया। जब सेना सहित महाराजा वापस अपने राज्य को लौट रहे थे तो मार्ग में उन्हें ज्ञात हुआ कि आज संवत्सरी पर्व है। वर्ष भर की आत्मशुद्धि का वह प्रसंग था। उन्होंने चंडप्रद्योतन को अपने सामने बुलाकर कहा कि संवत्सरी के कारण वे आज पोषध करेंगे और हमेशा की तरह उसके साथ बैठकर शामिल भोजन नहीं कर पायेंगे अतः

वह अपनी रुचि का भोजन बनवाकर स्वयं कर ले। वह दुर्बुद्धि था, उसने सोचा कि उसको अकेले भोजन करवाने का कोई षड्यंत्र न हो सो उसने भी उस दिन भोजन करने से मना कर दिया। तब सायंकाल प्रतिक्रमण करके उदयन महाराजा ने चंडप्रद्योतन से भी क्षमायाचना की। मौका देखकर चंडप्रद्योतन ने कटाक्ष करते हुए उत्तर दिया कि आपकी यह क्षमायाचना तो बहुत सस्ती है। मैं बन्दी हूँ और मेरी चहेती दासी आपने वापस ले ली है, फिर बिना मुझे मुक्त किये और दासी को लौटाये आपकी क्षमायाचना की क्या सार्थकता है? महाराजा उदयन तो उदार हृदय, सच्चे श्रावक और परम क्षमाशील थे सो उन्होंने चंडप्रद्योतन की इच्छा की पूर्ति करके अपनी क्षमा का आदर्श प्रस्तुत किया।

जहां क्रोध होता है, वहां क्षमा का उदय नहीं होता है। जहां विकृतियां खुलकर खेलती हैं, वहां शुद्धीकरण का प्रसंग प्रस्तुत नहीं होता है और जहां ममता का साम्राज्य बना रहता है, वहां तपाराधन की उत्कृष्टता फलीभूत नहीं होती है। अतः विकारों के दमन के साथ ही आत्मस्वरूप को परिमार्जित करके शुद्ध बनाने का अवसर आता है तथा उस अवसर का यदि तपाराधन के रूप में पूर्ण सदुपयोग किया जाये तो बाह्य कर्मों का क्षय करके आत्मस्वरूप की परम निर्मलता प्रकाशित की जा सकती है।

### सोना कुन्दन और आत्मा चन्दन

आग के धधकते अंगारे स्वर्ण के शत्रु नहीं होते हैं क्योंकि उन्हीं अंगारों के बीच बैठकर वह अशुद्ध स्वर्ण अपनी अशुद्धता जला कर परम विशुद्ध स्वरूप ग्रहण कर लेता है। उस स्वर्ण का परम स्वरूप उसे कुन्दन बना देता है। आत्मा के लिये भी यों मानिये कि तपाराधन उसके लिये परम पवित्र अनुष्ठान सिद्ध होता है। यह तप की अग्नि जितनी प्रखरता से प्रज्वलित होती है, कर्मों के गहरे आवरण उस अग्नि में जल उठते हैं और आत्मस्वरूप की मौलिकता अभिव्यक्त हो जाती है। आत्मा का स्वरूप चन्दन जैसा परम निर्मल हो जाता है। सोना कुन्दन और आत्मा चन्दन—ऐसा होता है अग्नि का सुप्रभाव जो अग्नि तपाराधन से तेजोमय बनती है।

पर्युषण पर्व के दिनों में तपाराधन आदि के पुरुषार्थ से आपने आत्म-शुद्धीकरण की जो पावन प्रक्रिया प्रारंभ की हो, उसे कल से शिथिल अथवा निष्क्रिय न बना दें। उसी उत्साह में इस प्रक्रिया को चलाते रहें ताकि स्वरूप निर्मलता बढ़ती रहे।

## 9

## क्षमाशील बनें

धर्म जिनेश्वर मुझ हिवड़े बसो...

आज का प्रसंग सर्वविदित है। क्षमायाचना अर्थात् क्षमा की प्रार्थना करना और क्षमा रूप में क्षमा देना तथा पुनः एकरूप हो जाना। यह उच्च कोटि की मानवता का लक्षण है। प्रभु महावीर का ही नहीं, अनन्त तीर्थकरों का यह प्रेरणादायक उद्बोधन है कि जहां परमात्मा के सच्चे भक्त बनने का सौभाग्य प्राप्त करना है तो दस प्रकार के धर्मों सहित क्षमा धर्म को हृदय से अपना लो।

इन्हीं तीर्थकर देवों ने श्रमण-श्रमणिवर्ग के लिये अनुकरणार्थ दिव्य संदेश दिया है कि साधु जीवन पृथ्वी के समान क्षमाशील होना चाहिये। जानते हैं कि पृथ्वी का कैसा स्वभाव होता है? यह पृथ्वी सबको समान रूप से आधार देती है—चाहे वह कोई भी व्यक्ति हो तथा वह उसके साथ कैसा भी व्यवहार करता हो। कोई चाहे इस पृथ्वी को नमस्कार करे, उसकी पूजा अर्चना करे अथवा कोई उस पर अशुद्धि फेंके, ठोकर मारे या जूते फेंके तब भी वह न किसी का सम्मान करती है और न किसी का तिरस्कार। समभाव का अतीव उच्च आदर्श प्रस्तुत करती है यह पृथ्वी। पृथ्वी जैसा स्वभाव बनाने का उद्बोधन श्रमण-श्रमणी-वर्ग के लिये दिया गया है, लेकिन श्रावक-श्राविका-वर्ग भी यथाशक्ति इसका अनुसरण करें।

उद्बोधन स्वरूप क्षमाशील बनने के ऐसे तीर्थकर देवों के वचनों को सभी श्रवण करते हैं, किन्तु देखने की बात यह है कि वास्तव में इन वचनों पर निष्ठापूर्वक आचरण कितने करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह उद्बोधन प्रायः ऊपरी स्तर पर रहता है। ऊपर-ऊपर ही तैरता हुआ दिखाई देता है, भीतर तक मुश्किल से ही पैठता है। क्षमाशीलता का दृष्टि बिन्दु जब भीतरी तह तक नहीं जा पाता है तो लगता है कि वह परदों की आड़ में बाहर ही रुक जाता है। खमतखामणा बाहर से करते तो हैं, हाथ जोड़ते हैं और सिर भी थोड़ा-सा झुका

लेते हैं, लेकिन अन्दर कितना झुकने का प्रसंग आता है, यह उनका दिल ही जानता होगा। हाथ और सिर झुका, पर मन और आत्मा झुकी या नहीं? इसका अवलोकन विरली आत्माएं ही करती होंगी।

### मन नहीं पिघले तो क्षमा कैसी?

क्षमाशील बनने का उद्बोधन तो सभी सुनते-सुनाते हैं और इतना कि एक तरह से यह सब सुनते-सुनते कान पक गये हैं। लेकिन यथार्थ में मन नहीं पिघलता है तो वह क्षमा मांगनी और देनी कैसी? ममत्व नहीं गलता तो क्षमाशीलता आयेगी कहां से? यह ममत्व अपनी धन-सम्पत्ति का हो सकता है या अहंकार आदि वृत्तियों का। यह अपनी पकड़ी हुई बात-हठ का भी हो सकता है या विषय-विकार का। ममत्व जिस बात का भी पकड़ लिया जाये वह हठ से जुड़ जाता है और हठ से जुड़कर यह मन तन जाता है। ऐसा तनाव जब गहरा हो जाता है तो वह मन क्षमाशील बनने को तैयार ही नहीं होता है। कभी आत्मा की आन्तरिक शक्ति क्षमा की दिशा में दौड़ती भी है तो उस कठिन ममत्व से टकराकर वापस लौट आती है और मोहवश पुनः संज्ञाहीन-सी हो जाती है। वह क्षमा का आवेग बाहर प्रकट नहीं हो पाता है।

आप जानते हैं कि नारियल को सर्वश्रेष्ठ फल माना जाता है। इसी कारण उसे श्रीफल कहते हैं। समझें कि ऐसे दो नारियलों को बाहर की चोटी के बालों से जोड़कर बांध दें तो दोनों के बाल एक दूसरे की तरफ झुक जाते हैं। मगर उनका कोई असर उनके भीतर की गिरी तक पहुँचता है? गिरी के ऊपर की छाल ऐसा कड़ा ढक्कन होता है कि उसको छेद कर ही कोई चीज भीतर पहुँच सकती है। दोनों नारियलों की गिरियां नहीं मिले व एकरूप न बने तो क्या उनका मिलन संभव है? ऐसा कोई सुज्ञ पुरुष ही कर सकता है जो चोटियों के बालों के भीतर रही हुई कड़ी छाल को तोड़कर गिरियों को बाहर निकाल दे। इसी दृष्टान्त को दिलों पर लागू कीजिये।

जब क्षमायाचना के शब्द मुँह से निकलते हैं, हाथ जोड़े जाते हैं व सिर झुकाया जाता है तो वह सिर्फ दो नारियलों का बालों से जुड़ना मात्र ही होता है। वह सिर्फ बाहरी बात होती है। वह क्षमा यदि भीतर के कठोर दिल की परतों को चीर कर उसके मर्मस्थल तक पहुँच पाए तभी उस क्षमा की वास्तविकता प्रकट हो सकती है। उस गिरी के समान हृदय का मर्मस्थल कोमलता का पुंज होता है और जब अन्तर्हृदय मिलकर एकरूप बनते हैं तभी क्षमा हार्दिक बनती है। एक हृदय को दूसरे हृदय से वैसी क्षमा ही घनिष्ठतापूर्वक मिलती है और

इसी क्षमा के प्रभाव से अनेकानेक हृदय मिलकर एक हो जाते हैं—जुड़ जाते हैं। हृदयों की ऐसी अद्भुत एकता ही परिवार, समाज, राष्ट्र और अन्ततः समूचे विश्व को प्रेम और सहयोग की मधुर डोर से बांध सकती है। आज के प्रसंग से नारियल की गिरियों की तरह मन पिघलें तथा आपस में जुड़ें तभी क्षमायाचना का वास्तविक महत्त्व प्रकट हो सकता है। ऐसी भव्य क्षमाशीलता ही मानवीय मूल्यों को देवत्व की दिशा में आगे बढ़ाती है।

### क्षमा का शत्रु होता है क्रोध

क्षमा की दिशा में मानव-मन को जो मुड़ने नहीं देता वह होता है—क्रोध। यह क्रोध ही एक प्रकार से क्षमा का प्रधान शत्रु होता है। जब क्रोध मन में उमड़ता-धुमड़ता है और फुंकारे मारता है तो वह एक दृष्टि से आग में जलता-झुलसता है। वह आग होती है बदले की आग। किसी ने कुछ कहा है या किया है, उससे बदला लेने के लिये जब क्रोध भड़कता है तो उसे इस बात का भान नहीं रहता कि कहने या करने वाले की बात कितनी छोटी थी। क्या उस छोटी-सी बात के लिये कोई बदले जैसी बात भी खड़ी हो सकती है? लेकिन क्रोध की आग उसे अंधा बना देती है। वह सोच भी नहीं पाता कि वह किस क्रूरता से प्रतिहिंसा की ओर बढ़ रहा है। उसका हृदय नारियल की छाल से भी ज्यादा कठोर हो जाता है।

उस मनःस्थिति में क्षमा का कहीं स्थान भी नहीं होता है—वहां तो क्रोध ही क्रोध नाग की तरह फुंकारे मारता है। ऐसे क्रोध को लोक लाज से दबाकर कोई बाहरी क्षमायाचना कर भी ले तो क्या उससे क्षमा का कोई भाव उठता भी है? क्रोध को त्यागे बिना दिल की गहराई में उतरा नहीं जा सकता है और न ही सच्ची क्षमा की अनुभूति की जा सकती है। अतः क्षमाशील होने से पहले क्रोध रूप कषाय पर इतना नियंत्रण हो जाना चाहिये कि धीरे-धीरे अभ्यास से उसका शमन किया जा सके।

क्रोध भी ममत्व की प्रतिक्रिया के रूप में सामने आता है। क्योंकि मोहनीय कर्म के उदय से क्रोध का जन्म होता है—उसकी तीव्रता प्रकट होती है। जब कोई जीवात्मा क्रोध के वशीभूत हो जाती है तो वह कृत्य-अकृत्य के विवेक को भूल जाती है और क्रोध में जलने लगती है। ऐसे प्रज्वलन स्वरूप आत्मा के परिणाम को ही क्रोध कहते हैं। क्रोध वश जीवात्मा किसी की बात को सहन नहीं करती और बिना विचारे अपने और पराये के अनिष्ट के लिये हृदय के भीतर और बाहर बराबर जलती रहती है।

यों क्रोध भी कषाय का ही एक रूप होता है जैसे कि मान, माया और लोभ होते हैं। क्रोध भी चार प्रकार से प्रकट होता है—1. अनन्तानुबन्धी—क्रोध का यह रूप वह होता है जो जीवन पर्यन्त बना रहता है तथा आत्मा को अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण कराता रहता है। इस प्रकार के क्रोध से सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है और नरक गति के योग्य कर्मों का बंध होता है। पर्वत के फटने पर जो दरार होती है, उसका मिलना कठिन है। उसी प्रकार जो क्रोध किसी भी उपाय से शान्त नहीं होता है, वह अनन्तानुबन्धी क्रोध कहलाता है। 2. अप्रत्याख्यानावरण—इस प्रकार के क्रोध के कुप्रभाव से थोड़ा-सा भी प्रत्याख्यान (व्रत) जीवात्मा ग्रहण नहीं कर सकती है। इससे श्रावक धर्म की प्राप्ति नहीं होती है और तिर्यच योग्य कर्मों का बंध होता है। सूखे तालाब आदि में मिट्टी के फट जाने पर दरार हो जाती है किन्तु जब वर्षा होती है तब वह दरार फिर से मिल जाती है। उसी प्रकार जो क्रोध विशेष परिश्रम से शान्त होता है वह अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध होता है। 3. प्रत्याख्यानावरण—यह क्रोध का मन्द रूप होता है जो सर्व विरति रूप साधु धर्म को अवरुद्ध करता है। यह क्रोध चार माह तक बना रह सकता है और इससे मनुष्य गति के योग्य कर्मों का बंध होता है। बालू में लकीर खींचने पर कुछ समय में हवा से वह लकीर वापस भर जाती है उसी प्रकार जो क्रोध कुछ उपाय से शान्त हो, वह प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध होता है। 4. संज्वलन—यह मन्दतर क्रोध का रूप होता है जो साधुओं को भी कभी-कभी थोड़ा जला देता है। यह साधु धर्म में बाधा नहीं पहुँचाता, किन्तु सबसे ऊँचे यथाख्यात चारित्र में बाधा पहुँचाता है और इससे देवगति के योग्य कर्मों का बंध होता है। पानी में खींची हुई लकीर जैसे खिंचने के साथ ही मिट जाती है, उसी प्रकार किसी कारण से उदय में आया हुआ जो क्रोध शीघ्र ही शान्त हो जाये, उसे संज्वलन क्रोध कहते हैं।

एक अन्य प्रकार से क्रोध के चार भेद इस प्रकार भी कहे गये हैं—

1. आभोग निवर्तित—पुष्टकारण पर शिक्षा देने के उद्देश्य से किया गया क्रोध।
2. अनाभोग निवर्तित—क्रोध के विपाक को न जानते हुए किया गया क्रोध।
3. उपशान्त—क्रोध सत्ता में हो पर उदयावस्था में न हो।
4. अनुपशान्त—उदयावस्था का क्रोध।

### क्रोध-शान्ति का उपाय है क्षमा

क्रोध शान्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय है क्षमा धारण करना। क्षमा से क्रोध की शान्ति होती है। क्रोध के वशीभूत होकर मनुष्य किसी की भी बात सहन नहीं

करता है। क्रोधावेश में अंधा बनकर वह हित-अहित के विवेक को खो बैठता है। वह उस क्रोध से इरादा तो दूसरे का अहित करने का करता है लेकिन पहले वह अपने हाथों से स्वयं का अनिष्ट कर बैठता है। क्रोध से प्रीति का भी नाश होता है क्योंकि क्रोधान्ध मनुष्य ऐसे-ऐसे दुर्वचन बोलता है कि प्रीति का सर्वथा उच्छेद हो जाता है। इसलिये क्रोध का शमन क्षमाशीलता से ही करना चाहिये। क्षमा धारण करने से सहनशीलता के गुण की भी वृद्धि होती है। इससे क्रोध सत्ता में भी आ जाय तब भी उसका प्रकट में उदय नहीं होता है। यदि कभी उदय में आ भी जाये तब भी क्षमा और सहनशीलता के सद्भाव में उदय में आया क्रोध भी विफल हो जाता है। इसी कारण क्षमा को वीरों का भूषण कहा गया है।

क्षमापना चौरासी लाख योनियों के समस्त जीवों से की जाती है। जानते हैं, ये चौरासी लाख योनियां कौन-सी होती हैं? पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु-प्रत्येक की सात-सात लाख योनि है। प्रत्येक वनस्पति को दस लाख और अनन्त काय अर्थात् साधारण वनस्पति काय की चौदह लाख योनि है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय—इन तीनों विकलेन्द्रियों में से प्रत्येक की दो-दो लाख योनि है। नारकी, देवता और तिर्यच पंचेन्द्रिय की चार-चार लाख योनि हैं तथा मनुष्य की चौदह लाख योनि है। इस प्रकार कुल चौरासी लाख योनि है। क्षमायाचना करते हुए इन चौरासी लाख योनि के किसी भी जीव को अपनी ओर से कष्टित किया हो तो नम्रतापूर्वक क्षमा मांगी जाती है एवं सभी को उदारतापूर्वक क्षमा दी भी जाती है।

क्षमायाचना के सम्बन्ध में इस अति सूक्ष्म बात को गहराई से समझने की कोशिश कीजिये। चौरासी लाख योनियों के जीवों से क्षमा मांगने का अर्थ है कि हम किसी भी प्राणी के साथ वैर नहीं रखना चाहते हैं। वैर कई प्रकार का हो सकता है। एक प्राणी वर्ग तो ऐसा हो सकता है जिसके किसी भी प्रकार के सम्पर्क में एक व्यक्ति नहीं आवें। फिर एक वर्ग ऐसा हो सकता है जिसके साथ अनजाने में कोई ऐसा व्यवहार हो गया हो जो वैर का कारण हो गया। अन्त में एक वर्ग ऐसा होता है जिन प्राणियों के बारे में हमारी निश्चित जानकारी होती है कि उनके साथ विभिन्न स्वार्थ संघर्षों, कषाय सम्बन्धों अथवा अन्य कारणों से बोलचाल हुई है, दावा मुकदमा हुआ है या कि अन्य प्रकार से विवाद रहा है। उनमें से भी कुछ ऐसे हो सकते हैं जिनके साथ हिंसा प्रतिहिंसा की शृंखला भी चल रही हो। अब सांवात्सरिक प्रतिक्रमण करते हुए चौरासी लाख योनियों के जीवों से तो समुच्चय रूप में क्षमायाचना कर लें जिनमें कम से कम पहले के दो प्राणी वर्गों का समावेश हो जाता है।

किन्तु यह जानते हुए भी कि मुख्य क्षमायाचना तो तीसरे वर्ग के प्राणी समूह के साथ करनी है, यदि उनके क्षमायाचना का बाहरी रूप भी नहीं दिखाया जाये तो वैसे हृदय में तो क्षमा भाव का सर्वथा अभाव ही माना जायेगा। वह क्षमायाचना भी सार्थक नहीं मानी जायेगी जो केवल ऊपरी तौर पर की जाये। जिनके साथ किसी भी रूप में वैर भाव रहा हो या है उनके ही साथ हृदय की सम्पूर्ण विनम्रता एवं सरलता से क्षमायाचना की जाये तभी आज के दिवस का मूल उद्देश्य सफल कहा जा सकता है।

### खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीव खमंतु मे

अन्तर्हृदय के इसी रहस्य के साथ क्षमा का मूल मंत्र बताया गया है कि चौरासी लाख योनियों के सभी जीवों से मैं क्षमा चाहता हूँ। सभी जीव मुझे क्षमा करें। मेरा सभी प्राणियों के साथ मैत्री भाव है। किसी के भी साथ मेरा वैर भाव नहीं है। धर्म में स्थिर बुद्धि होकर मैं सद्भावपूर्वक सब जीवों से अपने अपराधों के लिये क्षमा मांगता हूँ और उनके सब अपराधों को मैं भी सद्भावपूर्वक क्षमा करता हूँ।

क्षमा का सद्भावपूर्वक ऐसा आदान-प्रदान शान्त, सरल एवं उदार चित्त का द्योतक होता है। आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक, कुल, गण तथा श्रमण संघ से भी विनयपूर्वक मन, वचन एवं काया से क्षमा चाही जाती है। विशिष्ट क्षमा उन लोगों से चाही जानी चाहिये जिनके लिये किसी न किसी कारणवश हमारे हृदय में जरा-सा भी वैर रहा हो। उन लोगों से पहले क्षमा चाही जानी चाहिये जिनके लिये आज भी मन में वैर का कांटा गड़ा हुआ हो। हृदय की मलिनता या कि कलुषिता तभी परिमार्जित की जा सकती है। यों तो सब को कहते फिरेंगे, खमाऊ सा खमाऊ सा और जिनसे खास तौर से खमाना चाहिये, वे सामने दिखाई दें और आप मुंह फिरा लें तो सारा खमतखामणा मात्र आडम्बर रह जायेगा। उससे किसी भी रूप में आत्मशुद्धि या कि भावशुद्धि नहीं हो सकेगी। उनके समीप जाकर आगे होकर क्षमायाचना की जानी चाहिये और वैसी दशा में भी उतनी ही नम्रता से जबकि सामने वाला आपकी क्षमायाचना का भी निरादर करता हुआ दिखाई दे। आप यदि शुद्ध भाव से क्षमायाचना करते हैं और सामने वाला उस शुद्ध भाव की कोई कद्र नहीं करता है तब भी मन में कोई अशुद्धता नहीं आनी चाहिये। वह जैसा करेगा, वैसा भरेगा किन्तु आप अपनी शुद्ध भावना से अपने हृदय को निर्वेद और निर्मल बना ही लेंगे तथा शुभ कर्मों का बंध कर ही लेंगे। ऐसे लोगों के प्रति इस रूप में क्षमायाचना की जाये



कि 'राग-द्वेष, अकृतज्ञता अथवा आग्रहवश मैंने जो कुछ भी कहा है, उसके लिये मैं मन, वचन, काया से आपसे क्षमा चाहता हूँ।

क्षमाशीलता के उच्च स्वरूप को इस दृष्टान्त के माध्यम से समझने का प्रयास कीजिये। एक मुनि बहुत ही क्षमाशील थे। जब वे एक नगर में विराज रहे थे तो एक व्यक्ति अकारण ही उनसे वैर करने लगा। वह विभिन्न भाव भंगिमाओं से उनका अपमान करता, किन्तु मुनि मुसकराते हुए निकल जाते। एक दिन वे किसी कार्यवश बाजार से होकर जा रहे थे तब वह व्यक्ति अपनी दुकान पर बैठा हुआ था। मुनि को देखते ही उसका क्रोध भड़क उठा और वह मुनि को बीच रास्ते रोक कर अभद्र वचन बोलने लगा। मुनि शान्त भाव से सब सुनते रहे। जब वह चुप हुआ तो मुनि ने पूछा—तुम्हारा सब पूरा हो गया? उसने 'हाँ' में सिर हिलाया तो मुनि कहने लगे—भाई, तुम्हारे अन्तर्हृदय की दुकान में जो माल था, वह तुमने मुझे बताया। यह तो तुम जानते हो कि दुकानदार अपनी दुकान का कितना ही माल दिखावे, वह ग्राहक को पसन्द आए तो लेता है जबरदस्ती नहीं। यह कि मुझे भी तुम्हारा माल पसन्द नहीं आया है सो उसे तुम अपने पास ही रखो, मेरी चाहना नहीं है। इतना शान्त भाव से कहकर मुनि चल दिये और वह व्यक्ति भौचक खड़ा देखता ही रहा।

जहाँ क्षमाशीलता एवं सहनशक्ति का सागर लहराता हो, उसमें कोई क्रोध के पत्थर फेंके तो समुद्र पर क्या असर होता है? वह तो पत्थर फेंकने वाले की नादानी के लिये दया से द्रवित ही होता है। एक क्षमाशील साधक किसी की कड़वी गालियाँ सुन कर भी न तो उत्तेजित होता है और न जलता है। उसके मन में लेने देने की यानी क्रिया-प्रतिक्रिया की कोई भावना ही नहीं उठती है। सच बात तो यह है कि उससे जब कोई क्षमा मांगने आता है तो उसके अपराध का भी ध्यान नहीं रहता है। वह क्यों किसी की बुराई को याद रखे और अपने विचार प्रवाह में तनिक भी दोष को घुसने दे? वह अप्रिय को भी उसी प्रकार सहता है जिस प्रकार से प्रिय को, क्योंकि उसकी सहनशीलता समभाव से संयुक्त हो जाती है।

क्षमायाचना की पद्धति यदि सच्ची और वास्तविक हो तो वह आत्मा की आन्तरिकता को छूने एवं उसे स्पन्दित करने वाली बनती है। यह सभी पक्षों के हृदय की उदारता को जगाती और उनमें एकरूपता ढाल देती है। कारण, क्षमा के मूल में दया का निवास होता है। क्षमा दूसरों के हृदयों पर शीतल जल की बूंदों के रूप में बरसती है तो स्वयं क्षमाशील के हृदय को विशुद्ध एवं सर्वप्राणी हितकर बना देती है।

क्षमा-दान का भी कम महत्व नहीं होता है। दूसरों के अपराधमय असद् व्यवहार को कतई भूलकर उसे उदार हृदय से क्षमा कर देना विशाल हृदय का ही लक्षण माना जाता है। क्षमा-दानी अपने अपकारी के जघन्य अपराध को भी भूलकर उसकी क्षमायाचना को तत्क्षण सार्थक बना देता है। उसका अपकार कितना ही कुटिल और घातक क्यों न हो-वह तो उसके भी उपकार में निमग्न हो जाता है।

क्षमा ऐसा उच्च कोटि का गुण है जो यदि जीवन में घुल-मिल जाता है तो केवल एक गुण की सम्पन्नता से ही उस जीवन में अन्य सभी सद्गुण अपने आप चले आते हैं।

### क्षमा-धर्म की महानता

मनुष्य का भूषण सद्गुण बताया गया है और सद्गुण का भूषण ज्ञान, किन्तु ज्ञान का आभूषण क्षमा धर्म को माना गया है। क्षमा धर्म की महानता सभी दृष्टियों से अपूर्व होती है। क्षमा न हो तो क्रोध पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकेगी और वस्तुतः क्रोध को जीत लेने पर ही क्षमा का महत्व-बोध होता है। जैसे शीतल जल के प्रवाह से अग्नि शान्त हो जाती है वैसे ही क्षमा जितनी उच्च कोटि की होती है, उतनी ही शीघ्रता से वह बंधे हुए कर्मों का क्षय कर डालती है।

दशधर्म में सर्वप्रथम स्थान क्षमा धर्म का कहा गया है और अरिहंतों को क्षमाशूर, वही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। आज क्षमापना दिवस पर इसी सर्वश्रेष्ठ मार्ग का स्मरण करना चाहिये और याद करके अपने सारे कटु अपराधों की सच्चे मन से क्षमायाचना करनी चाहिये। इन अपराधों में यह हो सकता है कि आपके द्वारा कहने-सुनने में कटु वचन का प्रयोग किया गया हो, कुत्सितता के साथ कोई विवाद छेड़ा हो, दोषरहित आहार में भी स्वाद दूँदा हो, सेवा शुश्रूषा करते समय आह्लाद का अनुभव न किया हो, संघ या संघपति के प्रति अश्रद्धा भाव आए हों या कि अन्य प्रकार से कोई भी क्लेश पहुँचाने वाला अपराध हुआ हो तो इन सब अपराधों को विगत वर्ष की अवधि में से याद कर करके उनके लिये सम्बन्धित पुरुषों से सद्भावपूर्वक क्षमायाचना करनी चाहिये। धर्म क्रियाओं की साधना में प्रमाद और आलस्य का सेवन किया हो, शक्ति छुपा कर दान दिया हो, दया धर्म का पालन न किया हो अथवा क्षमायाचना करके भी उसी अपराध की पुनरावृत्ति की हो तो उन सबकी क्षमापना दिवस पर याद की जानी चाहिये। भविष्य में वैसे फिर से न करने के लिये संकल्पबद्ध होना चाहिये।

क्षमापना के माहात्म्य की तब पूर्ति मानी जायेगी, जब तप धर्म की अवहेलना न होने देने की, सिद्धान्तों को व्यापक रूप से समझने-समझाने की, चारों तीर्थों को सुख समाधि पहुँचाने की, चित्तवृत्तियों को सुव्यवस्थित एवं अनुशासित बनाने की, परनिन्दा को जिह्वा पर भी न लाने की और धर्म साधना में दत्तचित्त होकर आत्म-शुद्धि करने की प्रतिज्ञा लेंगे। क्षमा धर्म की महानता तभी पूर्ण रूप से प्रकाश में आ सकेगी।

### क्षमा से अन्तर ज्योति जगाइये

विकारों की प्रधानता वाले आज के युग में यदि वीतराग देव के सिद्धान्तों के अनुसार इस क्षमा पर्व पर क्षमा का आदान-प्रदान करते हैं तो वह विशेष महत्त्व का अनुष्ठान होगा। जब वैर विरोध बुरी तरह से फैला हुआ हो और उसके बीच में यदि कोई सच्चे हृदय से क्षमायाचना तथा क्षमादान करता है तो उस सुकृत्य की प्रभावकता आशा से भी अधिक होगी। उसका कारण है, बुराइयों के घटाटोप अंधेरे के बीच अगर अच्छाई की एक क्षीण-सी प्रकाश रेखा भी उभरती है तो उसकी तरफ आसानी से सबका ध्यान चला जाता है। इस दृष्टि से क्षमाधर्म के माध्यम से अभी अन्तर ज्योति को जगाने का बड़ा ही उपयुक्त अवसर है।

आपको क्षमा के संदर्भ में नारियल का दृष्टान्त दिया गया है। जैसे क्षमापना का शुभ कृत्य जब हाथ जोड़ने व माथा झुकाने तक ही सीमित रहे तो वैसी क्षमापना प्रभावहीन रहती है। उसी तरह जैसे दो नारियलों को उनकी चोटियों के बालों से जोड़ दिया जाये। जब तक नारियल की कड़ी छाल नहीं तोड़ी जायेगी तब तक गिरी की कोमलता बाहर प्रकट नहीं हो सकेगी। उसी प्रकार मोह माया रूपी छाल (कांचली) के कठोर आवरण को नहीं हटाया जायेगा तो आत्मज्योति का प्रकटीकरण एवं मिलन संभव नहीं। अन्तःकरण की मृदुता एवं कोमलता के प्रकट होने पर ही तो क्षमा का सार्थक स्वरूप सामने आता है। आज उसके आनन्द का रसपान करने का हार्दिक प्रसंग है। कल संवत्सरी का पर्व था तब मेरे भाई-बहनों ने नारियल छाल के समान अपने हृदयों की कठोरता का त्याग कर दिया होगा और आज सर्वत्र गिरी के टुकड़े दिखाई दे रहे होंगे। आज आपकी हार्दिकता उमड़ रही हो तो यह बड़ा ही सुन्दर अवसर है जो सोचने का नहीं, सिर्फ अनुभव लेने का विषय है। अन्तर ज्योति जली होगी मिली होगी और उनकी एकरूपता का परिणाम आपके संघ में बहुत ही हितावह रूप में प्रकट होगा।

यह भारत वासियों का भाग्य है कि उन्हें इस भूमि पर ऐसी दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक वाणी सुनने को मिलती है। विदेशों में ऐसा अवसर कहां है? यदि आन्तरिक अनुभूति के साथ अन्तर ज्योति जगाने वाला उपदेश मिले तो वह अवश्य अन्तःकरण को छू लेता है और उसे जागृत बना देता है। ऐसा नहीं है कि विदेशों में व्यक्ति सद्गुण संप्राप्ति या कि आध्यात्मिक उन्नति नहीं करते। वहां धर्म श्रवण के अवसर कम हैं। यों यहां आप लोगों को ऐसे अवसर बहुत मिलते हैं किन्तु अपनी अन्तर ज्योति जगाने में आप कितना पुरुषार्थ लगाते हैं या कि एक कान से सुनकर दूसरे कान से उसे बाहर निकाल देते हैं—यह आप ही जानें। मैंने एक विदेशी भाई की कहानी पढ़ी थी जिसने अपनी अन्तर ज्योति जला कर हृदय की कोमलता अभिव्यक्त की। वह इस रूप में कि उसने एक मनोवैज्ञानिक शिक्षण संस्था अपनी सारी सम्पत्ति लगाकर खड़ी की, जहां बाल हृदयों को प्रारंभ से सुसंस्कारों में ढालने का सफल प्रयास किया जाता है। उसके जीवन में एक ऐसा व्यक्ति सम्पर्क में आया जिसे उसने जीने की कला सिखायी किन्तु उसी के हाथों उसे अप्रिय व्यवहार मिला। फिर भी उसने क्षमा का जो आदर्श प्रस्तुत किया, उसकी सबने भूरि-भूरि सराहना की।

क्षमा के आदर्श उदाहरण सभी देशों में मिलेंगे किन्तु भारत भूमि पर जिस प्रकार का आध्यात्मिक वातावरण रहा है, उसमें यह आशा रखना स्वाभाविक है कि यहां के निवासी अधिक क्षमाशील बनें। सद्गुणाधारित समाज का ऐसा चित्र दिखाएं जो विदेशों को भी प्रभावित कर सके। जिस देश, समाज या परिवार में क्षमाधर्म को महत्त्व दिया जाता है, वहां सभी एक-दूसरे के प्रति सहनशील होते हैं, परस्पर सहयोग का वातावरण बनाते हैं तथा एक-दूसरे की अन्तर ज्योति को जगाने का पुरुषार्थ करते हैं।

### क्षमाशीलता से मानव मूल्यों का विकास

क्रोध एक ऐसा घातक दुर्गुण है जो व्यक्ति, परिवार, समाज या राष्ट्र की एकता एवं सदाशयता को गंभीर हानि पहुंचाता है। कई बार देखा जाता है कि विवाद का कोई महत्त्वपूर्ण बिन्दु नहीं होता है लेकिन क्रोध के आवेश में ऐसा व्यवहार या अपराध हो जाता है कि कलुषित क्रिया-प्रतिक्रियाओं की शृंखला बन जाती है जो दिलों को जुड़ने से रोकती रहती है। इस क्रोध के घातक प्रभाव को जितना आप समझेंगे, उसी की तुलना में आपको क्षमाशीलता का सुप्रभाव गहराई से समझ में आयेगा कि यह सद्गुण एक दिल से लेकर हजारों, लाखों

और करोड़ों दिलों को एकता के सूत्र में पिरोकर कैसे अनूठे आनन्द की रचना कर देता है। क्षमाशीलता से मानव मूल्यों का अनुपम विकास होता है।

क्षमाशीलता के सद्गुण का कोई विकल्प नहीं है क्योंकि हार्दिक सौहार्द का यह मूल गुण है। दूसरी ओर 'एक साधे सब सधे' के अनुसार अकेला क्षमाशीलता का गुण सम्पूर्ण जीवन का शुभतामय रूपान्तरण करने में समर्थ होता है। क्षमा आ गई तो समझिये कि क्रोध पर विजय हो गई और सहनशीलता सारी वृत्तियों और प्रवृत्तियों में बस गई। फिर अन्य सद्गुण स्वतः आ जाते हैं। तब अन्तर ज्योति जागृत क्यों नहीं होगी?

दिनांक 09.09.1986

(जलगांव)

## 10

## प्रशस्तता ध्यावें

धर्म जिनेश्वर मुझ हिवड़े बसो....

तीर्थकर भगवन्तों का इस विश्व पर अनन्त उपकार है। उन्होंने केवलज्ञान एवं केवल दर्शन की अवाप्ति करके अपने आत्मस्वरूप को पवित्रतम बनाया एवं तदनन्तर विश्व के समग्र प्राणियों को वैसा ही करने का उपदेश दिया। इन्हीं तीर्थकरों की पतितपावन शृंखला में पन्द्रहवें तीर्थकर धर्मनाथ जी हुए हैं। धर्मनाथ अर्थात् धर्म के स्वामी, जिन्होंने अपने जीवन को पूर्णतः धर्ममय बना लिया। जीवन के सभी विकारों को नष्ट करके उन्होंने मन-आत्मा में केवल धर्म को बसा लिया। जो भव्य आत्मा उनका अनुसरण करते हुए ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य की सफल आराधना कर लेती है, वही धर्मनाथ बन सकती है।

प्रश्न यही है कि क्या आप ऐसे धर्म की आराधना करके धर्मनाथ बनने के अभिलाषी हैं? आप अपने मन में चिन्तन करें कि ऐसी अभिलाषा यदि नहीं बनायी है तो बनानी चाहिये, क्योंकि मानव जीवन ही ऐसा है जिसमें शुभता लायी जा सकती है, प्रशस्त भावों का निर्माण किया जा सकता है एवं धर्म की सार्थक साधना सफल बनायी जा सकती है। जो अप्रशस्तता है, वह अशुभता है भावों की, वाणी की और कर्म की। इसी अप्रशस्तता को मिटाकर प्रशस्तता-शुभता का ध्यान लगाना चाहिये। शुभता के ध्यान से शुभ कर्मों का बंध होता है और शुभ कर्म आत्मा को पूर्ण शुभता की दिशा में अग्रगामी बनाने में सहायक होते हैं। इसके विपरीत अशुभता से पाप कर्मों का बंध होता है जो आत्मा के आवरणों को, मलिन भावों को और अधिक बढ़ाती है तथा उसके भव-भ्रमण को अधिक जटिल बना देती है।

**कैसी होती है अप्रशस्तता?**

धर्मनाथ प्रभु की प्रार्थना में कवि कहता है कि यह दुनिया बड़ी रंगबिरंगी है, जिसमें आत्मा का स्वरूप अपनी मौलिकता से हटकर अलग-सा ही बन

गया है। यह स्वरूप विभिन्न विकारों के आवरणों से आच्छन्न हो गया है। मन में काम, क्रोध, राग, द्वेष, मान, माया, लोभ आदि के दूषित विकार बुरी तरह समा गये हैं और इन विकारों ने तत्सम्बन्धी सद्गुणों को आच्छादित करके उन्हें अपनी काली छाया से श्रीहीन बना दिया है। जब तक इन विकारों को आप क्षीण नहीं बनाते, नष्ट नहीं करते, तब तक प्रशस्तता अथवा शुभता आ नहीं सकती और आप धर्मनाथ बनने के उन्नति-मार्ग पर आगे नहीं बढ़ सकते हैं। क्योंकि धर्मनाथ बनने के लिये उनके प्रति प्रशस्तता के भाव जागने चाहिये।

यह ज्ञातव्य है कि अप्रशस्तता कैसी होती है? अप्रशस्तता को जानेंगे तभी आप प्रशस्तता को पहचान पायेंगे। यों अप्रशस्तता को जानना कठिन नहीं है, क्योंकि आज का सांसारिक जीवन अधिकांशतः जिन भावों से लिप्त है, वे भाव अप्रशस्त भाव होते हैं। इस अप्रशस्तता के मूल बीज होते हैं दो अशुभ भाव—राग और द्वेष। बाकी सारे विकार इन्हीं दो बीजों से उपजते, पनपते और फैलते हैं। राग क्रिया होती है तो द्वेष प्रतिक्रिया। राग का अर्थ होता है चाहना और न चाहना द्वेष होता है। यह चाहना और न चाहना मूल रूप से सांसारिकता एवं भौतिकता के प्रति होता है। इस संसार में वस्तुओं एवं व्यक्तियों के प्रति, जो अपने को प्रियकारी लगते हैं, होने वाले ममत्व-बोध का नाम राग है। राग कहता है कि यह व्यक्ति अमुक पदार्थ मेरा है, मुझे प्रियकारी है और इसे मैं मेरा ही बनाकर रखूंगा। यदि इनमें से किसी को कोई दूसरा अपना बनाने की चेष्टा करेगा तो मैं उसकी बात नहीं मानूंगा और उसके लिये लड़ूंगा—यह द्वेष की भाषा होती है। राग को छेड़ने से द्वेष पैदा होता है। क्रिया व प्रतिक्रिया के रूप में राग और द्वेष का खिलवाड़ चलता रहता है। इसी खिलवाड़ का नाम संसार है।

राग भाव वह भाव होता है जिससे जीवात्मा अनुरक्त और आसक्त होती है और इस आसक्ति से जो आत्मा के साथ बंधन होता है, वह राग बंधन कहलाता है। राग और द्वेष कर्म बंधन के मूल कारण होते हैं। कर्म जन्म-मरण का मूल हेतु है और जन्म-मरण को ही परम दुःख कहा जाता है। जैसे जंगल में दावाग्नि से कुछ प्राणियों के जलने पर दूसरे प्राणी राग-द्वेष के वश में होकर प्रसन्न होते हैं। वे यह नहीं सोचते कि यह फैलती हुई दावाग्नि हमें भी भस्म कर देगी इसलिए हमें भी इससे बचने का प्रयत्न करना चाहिये। इसी प्रकार काम-भोगों में मूर्च्छित अज्ञानी लोग भी यह नहीं जानते कि यह सारा विश्व राग-द्वेष रूपी अग्नि से जल रहा है और हमें इस अग्नि से बचने का प्रयत्न करना चाहिये। यही मोह ममत्व से बंधी हुई जीवात्माओं की अप्रशस्तता है।

## मोह मूल है अप्रशस्तता का

राग-द्वेष रूपी मोह का इतना बल माना गया है कि जो अकेला ही आत्म-भावों को लुंज पुंज कर देता है। मोहनीय कर्म को महाबली कर्म राज कहा गया है। कर्म क्षय की प्रक्रिया में यदि मोहनीय कर्म का क्षय कर दिया जाता है तो शेष कर्म तो स्वतः ही नष्ट हो जाते हैं। इस के विपरीत सारे कर्म अशेष रहते हैं जब तक मोहनीय कर्म के क्षय की प्रक्रिया प्रारंभ न की गई हो। समर्थ शत्रु का कितना ही विरोध क्यों न किया जाये फिर भी वह आत्मा का उतना अहित नहीं करता जितना कि वश में न किये हुए राग-द्वेष करते हैं।

वास्तव में काम भोग अपने आप न तो किसी मनुष्य में समभाव पैदा करते हैं और न किसी में विकार भाव ही उत्पन्न करते हैं, किन्तु जो मनुष्य उनसे राग या द्वेष करता है, वही मोह के वश होकर विकार भाव प्राप्त करता है। समझ लें कि यदि राग-द्वेष न हों तो इस संसार में न कोई दुःखी हो और न कोई सुख पाकर मूर्च्छित हो बल्कि सभी मुक्त हो जाएं। यह राग-द्वेष का मोहबंध ही है और वह भी मनुष्य के अपने ही मन का—जो उसे संसार में परिभ्रमण कराता है। जब तक मनुष्य का मन बाहर के पदार्थों और सम्बन्धों में आसक्त रहता है तब तक जीवन में प्रशस्तता का आविर्भाव नहीं होता है। इसीलिये प्रार्थना की पंक्तियों में कवि कहता है कि हम वीतरागी स्वरूप को प्राप्त करने के मात्र गीत ही गाते हैं, मोह में बंधे अपने मन को अप्रशस्तता की दलदल से बाहर खींच लाने का पुरुषार्थ नहीं दिखाते हैं। यही कारण है कि रंगीली दुनिया में इस आत्मा की जितनी आसक्ति है, उसके अल्पांश में भी धर्मनाथ प्रभु के प्रति धर्मानुराग नहीं है।

हकीकत यह है कि मनुष्य सबसे बढ़कर अपनी सम्पत्ति, सत्ता और सराहना के प्रति घोर आसक्ति रखता है। ममत्व के बंधन में जकड़ा हुआ रहता है तथा मोह मदिरा पीकर बेभान मदमस्त बना रहता है। अप्रशस्तता का इतना गहन अंधकार उसे दबोच लेता है कि वह प्रशस्तता की प्रकाश रेखा देख ही नहीं पाता है। फिर वह राग से विराग और विराग से वीतराग तक का उत्कृष्ट आत्म-विकास कैसे सम्पादित कर सकता है?

आसक्ति और अप्रशस्तता का नशा तो मदिरा के नशे से भी कई गुना तेज होता है। उसमें आत्म चेतना इतनी शिथिल हो जाती है कि आत्मोन्नति की छोटी-सी बात भी उसके गले नहीं उतरती है। एक दृष्टान्त से ऐसी दुरवस्था का अनुमान लगाइये। एक सेठ ने सुख-सुविधाओं से भरपूर एक कलात्मक



बंगला बनाया। आस-पास के सभी पड़ोसियों व सम्बन्धियों ने उस बंगले की जी-भर कर प्रशंसा की, फिर भी सेठ का मन असन्तुष्ट ही रहा। वह अनेक लोगों को लाकर अपना बंगला दिखाता और पूछता—यह कैसा बना है? बाहरी दृश्यों में मगन रहने वाले लोग बंगले की प्रशंसा ही करते, पर उसके मुंह पर सन्तोष का भाव नहीं झलकता था। तारीफ तो बहुत हो रही थी पर सेठ को प्रसन्नता नहीं मिली। वह सोचता था कि इतने अद्भुत बंगले की इतनी सी तारीफ कम है। उसकी ख्याति सारे देश में फैलनी चाहिये। आसक्ति का ऐसा ही भाव होता है चिपका हुआ और चिकना। उसका कहीं अन्त नहीं आता है।

### अप्रशस्तता की जब अति होती है

जब उस सेठ ने यह सुना कि कई पहुँचे हुए फक्कड़ उस नगर में आए हैं तो उसके मन की अप्रशस्तता ने जोर मारा कि क्यों नहीं अपना बंगला इन फक्कड़ को दिखाया जाये? उनकी प्रशंसा का विशेष महत्त्व होगा। वह उनके स्थान पर पहुँचा, हाथ जोड़कर बोला—महात्मन्! आप जहां पधारते हैं, वहां का वातावरण मंगलमय हो जाता है। मैंने भी एक झोंपड़ा बनाया है—यदि आपकी चरण-धूल वहां पर पड़ जाये तो मंगल ही मंगल रहेगा। इतना संकेत करके आहार के समय सेठ अपने बंगले के बाहर खड़ा हो गया ताकि जब फक्कड़ भिक्षा लेने के लिये आएँ तब उन्हें वह भीतर ले जाये। फक्कड़ आये तो नीची दृष्टि किये रसोई की ओर बढ़ने लगे कि निर्दोष आहार लेकर वापस बाहर निकलें। किन्तु सेठ ने रसोई की ओर ले जाने से पहले पूरे बंगले में उन्हें घुमा दिया। वे तो रास्ता जानते नहीं थे, जैसा सेठ ने बताया, वे चलते रहे। सेठ ने भिक्षा देने की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया। बंगले में उसकी जघन्य आसक्ति थी, वह तो फक्कड़ को पूरा बंगला दिखाकर उनकी सराहना सुनना चाहता था।

फक्कड़ संत ने मन में सोचा कि यह कैसा गृहस्थ है जो भिक्षा की ओर ध्यान नहीं देकर अपना बंगला दिखाने की धुन में लगा हुआ है। फक्कड़ उसके मन का भाव जान गये। सारा बंगला घुमाकर फिर वह सेठ फक्कड़ को अपनी रसोई में लाया। वहां भी आहार देने की उसने चेष्टा नहीं की बल्कि हाथ जोड़कर पूछने लगा—महात्मा जी, आपको यह बंगला कैसा लगा? क्या यह कोई प्रश्न था जो एक महात्मा से किया जाता? मन में आसक्ति एवं अप्रशस्तता के राग भाव की जब अति हो जाती है, तभी कोई व्यक्ति ऐसी कुचेष्टा करता है। जरा सोचिये, आज का सद्गृहस्थ वीतराग देवों का अनुयायी कहलाने वाला श्रावक कितना मोहान्ध होता जा रहा है? उसका मन मस्तिष्क राग-द्वेष के विकारों से रंगा हुआ है। दिन प्रतिदिन वह आत्म-पतन के गड़ढ़े की ओर लुढ़कता जा रहा

है। उसकी अंधी बनी हुई अप्रशस्तता उसे पतन की किस सीमा तक ले जायेगी इसका कुछ अनुमान नहीं है।

अप्रशस्त भावों की इसे अति ही कहेंगे कि वह मोहान्ध श्रावक अपने आत्म-द्वेष का भागीदार एक फक्कड़ महात्मा को बनाना चाह रहा था। आज का ऐसा विभावग्रस्त श्रावक वस्तुतः वीतराग देवों का नाम मात्र का अनुयायी ही रह गया है। उसके मन में कहीं भी तीर्थकर भगवन्तों के आदर्श की झलक तक नहीं है। फक्कड़ महात्मा विचार में पड़ गये कि इस मोहान्ध श्रावक को उसके धार्मिक कर्तव्य का बोध किस प्रकार कराया जाये? वे सोच रहे थे तो उस समय भी सेठ को सन्न नहीं रहा फिर से पूछ बैठा—महात्मन्, आपने मेरे इस बंगले के बारे में कुछ कहा नहीं। इसमें कहीं कोई त्रुटि रह गई हो तो मुझे जरूर बताइये। आखिर महात्मा को उत्तर देना ही पड़ा, बोले—भाई, इसमें एक बात की तो बिल्कुल कमी है। सेठ चौंक कर बोला—वह कमी क्या है, आप बताइये। अभी तक किसी ने भी कोई कमी नहीं बताई है। फक्कड़ ने कहा—अगर तुमने इस बंगले के दरवाजे नहीं बनाये होते तो ज्यादा अच्छा रहता। सेठ हंसने लगा—क्या बिना दरवाजों के भी कोई बंगला होता है? आप तो बच्चों जैसी बात कर रहे हैं। महात्मा ने मन्द-मन्द मुसकराते हुए कहा—तुम कहते हो कि इन दरवाजों से ही बंगले में आना जाना होता है लेकिन एक दिन बाहर चले जाना होगा। अब तो समझ गये न कि अगर इसमें दरवाजे नहीं होते तो तुम्हें बंगले से कभी बाहर जाने की नौबत नहीं आती।

यह सुनते ही सेठ के दिलो-दिमाग पर एक जोरदार धक्का लगा और समझ में आ गया कि जिस बंगले में उनका ऐसा घनिष्ठ राग समाया हुआ है, वही बंगला एक दिन उन्हें निकाल बाहर करेगा। महात्मा ने तब बारीकी से समझाया—अरे भोले प्राणी, तुमने यह बंगला बनाया है और तुम्हारा मन सबसे इसकी प्रशंसा सुनने के लिये आतुर बना रहता है। प्रशंसा सुनकर आनन्दित होता है किन्तु तुम यह क्यों नहीं समझते कि ऐसा अतिशय अप्रशस्त भाव मन में गहराई तक बसा कर तुम निकाचित पाप कर्म का बंध कर रहे हो? बंगला तो क्या, तुम्हारा अपना शरीर भी नश्वर है। उसके प्रति भी यदि आसक्ति और अप्रशस्तता लाते हो तो वह भी परम अशुभ है। एक दिन जब मृत्यु आयेगी तब तुम्हारा बंगला और तुम्हारी सारी भौतिक उपलब्धियां भी शरीर के छूटने के साथ छूट जायेंगी। आत्मा के साथ जो चलेगा वह चलेगा कर्म और वह कर्म जितना धर्ममय होगा, उसका भविष्य उतना ही समुन्नत बनेगा। अप्रशस्त भावों का त्याग ही धर्म की ओर उन्मुख होना है।

## प्रशस्त भावों की आनन्दानुभूति

जैसे गटर का कीड़ा पुष्प पराग के रस महत्त्व को नहीं आंक सकता है वैसे ही अप्रशस्त भावों की गंदगी में डूबी आत्मा प्रशस्तता के आनन्द को नहीं समझ सकती है जब तक कि वह विकार शुद्धि करके प्रशस्तता के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर लेती है। उस क्षेत्र में प्रवेश पाकर रमण करने से जिस आनन्द की अनुभूति वह लेती है, वह आनन्द अलौकिक एवं दिव्य होता है। प्रशस्त भावों की आनन्दानुभूति अवर्णनीय होती है।

शास्त्रों में ब्राह्मण उसे कहा गया है जो कसौटी पर कसे हुए एवं अग्नि में डालकर शुद्ध किये हुए सोने के समान निर्मल है। जो राग-द्वेष तथा भय रहित होकर प्रशस्त भावों में रमण करता है। साधु वह है जो प्रशस्त गुणों को धारण करता है और असाधु वह जो उन गुणों से रहित होता है। वीतराग देवों का निर्देश है कि साधुजन योग्य गुणों को ग्रहण करें एवं दुर्गुणों को छोड़ें। वही साधु पूजनीय बनता है जो अपने आत्मस्वरूप को जानने वाला, राग और द्वेष में समभाव रखने वाला तथा प्रशस्त भावों में रमण करने वाला होता है।

सत्य ज्ञान का प्रकाश करने से, अज्ञान एवं मोहजन्य राग-द्वेष का त्याग करने से तथा प्रशस्तता को अपनी आन्तरिकता में बसा लेने से यह आत्मा एकान्त सुखमय मोक्ष प्राप्त करती है। राग और द्वेष से जो अप्रशस्तता घनीभूत होती है, उसी से पापकार्यों में प्रवृत्ति होती है। इस कारण जो साधु राग और द्वेष इन दोनों पापों का निरोध कर लेता है, वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता। राग पर सम्पूर्ण रूप से विजय प्राप्त कर लेने वाला उत्कृष्ट साधक ही श्रेष्ठ वीतराग का पद प्राप्त करता है। वीतराग वह जो राग को सर्वथा व्यतीत कर देता है। जो राग को व्यतीत करता है, वह द्वेष को भी व्यतीत करता है। क्रिया का ही जब अभाव हो जायेगा तो प्रतिक्रिया के बने रहने का प्रश्न ही कहां रहता है? द्वेष समाप्त हो जाने पर चिकना राग बाद में समाप्त होता है। राग विजय में ही वीतरागता का प्रकाशन होता है।

## अप्रशस्तता से प्रशस्तता की ओर

अप्रशस्तता से प्रशस्तता की ओर ले जाने वाला मार्ग आत्मोन्नति का मार्ग होता है। जब मन की लालसाओं, आरंभ समारंभ की दुरिच्छाओं एवं ममत्व मूर्च्छा से ग्रसित अप्रशस्त भावों का त्याग करके इन्द्रिय दमन, मानसिक नियंत्रण एवं आत्मानुशासन के साथ वीतराग वाणी के अनुकरण में प्रशस्तता की ओर गति की जाती है, तब वही सम्यक् भाव सहित धर्म साधना का

सुन्दर स्वरूप ग्रहण करती है। अतः विवेकवान पुरुषों एवं श्रावकों को चिन्तन करना चाहिये कि बाहर के पौद्गलिक पदार्थों पर जिस प्रकार की कालिमामय अप्रशस्तता बनाई जाती है, क्या आत्मा की अनन्त चेतना शक्ति से परम पद की परम पावनता तक पहुँचा जा सकता है, उसी शक्ति की तुच्छ भौतिक पदार्थों की मोहग्रस्तता में बर्बादी की जा रही है?

अप्रशस्तता और प्रशस्तता के अन्तर को स्पष्ट रीति से समझने के लिये इन दोनों के संदर्भ में विनय गुण का संक्षिप्त विश्लेषण कर लें।

विनय के तीन प्रकार हैं—मन विनय, वचन विनय तथा काय विनय। अब मन विनय अप्रशस्त कैसा होता है और प्रशस्त कैसा होता है? इसकी शास्त्रीय विवेचना इस प्रकार की गई है—

1. **अप्रशस्त मन विनय**—मन को सदोष, क्रिया वाले, कर्कश, कटु, निष्ठुर, पुरुष, पाप कर्मों का बंध करने वाले, छेदकारी, भेदकारी, दूसरों को कष्ट पहुँचाने वाले, उपद्रव खड़ा करने वाले और प्राणियों का घात करने वाले व्यापार में प्रवृत्त रखने वाला अप्रशस्त मन विनय होता है। ऐसे अशुभ व्यापारों में यह दुर्गुण मन को लगाये रखता है। इसके सात भेद हैं—1. पावए-पाप वाले व्यापार में मन को लगाना, 2. सवज्जे—दोष वाले व्यापार में मन को लगाना, 3. सकिरिए—कायिकी आदि क्रियाओं में आसक्ति सहित मन का व्यापार 4. सउवक्केसे—शोक आदि उपक्लेश सहित मन का व्यापार। 5. अण्हवयकरे—आस्रव वाले कार्यों में मन की प्रवृत्ति। 6. छविकरे—अपने तथा दूसरों को परेशानी पहुँचाने वाले व्यापार में मन को लगाना। 7. भूयाभिसंकणे—जीवों में भय उत्पन्न करने वाले व्यापार में मन की प्रवृत्ति।

2. **प्रशस्त मन विनय**—उपरोक्त व्यापारों से मन को बचाए रखना प्रशस्त मन विनय है। यह शुभ व्यापारों में मन की प्रवृत्ति कराता है। इसके भी सात भेद हैं—1. अपावए—पापरहित मन का व्यापार 2. असावज्जे—क्रोधादि दोष रहित मन की प्रवृत्ति 3. अकिरिए—कायिकी आदि क्रियाओं में आसक्ति रहितता 4. निरुवक्केसे—शोक आदि उपक्लेश रहित मन का व्यापार 5. अण्हवयकरे—आस्रव रहित। 6. अच्छविकरे—अपने तथा दूसरों को पीड़ित नहीं करने वाला 7. अभूयाभिसंकणे—जीवों को भय नहीं उपजाने वाला मन का व्यापार।

अब इसी प्रकार वचन विनय और काय विनय की भी प्रशस्तता एवं अप्रशस्तता के संदर्भ से तुलना कर लें जिससे अप्रशस्तता एवं प्रशस्तता के भावों का अन्तर स्पष्ट हो जायेगा।

वचन विनय-1. अप्रशस्त वचन विनय-वचन को अशुभ व्यापार में लगाना अप्रशस्त वचन विनय है। मन विनय के समान ही इसके भी सात भेद हैं।

2. प्रशस्त वचन विनय-वचन की शुभ प्रवृत्ति होना। कठोर, सावद्य, छेदकारी, भेदकारी आदि भाषा न बोलने तथा हित, मित, प्रिय, सत्य वचन बोलने को तथा वचन से दूसरों का सम्मान करने को प्रशस्त वचन विनय कहा गया है। इसके भी प्रशस्त मन विनय की तरह ही सात भेद होते हैं (मन की जगह वचन समझा जाये)।

काय विनय-1. अप्रशस्त काय विनय-शरीर को असावधानी से अशुभ व्यापार में लगाना। इसके भी सात भेद हैं-1. अणाउत्तं गमणं-असावधानी से जाना। 2. अणाउत्तं ठाणं-असावधानी से ठहरना। 3. अणाउत्तं निसीयणं-असावधानी से बैठना। 4. अणाउत्तं तुमद्वणं-असावधानी से लेटना। 5. अणाउत्तं उल्लंघणं-असावधानी से उल्लंघन करना। 6. अणाउत्तं पल्लंघणं-असावधानी से इधर-उधर बार बार उल्लंघन करना। 7. अणाउत्तं सब्बिदियजोगजुंजणया-असावधानी से सभी इन्द्रियों और योगों की प्रवृत्ति करना।

3. प्रशस्तकाय विनय-काया अर्थात् शरीर से आचार्य आदि की भक्ति करने और शरीर की यतनापूर्वक प्रवृत्ति को प्रशस्तकाय विनय कहते हैं। अप्रशस्त की तरह इसके भी सात भेद हैं। यहां असावधानी के स्थान पर सावधानीपूर्वक शब्द लगाया जाये। काया की उपरोक्त समस्त प्रवृत्तियां सावधानीपूर्वक की जाएं।

ठाणांग सूत्र में अप्रशस्त वचन बुरे वचनों को कहा गया है जिसके छः भेद हैं-1. अलीक वचन-असत्य वचन कहना। 2. हीलित वचन-ईर्ष्यापूर्वक दूसरों को नीचा दिखाने वाले अवहेलना के वचन कहना। 3. खिंसित वचन-दीक्षा से पहले की जाति या कर्म आदि को बार-बार कहकर चिढ़ाना। 4. परुष वचन-कठोर शब्द कहना। 5. गृहस्थ वचन-गृहस्थों की तरह किसी को पिता, चाचा, मामा आदि कहना। तथा 6. व्यवशमित-शान्त कलह को उभारने वाला वचन कहना।

इस विश्लेषण से अप्रशस्तता एवं प्रशस्तता का स्वरूप सुस्पष्ट हो जाता है जिसके आधार पर यह भी समझ में आ जाना चाहिये कि आत्मोन्मुखी जीवन में अप्रशस्तता का त्याग होना चाहिये तथा प्रशस्त गुणों को अपनाकर वीतरागता की दिशा में प्रगति करनी चाहिये।

## प्रशस्तता ध्यावें, धर्मात्मा बनें

फक्कड़ महात्मा ने उस मोहान्ध सेठ को क्या कहा था—तुमने तो आरंभ-सभारंभ करके अति ममत्व भाव से यह बंगला बनाया है और इसकी प्रशंसा में तुम अपनी आत्मा को भूलते जा रहे हो। जब तक तुम्हारे शरीर में आत्मा का निवास है तब तक सभी लोग तुम्हारे लिये मोह माया करेंगे किन्तु काल के मुख में जाने के बाद कोई तुम्हारे साथ नहीं चलेगा। इस दुनिया में मनुष्य अकेला आया है और अकेला ही जायेगा। सारी भौतिक सम्पत्ति, सत्ता, स्त्री और सन्तान—सब पीछे छूट जाने वाले हैं। इसलिये अपने आत्म विकास की बात सोचो और अब आत्म पतन के मार्ग पर और अधिक आगे न बढ़ो। वीतराग देव के जागरण संदेश को सुनो, समझो और अपने जीवन में उतारो, क्योंकि ऐसा दिव्य संदेश तुम्हें अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं होगा। प्रशस्तता पर ध्यान केन्द्रित करने का यही उपाय है।

क्या यह सम्बोधन आप अपने लिये भी प्रासंगिक मानते हैं? कभी अपनी अप्रशस्तता और प्रशस्तता को भी तौलते हैं और सही अर्थों में धर्मात्मा बनने का संकल्प लेते हैं? कम से कम अपने अन्तिम समय में भी अप्रशस्त भावों को छोड़कर सम्पूर्ण ममत्व का त्याग करने की क्या आपकी तैयारी है? सुदेव, सुगुरु और सुधर्म को अन्तःकरण में प्रतिष्ठित करके क्या धर्म साधना में लग जाने का आपका संकल्प बना है? इन सब प्रश्नों पर आप चिन्तन-मनन कीजिये और अपने मन से आप ही इनके उत्तर लीजिये कि वे हाँ या ना में आते हैं और ना में आते हैं तो क्यों?

उदयपुर में एक नगर सेठ थे। वे वीतराग के अनुयायी, प्रभावशाली एवं सम्मानित पुरुष थे। वे श्रावक भी थे। एक व्यक्ति उनके ऐसे प्रभाव और सम्मान के कारण उनसे ईर्ष्या करने लगा तथा उनको नीचा दिखाने के बारे में सोचने लगा। उस समय वहाँ के राजा ने एक कलात्मक प्रासाद का निर्माण कराया था जिसके कौशल की चारों ओर प्रशंसा हो रही थी। राजा स्वयं उसकी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होता था। उस व्यक्ति ने नगर सेठ को फंसाने का एक काम किया। वह जानता था कि नगर सेठ श्रावक होने के कारण नये प्रासाद की प्रशंसा नहीं करेगा तो उससे राजा अप्रसन्न हो जायेगा। बस, वह अपना बदला निकाल लेगा। उसने राजा को भिड़ाकर प्रासाद देखने के लिये नगर सेठ को बुलवा लिया। प्रासाद देख लेने के बाद राजा ने पूछा—नगर सेठ, यह प्रासाद तुमको कैसा लगा? नगर सेठ दुविधा में फंस गये—प्रशंसा करें तो पाप कर्म का बंध और प्रशंसा न करें तो राजकोप के भागी—अब क्या करें? नगर सेठ

अपने मन के प्रशस्त भावों को दूषित भी नहीं बनाना चाहते थे। सोच विचार कर उन्होंने उत्तर दिया—राजन्, ऐसा प्रासाद तो कोई आप जैसा ही निर्मित करा सकता है।

तात्पर्य यह कि कैसी भी परिस्थिति हो—एक धर्मात्मा अपने प्रशस्त भावों को किसी भी रूप से विकृत एवं कलुषित नहीं होने देता है। धर्म में स्थिर होने का यही प्रधान लक्षण होता है। प्रशस्तता को ध्याने वाला सच्चा धर्मात्मा बनता है तो एक धर्मात्मा प्रशस्तता से पतित होकर अप्रशस्तता के कीचड़ में कभी भी नहीं फंसना चाहता है।

### विरागी बनेंगे तो वीतराग भी बन सकेंगे

राग भाव की अप्रशस्तता जितने अंशों में छूटती जायेगी, उतने ही अंशों में वैरागी भाव प्रबल बनता जायेगा। यह प्रबल वैरागी भाव ही तो साधु जीवन अंगीकार कराने में सहायता करता है। राग भाव जब उदय में नहीं रहता तब वह वैरागी अवस्था होती है। वैरागी अवस्था से ही मुनि धर्म में प्रवेश किया जाता है। और यह मुनि धर्म ही पालन की उत्कृष्टता में वीतरागी अवस्था की ओर ले जाता है—प्रशस्तता से प्रकाशित बनाता है। ऐसा होता है वीतराग का भक्त जो स्वयं वीतराग हो जाने की अभिलाषा रखता है, क्योंकि वीतराग देव का यही निर्देश होता है कि धर्मपालन की सर्वोच्चता के साथ तुम भी वीतराग बनो।

इस युग में भी वीतराग के सच्चे अनुयायियों की कमी नहीं है। हाँ, नामधारी बहुत हो सकते हैं और वास्तविक कम, लेकिन जो भी सच्चे अनुयायी हैं, वे समय आने पर उदयपुर के नगर सेठ के समान दृढ़ता का परिचय देते हैं। वीतराग का मार्ग वीरों का मार्ग है, इसलिये उनके सच्चे अनुयायियों को धर्मवीर बनना ही चाहिये। धर्मवीरता यही है कि अप्रशस्त आसक्ति तथा ममत्व मूर्च्छा का परित्याग करें, इन्द्रिय पोषण के स्थान पर आत्म पोषण में लगे तथा प्रशस्त गुणों को अपनाकर दृढ़ निश्चयी धर्मात्मा बनें।

## 11

## उठें ऊपर से ऊपर

धर्म जिनेश्वर मुझ हिवड़े बसो...

मैं मानूँ कि धर्म स्थानक में पहुँचने वाला प्रत्येक श्रोता धर्म की ही शरण लेना चाहता है। वस्तुतः यदि यह आत्मा समग्र भाव से धर्म की शरण में चली आए तो निश्चय ही मानव के सभी दुःख-द्वन्द्वों के समाप्त होने में देरी नहीं लगेगी। धर्म के उच्चस्थ स्वरूप के प्रतीक हैं धर्मनाथ भगवान्। जो उनका अनुसरण करते हुए धर्म के सत्य सिद्धान्तों पर प्रकाश डालता है, समझिये कि वह धर्मनाथ की सेवा कर रहा है। धर्म का पूर्ण स्वरूप अपने भीतर प्रतिबिम्बित करने तथा धर्म का उपदेश सकल जगत् के कल्याण हेतु देने के नाते सभी तीर्थंकर भगवान् धर्मनाथ के ही रूप हैं। सभी तीर्थंकर देवों ने धर्म का जो स्वरूप समझाया है, उसे यदि मानव अच्छी तरह समझ ले और अपने जीवन में उतार ले तो उसका जीवन अवश्य ही मंगलमय बनेगा।

जीवन के मंगलमय बनने का अर्थ होता है कल्याण! आत्मा का कल्याण तब माना जाता है जब वह अपने मौलिक स्वरूप के अनुसार ऊपर से ऊपर उठती हुई अपने सर्वोच्च स्थान को प्राप्त करके वहां सदा काल के लिये स्थिर और स्थित हो जाये एवं ज्योतिर्मय बन जाए।

अगर आत्मा को ऊपर से ऊपर उठना है और अपने चरम गंतव्य तक पहुँचना है तो समझने की बात यह है कि वर्तमान में वह है कहां और किस नीचाई पर? नीचे होगी तभी तो ऊपर से ऊपर उठेगी। उसकी निचली सतह मालूम करने से ही यह अनुमान लगाया जा सकेगा कि उसे कितनी तेजी से कितनी ऊपर उठना है।

## धर्म को ही स्थान दें जीवन में

प्रार्थना की पंक्तियों में कवि का संकेत है कि अपने मन-मन्दिर में केवल और केवल धर्मनाथ जी को ही प्रतिष्ठित करें, किसी अन्य को नहीं।



मन की समस्त विचारणा में जब मात्र धर्म का ही अस्तित्व होगा, धर्म ही ओत-प्रोत रहेगा तो उसकी वाणी और उसके सारे कार्य पूर्णतः धर्ममय ही होंगे। इस दृष्टि से जितनी भी बातें धर्म के स्वरूप से रहित हों, उनको अपने मन में स्थान देना अविवेकपूर्ण कहलायेगा। आप जानते हैं कि तलवार की म्यान सिर्फ तलवार रखने के लिये ही होती है—उसमें दूसरी कोई चीज नहीं रखी जाती है। यदि म्यान में अन्य कोई पदार्थ डाला जाये तो फिर उसमें तलवार नहीं समाएगी।

आशय यह है कि मनुष्य यदि अपने अन्तःकरण को म्यान के समान बना ले तो उस में धर्म रूपी तलवार का ही समावेश हो सकेगा, किसी अन्य तत्त्व का नहीं। धर्म रूपी तलवार मन रूपी म्यान में सम्यक् ज्ञान के प्रयोग से ही जा सकती है। अगर मन में स्वार्थ, काम, क्रोध, असत्य आदि असद् तत्त्व भरे हुए हों तो उस म्यान में धर्म रूपी तलवार का प्रवेश और समावेश संभव नहीं होगा। मन रूपी म्यान को भीतर से साफ-सुथरी रखने और तलवार को समाविष्ट करने के लिए पारम्परिक संस्कारों का प्रभाव महत्वपूर्ण होता है। कुल परम्परा से जो धार्मिक संस्कार आते हैं वे मन में बसे हुए रहते हैं। व्यवहार की दृष्टि से भी कई प्रकार के रीति-रिवाज इस तरह निर्मित होते हैं जो धर्म भावनाओं से प्रभावित रहते हैं और वे रीति रिवाज जब परम्परा से चलते रहते हैं तो उनके सुसंस्कार आने वाली पीढ़ियों के मन में बसते रहते हैं। इस प्रकार के धार्मिक संस्कार बड़े महत्वपूर्ण होते हैं और वह महत्व शाश्वत रूप ले लेता है। स्वच्छ कुल नीति का ऐसा ही स्वरूप होता है। ऐसी कुलनीति के प्रभाव से जीवन में धर्म को ही स्थान मिलता है।

जब जीवन में धर्म को स्थान मिल जाता है तब जीवन में पाप का प्रवेश कठिन हो जाता है। ऐसी जीवात्मा के मन में सदा धर्म का सत्य स्वरूप ही निवास करता है। फलस्वरूप उसका मन बाहरी दृश्यों के आकर्षण से दोलायमान नहीं होता है। उनके प्रति उसका अनासक्त भाव उत्पन्न हो जाता है। मनुष्य यदि अपने मन को ऐसे स्वरूप में ढालकर सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् चारित्र की अनुपालना करते हुए अपने जीवन में गति करे तो उसके सारे शरीर में भी धर्म का सत्य स्वरूप अभिव्यक्त होने लगता है।

### आत्मा, शरीर और मन धर्म की डोर में

यह सत्य है कि शरीर और मन एक साथ नहीं रह सकते हैं क्योंकि दोनों के गति-वेग में भारी अन्तर होता है। किन्तु इस शरीर के कण-कण में आत्म

प्रदेश फैले होते हैं। इस कारण आत्मा तथा मन का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। मन और आत्मा दोनों का निवास इसी शरीर के भीतर होता है। इस मन में यदि आत्मा का स्वरूप व्याप्त हो जाये तो शरीर के अणु-अणु से मन का वह स्वाभाविक तेज बाहर प्रकट होता है। तब प्रतीति हो जाती है कि आत्मा, शरीर और मन धर्म की डोर में पिरोये हुए हैं और उनकी गति एक साथ एक ही दिशा में हो रही है।

जिसके अनुसरण, अनुपालन एवं प्रभाव से मनुष्य का समग्र जीवन एकरूपता के साथ समुन्नत बनता है, उस धर्म के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है।

धर्म क्या है? उसका स्वरूप कैसा होता है और उसको धारण करने से यह जीवन किस रूप में ऊपर से ऊपर उठता हुआ गंतव्य की ओर गति कर सकता है? क्या धर्म मनुष्य का ही होता है या आत्मा का ही होता है अथवा सभी जीवात्माओं एवं सभी पदार्थों का होता है? शास्त्रकारों ने गागर में सागर वाली एक छोटी-सी व्याख्या दी है—वत्थु सहावो धम्मों अर्थात् जो जिस वस्तु का स्वभाव होता है, उसे ही उसका धर्म कहा जाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक आत्मा का एवं पदार्थ का अपना-अपना स्वभाव होता है। स्वभाव का अर्थ है अपना भाव अर्थात् अपना मूल स्वरूप। मौलिकता में इस स्वभाव का समावेश होता है। किन्तु प्रत्येक आत्मा अथवा पदार्थ अपने मौलिक स्वरूप में ही स्थिर नहीं रहता है। अपने मौलिक स्वरूप में जो आत्माएँ सदा काल के लिये स्थिर रहती हैं वे होती हैं सिद्धात्माएँ, जो इस संसार से परे होती हैं।

इस संसार में सभी आत्माओं और पदार्थों के रूप में नित्य प्रति परिवर्तित होते रहते हैं। किसी का मूल रूप अस्तित्व में बना नहीं रहता है। इस दृष्टि से यह माना जा सकता है कि वे अपने मूल स्वभाव में स्थित नहीं हैं। प्रश्न उठता है कि इन आत्माओं और पदार्थों की स्थिति किस में कही जाये? पदार्थ तो पुद्गल रूप होते हैं और वे स्वरूप से परिवर्तनशील होते हैं अतः उनकी बात छोड़ दें। जहां तक संसारी आत्माओं की स्थिति का प्रश्न है, निश्चय ही वे पूर्ण रूप से अपने मूल स्वभाव में स्थित नहीं होती हैं। अतः कहा जायेगा कि वे अपने मूल स्वभाव की विपरीत स्थिति में चल रही हैं। स्वभाव की विपरीत स्थिति का नाम है विभाव—अपने स्वभाव से बाहर और दूर। यह विभाव की स्थिति ही आत्म-पतन की परिचायिका है और इसी कारण धर्म धारण करने के लिये यही विकास यात्रा है जिसमें धर्म सिद्धान्तों को अपनाकर परम पद प्राप्त करने की बात कही जाती है।

कोई स्वभाव से विभाव में तब जाता है जब उस स्वभाव पर आवरण लगे और हलकेपन से उसमें भारीपन आ जाये। जैसे लकड़ी का टुकड़ा हलका होता है और उसका स्वभाव पानी पर तैरने का होता है। यदि कोई उस टुकड़े के साथ एक लौहखंड को जोड़ दे तो वह लकड़ी का टुकड़ा पानी की सतह पर तैर नहीं पाएगा। अपने ऊपर भार चढ़ जाने से वह डूब जायेगा। तो तैरना लकड़ी के टुकड़े का स्वभाव हुआ और लौहखंड से जुड़कर भारी हो जाने पर डूब जाना उसका विभाव हो गया। अब वह लकड़ी का टुकड़ा पुनः अपने स्वभाव में पहुँचे, उसके लिये यह कार्य करना जरूरी होगा कि लौहखंड से उसका सम्बन्ध काट दिया जाये। तब वह भारी से पुनः हलका हो जायेगा। यही उसका पुनः स्वभाव में प्रतिष्ठित हो जाना हुआ।

इस आत्मा की भी ऐसी ही अवस्था होती है। उसका मूल स्वभाव भी उस लकड़ी के टुकड़े के समान मूल रूप में हलका और ऊर्ध्वगामी होता है। किन्तु संसारी आत्मा की स्थिति विभाव में पड़ी होने के कारण वह भारी भी है और निचली सतह में डूबी हुई भी। इसलिये ऐसी आत्मा को मूल स्वभाव में पहुँचाने के लिये उसके भार को हटाना जरूरी है ताकि वह निचली सतह से ऊपर से ऊपर उठे और ऊपरी सतह तक पहुँच जाये। इसे ही आत्मा की विकास यात्रा कहते हैं जिसकी सफलता इस तथ्य पर निर्भर करती है कि आत्मा, शरीर और मन धर्म साधना के लिये सूत्र में जुड़ जायें।

### ऊपर से ऊपर रहने की साधना

संसार में अनादि काल से परिभ्रमण करते हुए आत्मा ने अपने मूल स्वरूप पर आठ कर्मों के भारी आवरण चढ़ा रखे हैं। इस कारण वह कर्म भार से दबी हुई है और संसार सागर की निचली सतह में डूबती जा रही है। कभी भार कुछ हलका होता है तो ऊपर उठने लगती है लेकिन भार अगर पहले से भी ज्यादा बढ़ जाता है तो फिर से डूबती हुई वह पहले से भी अधिक निचली सतह तक चली जाती है। इस प्रकार कर्म-भार की न्यूनाधिकता के अनुसार वह डूबती-उतरती रहती है लेकिन पूरे सामर्थ्य से तैर कर ऊपर से ऊपर उठते रहने का उसने अभी तक प्रबल पुरुषार्थ नहीं किया है। महद् पुण्योदय से यह समर्थ मानव जीवन मिला है और इस जीवन की अपार शक्तियों का सदुपयोग करते हुए यह आत्मा ऐसी साधना कर सकती है कि संवर व निर्जरा तत्त्वों की सहायता से वह निरन्तर ऊपर से ऊपर उठती रहे। अपने मन, वचन, काय के योग व्यापार को वह इस रूप में नियंत्रित कर सकती है कि एक बार जो ऊपरी सतह प्राप्त

कर ली है, फिर उससे नीचे डूबने का अवसर नहीं आये। ऊपर उठने की गति तीव्र हो या मन्द एक बार पतन का मार्ग बन्द हो जाये तब भी वह बहुत बड़ी उपलब्धि होगी तथा की जाने वाली साधना सफल बनेगी। फिर जो भी प्रयास होंगे उनका यही प्रभाव रहेगा कि प्राप्त सतह से ऊपर ही उठा जाये और एक दिन अपनी तरण शक्ति को सार्थक बनाकर सबसे ऊपरी सतह पर पहुँच जाये। इस ऊपरी सतह पर आत्मा का पहुँच जाना ही उसका अपने स्वभाव में स्थित होना अर्थात् मोक्ष प्राप्त करना है।

इस रूप में आत्मा द्वारा ऊपर से ऊपर उठने की जिस साधना का कार्यान्वयन किया जाता है उसी का नाम धर्म साधना है। धर्म यानी स्वभाव तक पहुँचा दे वह धर्म साधना। मन में धर्म के स्वरूप को प्रतिष्ठित करने की जो बात है वही अपने मूल स्वभाव को समझने तथा उसे प्राप्त कर लेने के कठिन संकल्प की बात है। अपने मन का स्वरूप तभी प्रतिष्ठित हो सकता है जब धर्म के पांच तत्त्व, प्रत्याख्यान या व्रत जीवन के आचरण में उतर जायें। वे तत्त्व आप जानते हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह। जैसे मन इस शरीर के अणु-अणु में व्याप्त है, उसी तरह मनोबल प्राण भी एक शक्ति के रूप में इस शरीर में व्याप्त है। यह बल प्राण मन को दृढ़ बनाता है तो उस दृढ़ता का प्रभाव शरीर पर पड़ता है। फिर यही दृढ़ता पूर्णतया व्याप्त होकर आत्म बल का स्वरूप ग्रहण कर लेती है।

मनोबल की इस दृढ़ता को आत्म बल में रूपान्तरित करने की एक सूक्ष्म प्रक्रिया होती है। इस प्रक्रिया को सहज योग साधना से पाया जा सकता है। इस प्रक्रिया की सफलता के लिये धर्म सिद्धान्तों के प्रति सम्यक् भाव से श्रद्धा का होना आवश्यक है।

### धर्म साधना की प्रक्रिया सर्वत्र संभव

मनुष्य चाहे कि मैं गृहस्थाश्रम में भी रहूँ और साथ में धर्मसाधना भी करूँ तो वैसा भी किया जा सकता है। धर्म साधना की प्रक्रिया अपने यथायोग्य समय यथायोग्य रूप में सर्वत्र संभव होती है। धर्म साधना का जो भावनात्मक रूप होता है वह तो गृहस्थी का प्रत्येक कार्य करते समय भी सक्रिय रह सकता है, बल्कि उसे सक्रिय रखा ही जाना चाहिये ताकि गृहस्थी के कार्यों में भी पाप का, हिंसा का या अन्य विकारों का समावेश न हो। जिस समय धार्मिक क्रियाएँ की जाएँ, उस समय भावनात्मक पक्ष में निरन्तर निखार आता जाना चाहिये। जहाँ तक धार्मिक क्रियाओं में प्रवृत्त होने का प्रश्न है, उस समय गृहस्थी का

कोई भी कार्य साथ में नहीं किया जा सकता है। गृहस्थी सम्बन्धी सारे कार्यों की प्रवृत्ति से सर्वथा हटकर ही धार्मिक क्रियाएँ साधनी चाहिये। इसलिये गृहस्थाश्रम में रहते हुए धार्मिक क्रियाओं की साधना के लिये अलग से विशिष्ट समय का निर्धारण कर लेना चाहिये। उस निर्धारित समय में दूसरे सारे काम छोड़कर एक चित्त से धार्मिक क्रियाओं की साधना में लगे रहना चाहिये।

गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी यदि इस प्रकार से धर्म साधना का क्रम बनाया जाये तो उसका गृहस्थाश्रम भी शुद्ध और प्रेरणायोग्य बन सकता है। इस साधना का आनन्द कैसा अनिर्वचनीय होता है, उसका अनुभव स्वयं साधना में प्रवृत्त होने पर ही ले सकते हैं। धर्म भावना का प्रसार अपनी चौबीस घंटों की पूरी दिनचर्या में हो जाना चाहिये जिससे खाते-पीते, चलते और सारे अन्य कार्य करते समय भी धर्म का ध्यान मन में लगा रहे। यह तभी हो सकता है जब नित प्रति निर्धारित समयानुसार धर्म साधना का क्रम बराबर चलता रहे। यह अभ्यासगत वस्तुस्थिति होती है। एक छात्र अपने विद्यालय में गणित पढ़ता है और उसके प्रश्नों के हल निकालने का अभ्यास करता है। जब उसका यह अभ्यास कुछ पुष्ट होने लगता है तब वह अपने गणित के ज्ञान का प्रयोग घर के किसी काम में या कि दुकान के व्यापार में सफलतापूर्वक कर सकता है। किन्तु यदि वह विद्यालय में गणित का अभ्यास ही नहीं करे तो उसका घर या दुकान पर प्रयोग करने का सवाल ही नहीं उठता। इसी प्रकार सामायिक, प्रतिक्रमण अथवा अन्य धार्मिक क्रियाओं के माध्यम से साधना के अभ्यास को परिपुष्ट कर लिया जायेगा तब उस धर्म भावना का प्रसार पूरी दिनचर्या और फिर जीवन चर्या तक व्यापक हो जायेगा। फिर प्रतिपल प्रतिक्षण उसे प्रत्येक कार्य में मात्र धर्म का ही ध्यान रहेगा।

अपने स्तर पर धर्म साधना गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी हो सकती है। उसी धर्म साधना को पूर्णत्व प्रदान करने के लिये साधु धर्म अंगीकार किया जाता है। यह जीवन पूरी तरह से धर्म साधना के लिये ही होता है। इसमें कोई भी सांसारिक प्रपंच नहीं रहता है। इस कारण इस जीवन में धर्म साधना के स्तर को अपनी निष्ठा और अपने पुरुषार्थ के अनुरूप ऊपर से ऊपर उठाया जा सकता है। जितने पहले बंधे हुए कर्मों का क्षय किया जायेगा, उतना ही ऊपर से ऊपर उठने का वेग भी तीव्र होता जायेगा। मूल बात है कि आत्मा का कर्म भार घटता जाये। उसकी भार हीनता बढ़ती जायेगी वह हल्की होती जायेगी, तो स्वाभाविक रूप से ऊपर से ऊपर उठती ही जायेगी। यही आत्म कल्याण का मार्ग होता है।

## अहिंसा का सत्य से ही पोषण

जिन पांच व्रतों का उल्लेख किया गया है, वे श्रावकों यानी गृहस्थों के लिये पांच अणु (छोटे) व्रत के रूप में होते हैं और साधु जीवन के लिये महाव्रतों के रूप में। साधु तीन करण तीन योग से उन व्रतों का पालन करता है तो श्रावक का त्याग स्थूल रूप से होता है। इन पांच व्रतों में पहले के दो व्रत अहिंसा और सत्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण होते हैं। अहिंसा का सम्बन्ध मूलतः आचरण से होता है तो सत्य का जीवन के सिद्धान्तों से। सिद्धान्त और आचरण की एकरूपता तथा उच्चता ही श्रेष्ठ जीवन प्रणाली का निर्माण करती है।

इस दृष्टि से अहिंसा आत्मा से व्यावहारिक रूप में सम्बन्धित होती है अतः आत्मिक धर्म कहलाती है। अहिंसा का पोषण सत्य से होता है। सत्य को अहिंसा का आधार भी कह सकते हैं। सत्य पर आधारित अहिंसा जीवन-विकास का मूल मंत्र होती है। क्रिया रूप में भले दस सामायिकें एक साथ कर ली जाएं और उसमें जान कर असत्य का प्रयोग भी नहीं करें तब भी सत्य की भूमिका पुष्ट नहीं बनेगी, अहिंसा का स्वरूप भी नहीं निखरेगा। इसलिये तीर्थकर देवों ने गृहस्थों के लिये जो पांच अणुव्रतों का निर्देश दिया है, अहिंसा और सत्य पालन का अभ्यास भी इन्हीं पांच अणुव्रतों के अनुरूप ही करना होगा। अहिंसा और सत्य व्रतों के पालन के कोई नये मानदंड कायम करने की जरूरत नहीं है। श्रावक धर्म में सबकुछ स्पष्ट रूप से निर्धारित किया हुआ है।

श्रावक धर्म के अनुसार पहले अणुव्रत अहिंसा व्रत का स्वरूप इस प्रकार है कि स्थूल प्राणातिपात (हिंसा) का त्याग किया जाता है। स्थूल त्याग का अर्थ होता है स्वशरीर में पीड़ाकारी, अपराधी तथा सापेक्ष निरपराधी से सम्बन्धित हिंसा की छूट रहती है। किन्तु, इनके सिवाय अन्य सभी द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों की संकल्पपूर्वक हिंसा का दो करण तीन योग से त्याग लिया जाता है।

एक श्रावक छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़ों को भी बचाने की चेष्टा करता है किन्तु घर-दुकान के कामों में लगकर अगर वह असत्य का प्रयोग करता है, दिलों को दुःखाने व हानि पहुँचाने वाले कटु वचन बोलता है अथवा यतनापूर्वक कार्य नहीं करता है तो वह अवश्य ही हिंसा के पाप का भागी बनता है। सामायिक व्रत में बैठकर उसको सोचना चाहिये कि अब मैं मन, वचन, काया से किसी भी जीव को दुःख नहीं दूंगा। मधुर वाणी के प्रयोग से सबमें और क्रोधी जीवों तक में शान्ति उपजाऊंगा। इस व्यवहार उसके जीवन में संशोधन एवं परिमार्जन का क्रम चलता रहता है। इस क्रम में उसकी अहिंसा वृत्ति पुष्ट

बनती जायेगी तो सत्य भी परिपक्व होता जायेगा। जैसे एक पक्षी को आकाश में उड़ने के लिये दो पंखों की जरूरत होती है, उसी प्रकार अहिंसा और सत्य के दो पंख अगर एक श्रावक पूरे विवेक से अपने जीवन में लगा ले तो उसका जीवन उन्नति के आकाश में ऊँची उड़ानें भर सकता है।

### ऊँची उड़ानों का अर्थ है ऊर्ध्वगामिता

उन्नति के आकाश में जीवन या आत्मा द्वारा ऊँची उड़ान भरने का ही अर्थ है ऊर्ध्वगामिता—जो आत्मा का स्वाभाविक गुण है। धर्म साधना की शुद्धता के प्रभाव से ज्यों-ज्यों आत्मा का कर्म भार हलका होता जायेगा, त्यों-त्यों उसकी ऊर्ध्वगामिता उन्नत बनती जायेगी। फिर उच्चस्थ ऊर्ध्वगामिता ही उस आत्मा को अपने स्वभाव में तथा स्वरूप में स्थापित कर देगी।

किन्तु सबसे कठिन तो यही है कि भान भूली हुई इस आत्मा का ऊर्ध्वगामिता का क्रम आरंभ हो। मोह ममत्व की मूर्च्छा से यह आत्मा जागे, अपने अन्तरस्वरूप की इसे पहचान हो तथा अपने मूल स्वभाव की ओर गति करने की इसकी लगन लगे। इतनी पृष्ठभूमि के निर्माण के बाद ही आत्म-कृतित्व का अध्याय आरंभ होता है कि वह आचरण के मैदान में उतरे। उस आचरण का प्रथम सूत्र सम्यक्त्व धारण करना है। आगे का सूत्र होता है श्रावक के वृत्तों को ग्रहण करना। तदनन्तर मुनि धर्म की उत्कृष्ट पालना से लक्ष्य पूर्ति की आशा रखी जा सकती है। होना यह चाहिये कि एक बार ऊर्ध्वाभिमुखी हो जाने के बाद आत्म निष्ठा निरन्तर ऊर्ध्वगामिता की ओर ही लगी रहे। इस निरन्तरता के लिये ही विभिन्न विकारों के परित्याग के साथ-साथ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि सद्गुणों से जीवन विभूषित भी बनना जाना चाहिये। ऐसे जीवन का मूलाधार सत्य होना चाहिये क्योंकि सत्य की सदैव विजय होती है।

सत्य के प्रति निष्ठा पूर्ण होनी चाहिये। झूठ न बोलें, यह एक बात, किन्तु सत्य को इस तरह तोड़ मरोड़ कर भी नहीं कहना चाहिये कि धोखे से उसमें झूठ का समावेश कर लिया जाये। हकीकत में ऐसा सच बोलना झूठ से भी बदतर हो जाता है। पहले के जमाने में सम्बन्ध योग्य लड़के लड़की की तलाश करने के लिये नाई को भेजा जाता था। एक सेठ ने भी अपने पुत्र के लिये योग्य लड़की की तलाश करने के लिये अपने नाई को भेजा। नाई को कुछ राशि तो सेठ ने दे दी और कहा कि योग्य लड़की की खोज सफल बनने पर और राशि दी जायेगी। नाई घूमते-घूमते एक नगर में एक सेठ के घर पहुँचा और लड़की के बारे में बात की। सेठ भी चालाक था। उसने अपनी लड़की नाई को दिखाई और दो

हजार की राशि उसके हाथ पर धर दी कि वह किसी भी तरह उसकी लड़की का सम्बन्ध अपने सेठ के लड़के से करा दे। नाई ने लड़की देखी और विचार में पड़ गया लेकिन दो हजार रुपयों के लोभ को छोड़ना भी उसके लिये कठिन हो गया। तब उसने सत्य को तोड़ मरोड़ कर कहने का निश्चय किया ताकि अपने सेठ के सामने झूठा भी नहीं पड़े और दी हुई दो हजार की राशि को भी पचा सके।

अपने नगर पहुँचकर नाई ने सेठ से अपनी देखी हुई लड़की से उनके लड़के का सम्बन्ध करने का आग्रह किया। वह बोला—सेठ साहब, मैंने देखा, वह लड़की बहुत अच्छी है। सिर्फ एक कमी है। सेठ ने पूछा—वह क्या? उसने उत्तर दिया—बस आंख की थोड़ी सी तकलीफ है। क्या तकलीफ है—यह पूछने पर उसने कहा—एक आंख में तो कुछ नहीं, दूसरी आंख में फूला जो भूला सो भूला। सेठ उसका ठीक से अर्थ नहीं लगा सके और सम्बन्ध के लिये सहमत हो गये। यह तो विवाह होकर लड़की उनके घर में आई तब पता चला कि लड़की तो साफ अंधी है। उन्होंने नाई को बुलाकर भला-बुरा कहा तो वह बोल पड़ा कि उसने तो पहले ही स्पष्ट बता दिया था—एक में कुछ नहीं, दूसरी में फूला। तात्पर्य यह है कि सत्य को तोड़ मरोड़ कर, छिपा कर या लपेटे में लेकर झूठ के समान नहीं बना देना चाहिये।

कोई इस प्रकार का सत्य बोले और कल्पना करे कि उसकी आत्मा की गति ऊर्ध्वगामी बनी रहेगी तो यह उसका भ्रम ही होगा। सत्य को सत्य का नाम देकर भी उसे सत्य न रखने की जिसकी प्रवृत्ति हो, वह भला दूसरे व्रतों का कपटपूर्वक कितना बुरा हाल करेगा—यह कहा नहीं जा सकता है। सत्य निष्कपट और निश्छल भी होना चाहिये। सत्य पूर्ण सत्य समझा जायेगा एवं अन्य सभी व्रतों का पालन भी निष्ठापूर्ण होगा, तभी आत्मा ऊँची उड़ान भरते हुए उर्ध्वगामी बन सकेगी।

### ऊर्ध्वगामिता से मूल्यों का सृजन

आत्मा विभिन्न सद्गुणों को अपनाती हुई अपने ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की अभिवृद्धि करती है तथा ऊर्ध्वगामी बनती है। उस समय उसके श्रेष्ठ आचरण के जो बिन्दु उभरते हैं, वे ही मानवता के मूल्य बन जाते हैं। ऐसे मूल्य जिनका सृजन सब ओर प्रचलन के साथ पारस्परिक एवं पारम्परिक संस्कारिता का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। ऐसे संस्कार ही पीढ़ियों की थाती बन जाते हैं।

मानवीय मूल्यों का ऐसा सृजन आदर्श होता है इसीलिये अनुकरणीय होता है। श्रेष्ठ पुरुष ऐसे आदर्श मूल्यों का सचाई के साथ पालन करते हैं। किन्तु कई



लोग ऐसे भी होते हैं जो मूल्यों की आड़ में अपने स्वार्थों का शिकार खेलते हैं तथा उन मूल्यों का अवमूल्यन करते हैं। ऐसे लोग कथनी में अहिंसा का नाम लेते हैं किन्तु उनकी करनी हिंसा भरी होती है। वे सत्य का नाम तो ऊपर रखते हैं लेकिन उसे तोड़ मरोड़ कर मृषावाद का ही सेवन करते हैं। ऐसे दोहरे आचरण से व्यक्ति स्वयं सिद्धान्तों को बदनाम करा है। ऐसे मायावी आचरण से मानवीय मूल्यों का हास होता है।

ध्यान रखिये कि शरीर बहुत सुन्दर और कमनीय हो लेकिन उसके भीतर अगर आत्मा ही न रहे तो उस शरीर का क्या महत्त्व रहेगा? इसी प्रकार सिद्धान्तों तथा मूल्यों की आत्मा का हनन किया जाता रहे और उनका बाहरी ढांचा दिखाने भर को रख दिया जाये तो क्या उससे कोई सार निकलेगा? जीवन में सत्य निष्ठा को सर्वोपरि रखें, आचरण को अहिंसा से अनुप्राणित बनाएं और ऊपर से ऊपर उठते रहने की ऊर्ध्वगामिता को स्थिरता प्रदान कर दें तो निश्चय मानिये कि लक्ष्य प्राप्ति दूर नहीं रहेगी।

दिनांक 11.09.1986

(जलगांव)

## 12

## धर्म का मर्म जानें

धर्म जिनेश्वर मुझ हिवड़े बसो...

वीतराग देवों द्वारा उपदेशित धर्म सिद्धान्तों का अनुसन्धान-अनुशीलन करने की भावना के साथ सभी धर्मस्थानक में उपस्थित हैं। परमात्मा, तीर्थकर भगवान् जैसी दिव्य आत्माएँ वीतराग स्वरूपी हो गई हैं, उन्होंने धर्म के वास्तविक स्वरूप को सम्पूर्ण जगत् के समक्ष प्रस्तुत किया, समझाया तथा धर्म का मर्म बताया है। उन उपदेशों का शास्त्रों और आगमों के रूप में गद्य अथवा पद्य शैली में गुंफन हुआ है। इन गुंफित शब्दों को पढ़ने और समझने से धर्म का मर्म स्पष्ट होता है।

क्या धर्म के मर्म को पढ़ने और समझने तक ही सीमित रखना चाहिये? क्या इतने मात्र से हमारा उद्देश्य पूरा हो जायेगा? धर्मस्थानक में शास्त्रीय शब्दों का उच्चारण किया जाता है तथा विश्लेषण करके उनका अर्थ भी समझाया जाता है। आप उसे सुनते हैं और अपने घर चले जाते हैं। क्या सबके कर्तव्य की इति श्री हो गई? ऐसा नहीं है। मात्र ज्ञान से आत्म कल्याण नहीं हो जाता है। ऐसे ज्ञान के साथ क्रिया का चरण उठना ही चाहिये। जो कुछ आप धर्म के मर्म रूप में सुनते और समझते हैं, उसे अपने जीवन में साकार रूप देने की भी चेष्टा रखिये। सिद्धान्तों के अनुसार जब तक जीवन का आचरण नहीं ढाला जाता तब तक उन सिद्धान्तों का सार प्राप्त नहीं हो सकता है।

एक बात अवश्य है कि धर्म का मर्म जाने और समझे बिना ही क्रिया का चरण उठा लें तो वह अनुपयुक्त होगा, क्योंकि सम्यक् ज्ञान के अभाव में सम्यक् चारित्र का सद्भाव संभव नहीं होता है। ज्ञान और क्रिया दोनों का संयोग आवश्यक है। इसी शुभ संयोग के आधार पर धर्म का मर्म प्रकाशित होता है।

## धर्म को कितने लोग जानते हैं?

धर्म को कितने लोग जानते हैं और उसका मर्म तो विरले ही पहचानते होंगे? धर्म के सच्चे स्वरूप और उसके गूढ़ अन्तरहस्य को जाने बगैर किसी के अन्तर्हृदय में धर्म की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है।

यों पुस्तकों में पढ़कर धर्म की व्याख्या कर लेना सरल है किन्तु तदनुसार उसे अपने जीवन में उतारना कठिन है। सभी कहते हैं—धर्म करो, धर्म करो, लेकिन वस्तुतः वे धर्म का मर्म नहीं जानते हैं। सभी धार्मिक क्षेत्रों में प्रायः धर्म की ही चर्चा होती रहती है और उन चर्चाओं में अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार धर्म की व्याख्याएँ भी की जाती हैं। लेकिन, उनको धर्म के अन्तरहस्यों का कितना ज्ञान है—इसका कम ही लोग पता चलाते हैं। कोई भी अनुष्ठान होगा या किसी कार्यक्रम का आयोजन अथवा किसी प्रकार का विधि विधान, उसको धर्म कार्य का नाम तो दे दिया जायेगा किन्तु मुश्किल से ही यह स्पष्ट किया जाता होगा कि उस अनुष्ठान, कार्यक्रम अथवा विधि विधान के पीछे कौन-सी भावना या जीवन निर्माण की कौन-सी कला है। यदि उन्हें इसके सम्बन्ध में पूछा भी जाये तो वे ऐसी जिज्ञासाओं का सही समाधान नहीं कर पायेंगे। हां, धर्म को सभी पहलुओं के साथ जानने के बारे में अनोखा विरोधाभास दिखाई देता है। धर्म के रहस्य को स्वयं जाने नहीं और धर्म करने का उपदेश दें अथवा धर्म के बाहरी आडम्बरों को बढ़ायें तो यह व्यक्ति या समाज के कल्याण का साधन नहीं बन सकता है।

धर्म का बाहरी रूप सभी को दिखाई देता है। इन बाहरी रूपों के माध्यम से धर्म के मर्म अथवा अपने ही अन्तःकरण में प्रवेश नहीं किया जा सकता है। बारीक नजर से देखा जाये तो आज की दुनिया में, मुख्य रूप से अनेक धर्मों को जन्म देने वाली भारत की इस धरती पर आज यही हो रहा है कि लोग धर्म के बाहरी रूपों को ही पकड़ कर बैठ गये हैं। उनकी अन्तर्प्रेरणा क्या है—इसको न वे जानते हैं और न ही उस ओर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहते हैं। इस वृत्ति के दुष्परिणाम भी सबके सामने हैं। धर्म आत्म कल्याण का मानवीय मूल्यों को जगाने का अथवा समाज और राष्ट्र में प्रेम, सहयोग तथा भाईचारा बनाने का साधन नहीं रह गया है। उसे तो विवाद, झगड़ों और दंगों का माध्यम बना दिया गया है। कहते तो यही हैं कि 'मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना', मगर असल में मजहब के नाम पर शायद मात्र बैर रखना ही सिखाया जाने लगा है। ऐसी मनोवृत्तियों तथा गतिविधियों का ऐसा विस्तार हो गया है कि चारों ओर खून खराबा ही दिखाई दे रहा है। यह सब केवल धर्म के नाम पर हो रहा है। इसी

से पैदा हुआ है धर्म कट्टरतावाद का काला भुजंग जो सबको डस रहा है, जहर फैला रहा है और मार रहा है। लेकिन उससे निपटने का कोई रास्ता आज के मानव को नहीं दिखाई दे रहा है। वह मतिविभ्रम और मति भ्रष्ट हो रहा है।

### धर्म और हिंसा का तालमेल कैसा ?

क्या उस धर्म को भी माना जाये जो हिंसा की राह दिखाता है? धर्म मनुष्यों को उन्नति की राह दिखाता है, पतन की नहीं! हिंसा को जीवन में स्थान देने से मात्र पतन होता है। फिर आज के जमाने में यह धर्म और हिंसा का तालमेल क्यों और कैसे?

कहा तो यही जाता है कि सभी धर्म परमात्मा पद की ओर ले जाते हैं। ध्येय एक है, मार्ग अनेक हैं। वास्तव में यह स्थिति हो तब भी कोई आपत्ति नहीं है। अलग-अलग मार्गों पर चलकर भी यदि एक ही ध्येय प्राप्त कर लिया जाता है, तो उस विविधता में भी एकता ही मानी जाये। लेकिन क्या इस मान्यता में आज कोई वास्तविकता रह गई है? क्या आप कसौटी लगाकर देखते हैं कि सभी धर्म वाले एक ही ध्येय परमात्मा पद को प्राप्त करने की दिशा में ही बढ़ रहे हैं? जो परमात्मा को मानते हैं उन्हें आत्मा को भी मानना होगा तथा आत्माओं की समानता में अपना विश्वास जगाना होगा। यदि आत्माओं की समानता मान ली जाती है तो फिर परस्पर विद्वेष, वितंडावाद तथा हिंसक संघर्ष का अवसर कैसे पैदा हो सकता है?

आज यदि ऐसे लज्जाजनक अवसर बार-बार आते हैं, दुनिया भर के भले वक्तव्यों के बावजूद निर्दोष व्यक्तियों का खून बहता है, पारस्परिक प्रेम सहयोग का सर्वनाश होता है तब निश्चित रूप से कहना पड़ेगा कि जिनको धर्म कहकर जाना जाता है, वे दरअसल धर्म हैं ही नहीं। वे तो कट्टरता की उत्तेजना के घृणित रूप मात्र हैं। फिर सभी धर्मों को धर्म कहते हैं, क्या यह वास्तविक धर्म के प्रति अन्याय नहीं होगा? पीतल को भी सोना कहें और सोने व पीतल के भेद को नहीं पहचानें तो क्या सोने का सही मूल्यांकन किया जा सकेगा?

धर्म तो वह वटवृक्ष होता है जिसकी छाया में आने पर सभी जीवों को शान्ति का अनुभव मिले। बाहर से लड़ते झगड़ते, वैर विरोध करते हुए प्राणी इस छाया के नीचे पहुँचें तो शान्त हो जाते हैं और एक-दूसरे से प्रेम करने लगते हैं। तभी तो शेर बकरी के एक घाट पानी पीने की कहावत चली है। फिर ऐसे धर्म को आपसी मार काट और खून खराबे का कारण बनाने लगे तो उसमें उसकी यथार्थता कहां रह जायेगी? इसी कारण धर्म को जानने के बाद यह भी

जानना जरूरी है कि धर्म का मर्म क्या है? धर्म के बाहरी क्रियाकलाप के पीछे जीवन का किस विधि से आन्तरिक निर्माण करने की धारणा रही हुई है—उसे समझे बिना धर्म का उस रीति से सदुपयोग नहीं होता है। ऐसे अज्ञान के कारण ही विभिन्न धर्म वाले आपस में धर्म के नाम पर झगड़ते हैं और कट्टरतावाद के काले रूपों का प्रदर्शन करते हैं। इस दूषित एवं कलुषित वातावरण को बदलने के लिये धर्म के मर्म को भीतर भावना से समझने की जरूरत है। यह तभी समझ में आ सकेगा जब स्पष्ट हो कि धर्म और हिंसा एकदम विरोधी हैं। और जहां हिंसा होती है वहां धर्म हो ही नहीं सकता। धर्म से अहिंसा ही प्रकट होनी चाहिये, क्योंकि अहिंसा के उजियारे से ही धर्म की वास्तविकता रोशन होती है। अहिंसा से ही पारस्परिक प्रेम, सहयोग और सहकार—उज्ज्वल होते हैं। इसीलिये ‘अहिंसा परमो धर्मः’ कहा गया है। अहिंसा ही सबसे बड़ा धर्म है।

### धर्म का मर्म जानने की वृत्ति

यदि सामान्य धर्मोपदेशक धर्म का स्वरूप बतलाते हुए सरलता से यह मान लें कि उन्हें धर्म के मर्म का ज्ञान नहीं है, तब भी जनता को कट्टरतावाद से बचा सकते हैं। किन्तु प्रत्येक धर्मोपदेशक अपनी बात पर बल देना चाहते हैं कि जो कुछ वह बता रहा है, वही सत्य है—शेष सब लोगों के कथन असत्य हैं। सच पूछो तो सारा वितंडावाद ऐसी हठधर्मिता से ही पैदा होता है और सामान्यजन के मन मस्तिष्क में कट्टरतावाद का विष फैलाता है। ऐसा कहने वाले धर्म का मर्म जानते ही नहीं, ऊपर से सत्य को भी विकृत बनाते हैं। ऐसा करने से सामान्य जन के हृदय में धर्म का मर्म जानने की वृत्ति ही अवरुद्ध हो जाती है। जहां हठवाद भड़काया जाता हो, वहां सत्य का अस्तित्व ही कहां रहता है? अतः इस परिस्थिति को जानकर सबसे पहले धर्म को तथा धर्म के मर्म को जानने की वृत्ति जगायी जानी चाहिये।

आज ऐसी ओछी मनोवृत्तियाँ बन गई हैं कि कोई कुछ शास्त्र-ग्रंथ पढ़ लेता है या धर्म की कुछ बातें जान जाता है अथवा कुछ बहस मुबाहिसा कर लेता है तो अपने आपको धर्म का पंडित और ज्ञाता समझ लेता है। ऐसी मनोवृत्ति के कारण जिज्ञासा वृत्ति का अन्त हो जाता है। वह अपने झूठे अहंकार के कारण न तो सच्चे ज्ञान के समीप पहुँच सकता है और न ही धर्म का मर्म जान पाता है। उससे धर्म के बारे में प्रश्न पूछे जाते हैं तो वह उनका दांभिक उत्तर देता है और अपनी विकृत जानकारी सरल मस्तिष्कों में भरता है। ऐसे ही लोग झूठी मान प्रतिष्ठा के खातिर धर्म के नाम पर विग्रह पैदा करते हैं और वातावरण को विषाक्त बनाते हैं। यों उनका मूल व्यवहार ही धर्म के विरुद्ध होता

है। अतः इस कार्य की प्राथमिक और प्रधान आवश्यकता है कि सामान्य जन को धर्म की वास्तविकता समझायी जाये और उन्हें ही अनुप्राणित किया जाये धर्म का मर्म जानने के लिये।

धर्म कोई बाजार में बिकती हुई चीज नहीं होती कि जो उसका पैसा दे वह उसे खरीद ले। पैसा धर्म प्रचार में सहायक हो सकता है, किन्तु पैसे से धर्म भावना खरीदी नहीं जा सकती है। मूलतः धर्म तो जीवन का स्वरूप है और बताता है कि जीवन के स्वरूप को धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार ढालें। जीवन में जब तक धर्म की यथार्थ परिभाषा प्रतिफलित नहीं होती, तब तक कोई धर्म का ठेकेदार भले ही बन सकता है, धार्मिक नहीं बन सकता। धार्मिकता का निखरा हुआ स्वरूप तो जिज्ञासा वृत्ति की सन्तुष्टि के बाद ही सामने आता है। जितना और जो जानने की अभिलाषा है, उसे सन्तोषजनक रीति से जान लें तभी तो धर्म के अनुसरण की सच्ची आस्था जन्म लेती है।

### धर्म के स्वरूप की यथार्थता

ज्ञानियों का कथन है कि जिस वस्तु में जो सतत सत् स्वरूप रहता है, वही उसका निजी स्वरूप है—धर्म है। उदाहरण के लिये पानी को लें। पानी एक वस्तु स्वरूप है और उसका धर्म है शीतलता पहुँचाना। जैसे आग का धर्म है उष्णता, जलाना। सूर्य का धर्म है प्रकाश देना। इस प्रकार विविध पदार्थों में विविध धर्म रहते हैं।

इसी प्रकार आत्मा का धर्म होता है सदा पवित्र रहना तथा पवित्रता देना। अब ऐसा जो निजी स्वभाव होता है, उस स्वभाव को किसी भी परिस्थिति में छोड़ना नहीं चाहिये। जब आत्मा का निजी स्वभाव छूटता है, समझिये कि तब आत्म भाव को तिलांजलि देना हो जाता है। वैसे आत्मा का स्वरूप इन सभी पदार्थों से हटकर अपने शान्त और प्रशान्त भावों में रमण करना होता है। आत्म भावों में कभी-कभी उष्णता झलकती है, लेकिन यह उसका अपना स्वभाव नहीं होता है। उस उष्णता का कारण क्रोध और प्रतिशोध होता है जो आवेग के समय में आत्म भाव का दमन कर देता है। तब मोह ममत्व के असर से पर-पदार्थों में लुब्धमान होकर मनुष्य अपने आत्मभाव यानी कि स्वभाव को भूल जाता है और विवाद तथा संघर्ष में लग जाता है। उससे हकीकत में उसे मिलता कुछ नहीं किन्तु वह अपनी भाव हानि अवश्य कर लेता है। इन सब बातों की तरफ सामान्य जन का ध्यान नहीं रहता है। वे तो सिर्फ धर्म का नारा लगाते हैं, धर्म को अर्थ नहीं दे पाते हैं।

शास्त्रों में धर्म को विविध प्रकार से परिभाषित किया गया है। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय को धर्म कहते हैं। जीवों को न मारना अपितु उनकी रक्षा करना रूप अहिंसा धर्म को भी परम धर्म कहा है। क्षमा, निर्लोभता आदि दस लक्षण रूप को भी धर्म कहा गया है। वस्तु के स्वभाव को भी धर्म कहते हैं। सारांश यह कि जिस अनुष्ठान या कार्य से निःश्रेयस् अर्थात् कल्याण की प्राप्ति हो वही धर्म है। आगम के अनुसार इस लोक और परलोक सुख के लिये हेय तत्त्वों को छोड़ने तथा उपादेय तत्त्वों को ग्रहण करने की जीव प्रवृत्ति को धर्म कहते हैं। जो दुर्गति में गिरते हुए प्राणी को धारण करे और सुगति में पहुँचावे वह धर्म है।

सर्वज्ञ भाषित, दयामय, विनयमूलक, आत्मा और कर्म का भेद ज्ञान कराने वाला मोक्ष तत्त्व का प्ररूपक शास्त्र धर्म तत्त्व है और यों निश्चय में उपयोग ही धर्म है।

धर्म के दो भेद बताये गये हैं—1. श्रुत धर्म—अंग और उपांग रूप शास्त्रीय वाणी को श्रुतधर्म कहा है जिसे वाचना, पृच्छना आदि के उपभेदों में वर्गीकृत किया गया है। 2. चारित्र धर्म—कर्मों का नाश करके आत्मा स्वरूप को पवित्र बनाने की चेष्टा का नाम चारित्र धर्म है जिसे मूल गुण एवं उत्तर गुणों का समूह भी कहते हैं। इस के आगार (श्रावक) धर्म एवं अनगार (साधु) धर्म नाम से दो भेद हैं।

एक अन्य दृष्टि से धर्म के चार प्रकार किये गये हैं—1. दान—स्व और पर के उपकार के लिये अर्थी—जरूरतमन्द व्यक्ति को जो दिया जाता है, वह दान है। दान वस्तु का ही नहीं, भावों का भी होता है जैसे अभयदान, अनुकम्पादान, ज्ञानदान आदि। 2. शील—दैविक एवं औदारिक काम भावों का अर्थात् मैथुन का त्याग करना शील है। स्वदार सन्तोष और परस्त्री विवर्जन रूप बह्मचर्य एकदेश शील है। 3. तप—आठ प्रकार के कर्मों एवं शरीर की सात धातुओं को जलाने वाला अनुष्ठान तप होता है। यह बाह्य और आभ्यन्तर रूप से दो प्रकार का तथा कुल बारह प्रकार का होता है। 4. भावना—मोक्षाभिलाषी आत्मा अशुभ भावों को दूर कर शुभ भावों में लगाने के लिये जो संसार आदि की अनित्यता का विचार करती है, वही भावना है। ये अनित्य, अशरण आदि बारह प्रकार की होती हैं और मैत्री, प्रमोद आदि चार प्रकार की।

वस्तुतः धर्म का स्वरूप आत्मा का निज स्वरूप होता है जो सर्व सद्गुणों का पुंज तथा सत्पुरुषार्थ का शक्ति प्रयोग होना चाहिये और यह सब स्व-पर कल्याण की भावना से युक्त हो।

## गहो धर्मनाथ के चरण

कवि कहता है कि जो धर्मनाथ जिनेश्वर के चरण पकड़ लेता है, वह निश्चय रूप से कर्म मुक्त हो जाता है। धर्मनाथ के चरण गहने या पकड़ने का यह तात्पर्य है कि उनके पूर्ण विकसित स्वरूप का अनुकरण करके अपने आत्मस्वरूप को भी धर्म साधना की सहायता से तद्रूप बना लेना। धर्मनाथ प्रभु ने तथा अन्य तीर्थंकर देवों ने जो धर्म का स्वरूप बताया है और जो शास्त्रों में गूँथा हुआ है, उस स्वरूप को ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की आराधना करके अपने जीवन में उतारना—यही धर्मनाथ प्रभु के चरण गहना है।

धर्मनाथ प्रभु के ये ही दो चरण हैं—श्रुत धर्म एवं चारित्र धर्म। चरण एक नहीं, दोनों पकड़ने हैं। अपूर्व आस्था के साथ जब कोई भव्य आत्मा इन दोनों चरणों को पकड़कर धर्मनाथ प्रभु की उपासना करती है तो वह अपने सर्वकर्मों का क्षय करके स्वयं भी धर्मनाथ बन जाने की उन्मुक्त दिशा में अग्रगामी हो जाती है।

शास्त्रकारों ने कहा है कि जो धर्म के मर्म को, उसके सत्य स्वरूप को तथा अन्तरहस्य को समझ लेता है, वह कभी पाप में प्रवृत्ति नहीं करना चाहता। फिर भी इस संसार में पाप से बचा नहीं जा सकता। एक व्यक्ति किसी भी जीव को मारना नहीं चाहता है किन्तु अन्यान्य कार्यों में कई जीव मर जाते हैं। इसमें पाप करना एक बात है और पाप हो जाना एकदम दूसरी बात। 'मैं यह पाप करूँ' इस इरादे से ही पाप कर्म करता है, उसको निकाचित कर्मों का बंध हो जाता है। किन्तु जिस पाप को करने में लाचारी, पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त का भाव रहता है तो उस पाप के कारण निकाचित कर्म बंध नहीं होता है। धर्म की बात बताने के लिये मैं सत्य की बात कर रहा हूँ। आत्मा का निजी स्वरूप ही परमात्मा का स्वरूप होता है तथा वही सत्य जीवन होता है।

सत्य पथ पर चलते हुए साधक के मन में शान्ति, सहनशीलता और क्षमा का निवास हो जाना चाहिये। कोई आपका तिरस्कार या अपमान करे तो भी उत्तेजना नहीं आनी चाहिये। उसके लिये वैरभाव पैदा करने का तो विचार मात्र भी नहीं उठे। उस वक्त चिन्तन कीजिये कि जो यह तिरस्कार किया गया है वह तो इस शरीर पिंड का है। आत्मा का कोई अपमान नहीं कर सकता है। सत्यनिष्ठ व्यक्ति को आकर्षक प्रलोभन प्रभावित नहीं कर सकते हैं। उसके जीवन में तो धर्म की एक विशिष्टता उत्पन्न हो जाती है। वैसे भी मनुष्यों और पशुओं में आहार, निद्रा, भय एवं मैथुन की प्रवृत्तियां समान हैं। पशुओं से मनुष्यों में कोई विशेषता है तो वह धर्म की ही विशेषता है। इस कारण धर्म



हीन मनुष्यों को पशुओं के समान कहा गया है। धर्म से प्राप्त विशेषता के सम्बन्ध में एक दृष्टान्त दिया जा रहा है। एक मुसलमान भाई मेहनत मजदूरी करके अपना गुजारा चलाता था, लेकिन वह धर्म के मर्म को अच्छी तरह से समझता था और सत्य निष्ठा को सर्वोपरि मानता था। एक दिन वह मजदूरी करने के लिये रास्ते पर चल रहा था कि उसकी नजर एक सुन्दर बटुए पर पड़ी जो रास्ते में एक किनारे पड़ा हुआ था। उसने सोचा कि यह किसी राहगीर से गिर गया लगता है। उसने उसे उठाया और खोलकर देखा तो वह आश्चर्य चकित रह गया। उसमें हीरे और माणिक से जड़े ऐसे स्वर्णाभूषण थे जिनकी कीमत का अनुमान भी वह नहीं कर सकता था। कल्पना करें कि ऐसा बटुआ किसी निर्धन को मिल जाये तो क्या वह अपनी बुद्धि और नीति को स्थिर रख सकता है? वह तो शायद रख भी ले लेकिन किसी धनी की ऐसे अवसर पर बुद्धि और नीति स्थिर रहे—इसकी कल्पना कठिन है। किन्तु उस मुसलमान भाई ने स्थिर बुद्धि के साथ विचार किया कि मुझे तो इस सम्पत्ति की लालसा नहीं है। मेरे लिये तो वही बहुत है जो खुदा ने मुझे दे रखा है। खुदा का फजल होगा तो धन मेरी नीति की कमाई से ही मिल जायेगा। लेकिन यह धन तो मुझे नहीं चाहिये। उसके सामने तब समस्या यह आई कि उस शख्स का पता कैसे करे जिसका यह बटुआ है। यह मुश्किल था इसलिये उसने किसी पास के गांव के प्रतिष्ठित व्यक्ति के यहां उस बटुए को रख देना उचित समझा ताकि यह बटुआ अपने मालिक के पास पहुँच जाये। उसने पता करना चाहा कि पास के गांव का मुखिया सत्यवादी और प्रामाणिक है। मुसलमान भाई ने उस बटुए को मुखिया के हाथ पर रखकर ज्यों ही खोला, मुखिया की आंखें फटी की फटी रह गईं। उसकी नीयत बदल गई। वह कहने लगा—तुम्हें क्या सूझा है? बटुए के धन को आधा-आधा बांट लेते हैं सो दोनों की गरीबी दूर हो जायेगी। मुसलमान उसकी प्रामाणिकता पर चकित रह जाता है कि इस मुखिया के बारे में क्या सुना था और निकला कैसा! उसने उससे बटुआ वापस ले लिया। फिर वह एक चौराहे जाकर बैठ गया। कई लोग इकट्ठे हो गये। तभी एक घुड़सवार दौड़ता-दौड़ता आया और पूछने लगा—हमारी रानी के जेवरों का बटुआ गिर गया है, क्या किसी को मिला है? मुसलमान खुशी-खुशी खड़ा हुआ और कहने लगा—देखिये, यही बटुआ है क्या? मुझे इसी रास्ते पर पड़ा मिला है! उसकी ईमानदारी देखकर वह घुड़सवार दंग रह गया। उसने कहा—इसे लेकर आप खुद हमारे महाराजा के पास चलिये। महाराजा उससे बहुत खुश हुए। उन्होंने एक हजार स्वर्ण मुद्राएं उस मुसलमान को देनी चाहीं किन्तु वह लेना तो दूर उस

समय तो उसने वहां खाना तक खाने से इनकार कर दिया। ऐसी होती है धर्म की विशेषता जो जीवन में समा जाती है।

धर्म को जीवन में रमा लेने वाला और सत्य की श्वेतता में अपनी आन्तरिकता को पवित्र बना लेने वाला न तो किसी प्रलोभन से और न ही किसी भय से अपने रास्ते से हटता है। उसकी गति अडिग होती है। उसके लिये बाह्य पदार्थों का कोई मूल्य नहीं होता। वह तो अन्तःकरण की पवित्रता में ही विश्वास रखता है।

### धर्ममय हो सकल संसार

सामान्य भाषा में कहें तो धर्म का अर्थ होता है—कर्तव्य। व्यक्ति का अपने प्रति, परिवार के प्रति, संघ के प्रति, समाज के प्रति, राष्ट्र और विश्व के प्रति क्या कर्तव्य है यह सभी जानते हैं। इन कर्तव्यों के निर्धारण की मूल भावना यह है कि व्यक्ति और उसके सभी प्रकार के संगठनों के बीच व्यवस्था तथा अनुशासन रहे। व्यवस्था और अनुशासन की अवस्था में ही एक व्यक्ति अथवा किसी एक वर्ग का ही नहीं समाज और राष्ट्र का भी हित साधा जा सकता है। व्यवस्था में ही विषमता को फैलने का स्थान नहीं मिलता है। जहां व्यवस्था सुघड़ होती है, वहां सुख है, शान्ति है और विकास के अवसर हैं। समता वहीं पर विस्तारित होती है जहां कर्तव्य निष्ठा होती है यानी कि जहां धर्म की भावना और प्रतीति होती है। धर्म मूल में है तो वह वृक्ष सदा हरा भरा और फलदायी होता है।

ऐसा हितकारी और आनन्दकारी धर्म जब व्यक्ति के जीवन में समाविष्ट होता है तो एक दीप शिखा से हजारों दीप शिखाएं प्रज्वलित कर सकने के समान अनेकानेक व्यक्तियों को धर्मनिष्ठा से भरपूर बनाया जा सकता है। जो धर्ममय जीवन का आन्तरिक आनन्द एक बार चख लेता है, उसकी भावना यह बन जाती है कि धर्ममय हो सकल संसार। धर्म के मर्म का ज्ञान जितना व्यापक और जितना गहरा होगा, प्रगति के चरण भी उतने ही तीव्र होंगे।

## 13

## लगावें प्रवचन का अंजन

धर्म जिनेश्वर मुझ हिवड़े बसो...

यह पृथ्वी विविध रत्नों से भरी हुई है। यह चैतन्य रत्नों से भी युक्त है। ये रत्न, जो जड़ हैं—पत्थर रूप हैं, स्वयं अपना मूल्य नहीं आंक सकते हैं। इनका मूल्यांकन करने वाले चैतन्य रत्न होते हैं। यदि चैतन्य रत्नों में वांछित ज्ञान का अभाव हो अथवा यदि वे अपने ज्ञान का सही रीति से प्रयोग नहीं करें तो जड़-रत्नों के मूल्य का अंकन भी नहीं कर पाएंगे। जैसे हीरा विशेषज्ञ होते हैं, उसी प्रकार क्या आप जानते हैं कि चैतन्य रत्नों की परख करने में कौन विशेषज्ञ होते हैं। विशेषज्ञ वे होते हैं जो चैतन्य रत्न को उसी की चेतना जागृत करके उसे उसी का मूल्य-बोध कराते हैं।

अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ इस विराट विश्व के अन्तराल में रही हुई हैं। किन्तु इनका पता कौन जान सकता है? क्या वे जड़ ऋद्धि-सिद्धियाँ या चैतन्य ऋद्धि-सिद्धि से सम्पन्न यह आत्मा अथवा अन्य कोई शक्तिशाली माध्यम? माध्यम ज्ञान कराने में सहायक हो सकता है, लेकिन ज्ञान तो इसी आत्मा को लेना और करना होगा। जो पुरुष अपने जागृत सम्यक् ज्ञान के बल पर अपनी आत्मा को चीन्ह और पहचान लेता है, वही इस विश्व की छिपी हुई अनेकानेक ऋद्धि-सिद्धियों को भी जान सकता है।

### दृष्टि विकास की आवश्यकता

यह आत्मा जिस मानव शरीर को लेकर चल रही है, अपार शक्तियों से सम्पन्न होती है। इसके सान्निध्य में इस शरीर की शक्तियाँ भी कम नहीं हैं। कई महापुरुषों ने उन्नत चेतना के साथ इसी शरीर का माध्यम लेकर अनेकानेक प्रकार की ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त की हैं। किन्तु इन्हें प्राप्त करने का सम्यक् ज्ञान अधिकांश लोगों को नहीं होता है। इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिये दृष्टि-

विकास की आवश्यकता होती है। सामान्य दृष्टि इन ऋद्धि-सिद्धि के स्वरूप को देखने व समझने में अक्षम होती है। दृष्टि इस कार्य हेतु सक्षम बनाने के लिये विकसित करनी होती है।

जो आत्माएँ अपने भीतर सम्यक् ज्ञान को जगा लेती है तथा समुचित रीति से अपनी दृष्टि का विकास कर लेती हैं, वे जीवन की सभी ऋद्धि-सिद्धियों को पा सकती हैं। उनका वह दृष्टि विकास अपने स्वरूप से भी उन्हें परिचित कराता है तो उन्हें परमात्मस्वरूप को प्राप्त करने की दिशा में भी गति कराता है।

परमात्मा जिस दिव्य ज्ञान से सम्पन्न हैं, जिस प्रकार के अलौकिक आनन्द में रमण करते हैं तथा जिन अनन्त शक्ति-सम्पन्नता के साथ सिद्ध-शिला पर ज्योतिर्मय बने हुए रहते हैं, उन परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान इस आत्मा को तभी होता है जब उसकी दृष्टि सूक्ष्मग्राही बनकर पूर्ण रूप से विकसित हो जाती है। फिर उसे परमात्मा के दर्शन करने में तनिक देर नहीं लगती है। ऐसा अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन इस आत्मा को इसी शरीर में रहते हुए प्राप्त होता है। यही जीवन का परम कल्याण माना जाता है। जीवन का ऐसा कल्याण कई ऋषि-मुनियों, साधु-सन्तों तथा भव्य जनों ने अपने सत्पुरुषार्थ से पाया है। वांछित सत्पुरुषार्थ का जो भी आत्मा सफलतापूर्वक प्रयोग करेगी, वह भी वैसे जीवन कल्याण को साध सकेगी।

### दृष्टि विकास के लिये अंजन चाहिये

दृष्टि विकास के लिये भी तदनु रूप अंजन की आवश्यकता होती है। ठीक उसी प्रकार जैसे इन नेत्रों की ज्योति को अधिक प्रखर बनाने के लिये अंजन (सुरमा, काजल आदि) का प्रयोग किया जाता है। ये जो बाहर के नेत्र होते हैं, बाहर अपनी शक्ति सीमा में तो वस्तुओं को देखते ही हैं किन्तु कुछ ऐसे चमत्कारी अंजन का प्रयोग भी होता है कि जिसको लगा लेने पर उन नेत्रों का दृष्टि विकास हो जाता है और वे अपनी शक्ति सीमा से परे तक देखने लग जाते हैं। जैसे भूमि तले जल होता है, उसे सामान्य व्यक्ति नहीं देख पाता है किन्तु तत्सम्बन्धी ज्ञान को धारण करने वाला या दृष्टि विकास को प्राप्त करने वाला भूगर्भवेत्ता भूमि परीक्षा करके भूमिगत जल को देख लेता है। इसके बाद वह उस स्थान का दूसरों को निर्देश कर देता है, जहां से भूमि को खोदकर जल को प्राप्त किया जा सके।

कहा जाता है कि प्राचीन काल में अनेक प्रकार की योग विद्याओं का प्रचलन था। इन में से एक योग विद्या ऐसी थी जिसमें मनुष्य के नेत्रों पर एक

विशिष्ट प्रकार का अंजन लगा दिया जाता था। तब उन नेत्रों से जो दूरस्थ सूक्ष्म तत्त्व पहले नहीं दिखाई देते थे, वे भी दृश्यमान हो जाते थे। उस अंजन के प्रभाव से कई परतों के पीछे छिपी हुई या कि कई पर्वत-समुद्रों के पार की वस्तु भी स्पष्ट देखी जा सकती थी। इसमें विज्ञान हो या यौगिक ज्ञान हैं चमत्कार रूप ही। चमत्कार वही होता है जो चमत्कृत कर दे तथा चमत्कृत वह शक्ति करती है जो उसे पहले प्राप्त नहीं होती है। उस शक्ति के प्राप्त हो जाने पर चमत्कार की स्थिति नहीं रहती है।

आध्यात्मिक ज्ञान का चमत्कार ऐसा होता है जो ज्यों-ज्यों प्राप्त होता जाता है, नई-नई शक्तियों का विकास भी होता रहता है जो निरन्तर चमत्कृत करती हैं। एक से अन्य प्रकार की शक्ति का विकास शृंखला-बद्ध रीति से होता जाता है। भौतिक अंजन कितना ही प्रभावशाली क्यों न हो, उससे आत्मस्वरूप अथवा परमात्मस्वरूप के दर्शन नहीं किये जा सकते। भौतिक वस्तु का चमत्कार भौतिक सीमाओं से आगे नहीं बढ़ सकता है। वह उस परम ज्ञान को देख या प्राप्त नहीं कर सकता है जो आध्यात्मिक क्षेत्र की उपलब्धियों को दिखाता और प्राप्त कराता है।

इस कारण प्रार्थना की पंक्तियों के माध्यम से कवि संकेत देता है कि उस परम ज्ञान को उपलब्ध करने के लिये वीतराग देवों द्वारा उपदेशित प्रवचनों का अंजन प्रयोग में लाइये।

### लगावें प्रवचन का अंजन

प्रवचन का अंजन अपने ज्ञान-चक्षुओं में जो कोई आंज ले और आंजता रहे तो उन ज्ञान चक्षुओं का दृष्टि विकास अपूर्व और अनुपम हो जायेगा। वचन अर्थात् शब्द और प्र का अर्थ होगा प्रबुद्ध जो प्रबुद्ध शब्द होते हैं वे प्रभावकारी होते हैं। किन्तु ऐसे प्रवचन भी दो प्रकार के होते हैं—साधारण एवं विशिष्ट। जैसे कोई न्यायाधीश जब अपने परिजनों-जनों से वार्तालाप कर रहा होता है, तब उसके वचन साधारण ही माने जाते हैं जबकि वह विशिष्ट रूप से विद्वान् होता है। किन्तु वही न्यायाधीश जब न्यायालय की कुर्सी पर बैठकर कानून की बहस सुनता और फैसला करता है, तब उस संदर्भ में जो वचन निकलते हैं, वे न्याय प्रदान करने की दृष्टि से विशिष्ट वचन होते हैं। उन्हें न्यायालय में उपस्थित सभी लोग बड़े ध्यान से सुनते हैं। व्यक्ति वही है, किन्तु स्थान, अवसर और वस्तु विषय के अन्तर से उसके वचनों के मूल्यांकन में बड़ा अन्तर आ जाता है।

साधारण वचन को प्रवचन नहीं कहा जाता। प्रवचन विशिष्ट वचन होते हैं, फिर भी विषय वस्तु के अनुसार प्रवचनों का भी भिन्न-भिन्न रूप से मूल्यांकन किया जाता है। जहां तीर्थंकर देवों ने अपने केवलज्ञान एवं केवल दर्शन में समस्त वस्तु-विषयों को जान एवं देखकर भव्य जनों के कल्याणार्थ जो उपदेश दिये, वे सर्वोत्कृष्ट प्रवचन के रूप में जाने जाते हैं। इन प्रवचनों के एक-एक शब्द में गूढ़ अर्थ का भंडार भरा हुआ है। यों कहें कि गागर में सागर है। ऐसा प्रवचन रूपी अंजन यदि कोई ज्ञाता, सन्त, मुनिराज भव्य जन की आंखों में भली प्रकार आंज दे तो अंजन का प्रभाव ज्ञान चक्षुओं के दृष्टि विकास में अद्वितीय रहेगा। ज्ञान चक्षुओं का अर्थ अन्तःकरण मानिये और अन्तःकरण का यदि विकास-क्रम आरंभ हो जाता है तो उस आत्मा की पवित्रता निखरने लग जाती है।

ऐसी आत्मा इस संसार में रही हुई ऋद्धि-सिद्धियों को देख और जान सकती है, किन्तु तब उसकी आन्तरिकता में लालसाओं की समाप्ति हो जाने के कारण उक्त ऋद्धि-सिद्धियों में उसकी कोई लालसा शेष नहीं रहती है। दृष्टि-विकास को साधकर जब ये ज्ञान चक्षु चैतन्य रत्नों के आन्तरिक स्वरूप को देख सकते हैं तो भौतिक रत्न रूपी ऋद्धि को तो वे हस्तामलकवत् देख लेते हैं, चाहे वे संसार में किसी भी कोने के नीचे दबे हुए क्यों न हो। किन्तु वह विकसित दृष्टि उन्हें देखने की कोई चेष्टा नहीं करती है, वह तो आत्मस्वरूप को गहराई से निहारती-पहचानती है और परमात्मस्वरूप की ओर ही टकटकी लगाये रहती है!

### प्रवचन का स्वरूप-विश्लेषण

तीर्थंकर देवों के प्रवचनों को सर्व-जन कल्याण की वत्सलता के कारण माँ का रूप दिया है अतः उसका नाम प्रवचन-माता कहा गया है। प्रवचन माता में पांच समिति तथा तीन गुप्ति का समावेश किया गया है। द्वादशांग रूप वाणी (प्रवचन) शास्त्रों की जननी होने से माता के अन्दर सारे शास्त्र समा जाते हैं। प्रवचन माता के इस रूप में दो भेद हैं—1. पांच समिति तथा 2. तीन गुप्ति।

1. पांच समिति—प्रशस्त एकाग्र परिणाम पूर्वक की जाने वाली आगमोक्त सम्यक् प्रवृत्ति समिति कहलाती है। यह सम्यक् प्रवृत्ति प्राणातिपात (हिंसा) आदि से निवृत्त होने के लिये यतनापूर्वक की जानी चाहिये। समिति पांच हैं—1. ईर्या समिति—ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के निमित्त आगमोक्त काल में युग परिमाण भूमि को एकाग्र चित्त से देखते हुए राजमार्ग आदि में यतनापूर्वक

गमनागमन करना ईर्या समिति है। 2. भाषा समिति—यतनापूर्वक भाषण में प्रवृत्ति करना अर्थात् आवश्यकता होने पर भाषा के दोषों का परिहार करते हुए सत्य, हित, मित और असंदिग्ध वचन कहना भाषा समिति है। 3. एषणा समिति—गवेषण, ग्रहण और ग्रास सम्बन्धी एषणा के दोषों से अदूषित अर्थात् विशुद्ध आहार, पानी, रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि औधिक उपाधि और शय्या, पाट, पाटलादि औपग्रहिक उपाधि का ग्रहण करना एषणा समिति है। 4. आदान भंड मात्र निक्षेपणा समिति—आसन, संस्तारक, पाट, पाटला, वस्त्र, पात्र, दंडादि उपकरणों को उपयोग पूर्वक देखकर रजोहरणादि से पूंज कर लेना एवं उपयोग पूर्वक देखी और पूंजी हुई भूमि पर रखना आदान भंड मात्र निक्षेपणा समिति है। 5. उच्चार प्रस्त्रवण खेल सिंघाण जल्ल परिस्थापनिका समिति—इस समिति की पालना में स्थंडिल के दोषों को वरजते हुए पारिठवने योग्य लघुनीत, बड़ीनीत, थूक, कफ, नासिका-मल और मैल आदि को निर्जीव स्थंडिल में उपयोग पूर्वक पारिठवना होता है।

2. तीन गुप्ति—मन, वचन एवं काया के शुभ तथा अशुभ व्यापार को रोकना या आते हुए कर्मों को रोकना गुप्ति कहलाता है। इसके अधीन अशुभ योग से निवृत्त होकर शुभ योग में प्रवृत्ति करना होता है। इस प्रकार एक मोक्षाभिलाषी आत्मा का आत्म रक्षा के लिये अशुभ योगों का रोकना गुप्ति है। गुप्ति तीन हैं—1. मनोगुप्ति—आर्तध्यान, रौद्रध्यान, संरंभ, समारंभ और आरंभ सम्बन्धी संकल्प-विकल्प न करना, परलोक में हितकारी धर्म ध्यान सम्बन्धी चिन्तन करना, मध्यस्थ भाव रखना, शुभाशुभ योगों को रोक कर योग निरोध अवस्था में होने वाली अन्तरात्मा की अवस्था को प्राप्त करना मनोगुप्ति कहलाता है। 2. वचन गुप्ति—वचन के अशुभ व्यापार अर्थात् संरंभ, समारंभ और आरंभ सम्बन्धी वचन का त्याग करना, विकथा न करना तथा मौन रहना वचन गुप्ति है। 3. काय गुप्ति—खड़ा होना, बैठना, उठना, सोना, लांघना, सीधा चलना, इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों में लगाना, संरंभ, समारंभ, आरंभ में प्रवृत्ति करना इत्यादि कायिक व्यापारों में प्रवृत्ति न करना काय गुप्ति है। दूसरे शब्दों में इन व्यापारों से निवृत्त होना तथा अयतना का परिहार कर यतनापूर्वक काया से व्यापार करना एवं अशुभ व्यापारों का त्याग करना कायगुप्ति कहलाता है।

इस प्रवचन माता की छाया में अथवा इस प्रवचन का अंजन आंज कर जो साधक अपने मन, वचन एवं काया के योग व्यापारों को अशुभता के क्षेत्रों से निकालकर शुभता के क्षेत्रों में स्थिर कर देता है, वही साधक परमात्मा ज्ञान-

सम्पादन एवं दृष्टि विकास को परिपूर्ण स्वरूप प्रदान कर देता है। प्रवचन की प्रभावकता इसी रूप में सुस्पष्ट बनती है।

### प्रवचन संग्रह का अमित महत्त्व

वीतराग देवों के प्रवचनों का सार संक्षेप इस रूप में किया गया है कि कोई उनका कम समय में गहराई के साथ अध्ययन कर सके। इस दृष्टि से यह प्रवचन संग्रह कुल बयालीस तत्त्वों के संक्षिप्त विवेचन के साथ तैयार किया गया है। इस प्रवचन संग्रह का अमित महत्त्व है क्योंकि प्रधान तत्त्वों एवं सिद्धान्तों का संक्षिप्तीकरण—अध्ययन, चिन्तन एवं मनन की दृष्टि से सारपूर्ण हो जाता है।

इस प्रवचन संग्रह के 42 विषय अति संक्षेप में निम्नानुसार हैं—

1. धर्म—धर्म अहिंसा, संयम और तप रूप सर्वश्रेष्ठ मंगल है। धर्म ही त्राण और शरण तथा गति व आधार है। संसार सागर में धर्म ही एक मात्र द्वीप है—प्रतिष्ठा है। इस संसार में आत्मा की रक्षा करने वाला धर्म के सिवाय कोई नहीं है। वृद्धावस्था की प्रतीक्षा न कर धर्म पर आचरण तत्काल आरंभ कर देना चाहिये।

2. नमस्कार—अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—ये पांचों पद ज्ञान आदि गुणों से युक्त होने के कारण पूज्य तथा वन्दनीय हैं। जो इन्हें भावपूर्वक नमस्कार करता है, वह अपने लिये मोक्ष का हेतु उत्पन्न करता है। यह नमस्कार सभी पापों का नाश करने वाला है तथा सब मंगलों में प्रथम मंगल है।

3. निर्ग्रन्थ प्रवचन—राग द्वेष को जीतने वाले पूर्ण ज्ञानी तीर्थंकर देवों ने जो कहा है, वही सत्य और असंदिग्ध है। उसे ही निर्ग्रन्थ मुनि श्रवण कराते हैं अतः यह निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य, सर्व प्रधान और अद्वितीय है। जो भावपूर्वक निर्ग्रन्थ प्रवचनों को सुनते हैं तथा जिन-भाषित अनुष्ठानों का सेवन करते हैं, वे राग-द्वेष रूप क्लेश से रहित होकर पवित्रात्मा परित्त संसारी होते हैं।

4. आत्मा—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य तथा उपयोग—ये आत्मा के लक्षण हैं। आत्मा अमूर्त होने से इन्द्रियों द्वारा जानी नहीं जा सकती है और अमूर्त होने से ही वह नित्य है। आत्मा में रहे हुए मिथ्यात्व, अज्ञानादि-दोषों से कर्मबंध होता है और यही बंध संसार परिभ्रमण का कारण कहा गया है।

5. सम्यग्दर्शन—परमार्थ अर्थात् जीव आदि तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर उसका मनन करना, परमार्थ का यथार्थ रूप जानने वाले महात्माओं की



सेवा-भक्ति करना, सम्यक्त्व से गिरे हुए पुरुषों एवं कुदृशनिचों की संगति नहीं करना—यही सम्यक्त्व का श्रद्धान और सम्यक् दर्शन है।

6. सम्यक् ज्ञान—जो जीव का स्वरूप जानता है, अजीव का स्वरूप जानता है वह ज्ञानी है, क्योंकि जीव और अजीव दोनों का स्वरूप जानने वाला संयम का स्वरूप भी जान सकेगा। वह कल्याण और पाप का मार्ग भी जान लेगा। दोनों मार्गों को जानकर श्रेयस्कर मार्ग का आचरण करना सम्यक् ज्ञान है।

7. क्रिया रहित ज्ञान—पहले ज्ञान और उसके बाद क्रिया है। दोनों को स्वीकार करने से ही साधु अपने आचार का पालन कर सकता है। क्रिया शून्य ज्ञान निष्फल है और उसी प्रकार अज्ञानपूर्वक की गई क्रिया भी फलवती नहीं होती है। ज्ञान और क्रिया का सफल संयोग ही फलदायक होता है।

8. व्यवहार-निश्चय—व्यवहार और निश्चय दोनों में एक का भी त्याग न करें। व्यवहार के बिना तीर्थ और आचार का अच्छेद हो जाता है तथा निश्चय के बिना तत्त्व ही का नाश हो जाता है।

9. मोक्ष मार्ग—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चारित्र (तपसहित)—ये मोक्ष मार्ग है। ज्ञान द्वारा आत्मा जीव आदि पदार्थों को जानती है, दर्शन द्वारा उन पर श्रद्धा करती है तथा चारित्र द्वारा नवीन कर्म आने से रोकती है व तप द्वारा पुराने कर्मों को नाश कर शुद्ध होती है।

10. अहिंसा, दया—भगवान् महावीर का प्रवचन है कि जिस प्रकार तुम्हें दुःख अप्रिय लगता है, उसी प्रकार संसार के सभी जीवों को भी दुःख अप्रिय लगता है। ऐसा जानकर आत्मा की उपमा से किसी भी प्राणी की हिंसा न करो तथा सभी प्राणियों पर आदर व उपयोग के साथ दया करो।

11. सत्य—सत्य लोक में सारभूत है, भगवान है अतः सत्य में दृढ़ रहो। अपने स्वार्थ के लिये अथवा दूसरों के लिये, क्रोध से अथवा भय से, दूसरों को दुःख पहुँचाने वाला असत्य वचन न स्वयं कहें और न दूसरों से कहलावें।

12. अदत्तादान विरति—स्वामी से बिना अनुमति हुई वस्तु को ग्रहण करना अदत्तादान है। तीर्थकर द्वारा निषिद्ध आचरण का सेवन करना भी अदत्तादान है। यों चोरी तप की, वचन की, रूप की, आचार की और भाव की भी मानी गई है। इसे छोड़ना चाहिये।

13. ब्रह्मचर्य, शील—ब्रह्मचर्य सभी तपों में प्रधान है। इसकी आराधना करने से सभी व्रतों की आराधना हो जाती है जिनमें शील, तप, विनय, संयम, क्षमा, निर्लोभता, गुप्ति आदि मुख्य हैं।

14. अपरिग्रह—किसी वस्तु पर मूर्च्छा ममत्व अर्थात् आसक्ति का होना ही वास्तव में परिग्रह है। जो ममत्व बुद्धि का त्याग करता है, वह स्वीकृत परिग्रह का त्याग करता है, यही अपरिग्रह है। जिसके ममत्व एवं परिग्रह नहीं है, उसी मुनि ने ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य रूप मोक्षमार्ग को जाना है।

15. रात्रि भोजन त्याग—संसार में बहुत से त्रस स्थावर प्राणी इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे रात्रि में दिखाई नहीं देते। अतः उनकी रक्षा करते हुए शुद्ध एषणा के अभाव में रात्रि में भोजन करने का साधु के लिये प्रावधान नहीं है।

16. भ्रमर वृत्ति—तत्त्वज्ञ मुनि भ्रमर जैसी वृत्ति वाले होते हैं—अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार लेकर अपना निर्वाह करते हैं एवं इन्द्रियों का शमन करते हैं।

17. मृग चर्या—जैसे जंगल में मृग एकाकी विहार करता है, उसी प्रकार साधु भी राग-द्वेष से रहित एकाकी होकर संयम और तप का आचरण करता हुआ विहार करे।

18. सच्चा त्याग—जो मनोज्ञ एवं प्रिय भोगों को ठुकरा देता है और स्वाधीन भोग सामग्री का त्याग करता है, वही सच्चा त्याग है। जो अभाव या पराधीनता के कारण विवश हो भोग सामग्री का उपयोग नहीं करता वह सच्चा त्यागी नहीं है।

19. पूजा प्रशंसा का त्याग—यश, कीर्ति, श्लाघा, वन्दन, पूजा आदि आत्मा के अहितकर हैं, अतः मुनि को इनका त्याग करना चाहिये।

20. रति-अरति—संयम में रति रखने वाले मुनियों के लिये साधु पर्याय देव लोक की तरह सुखद है। संयम में अरति वालों को यही पर्याय नरक की तरह दुःखद प्रतीत होती है। पंडित-मुनि सदा साधु पर्याय में रत रहें।

21. यतना—यतना से चले, यतना से खड़े हो, यतना से बैठे और यतना से सोवे। इसी प्रकार यतना से भोजन एवं भाषण करने से पाप कर्म का बंध नहीं होता है।

22. विनय—विनय धर्म रूपी वृक्ष का मूल है और मोक्ष उसका सर्वोत्तम रस है। विनय से कीर्ति होती है और पूर्णतः प्रशस्त श्रुतज्ञान का लाभ होता है।

23. विजय—अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध करना चाहिये। बाहरी स्थूल शत्रुओं के साथ युद्ध करने से क्या लाभ? आत्मा द्वारा आत्मा को जीतने वाला ही वास्तव में विजयी एवं पूर्ण सुखी होता है।

24. दान—बदला पाने की आशा के बिना निस्स्वार्थ भाव से दिया गया

दान है। निस्स्वार्थ भाव से दान देने वाला व निस्स्पृह भाव से लेने वाला दोनों ही सुगति में जाते हैं।

25. तप-पराक्रम रूपी धनुष में तप रूपी बाण चढ़ाकर मुनि कर्म रूपी कवच का भेदन कर देता है और संग्राम से निवृत्त होकर इस संसार से मुक्त हो जाता है।

26. अनासक्ति—जैसे कमल जल में उत्पन्न होकर भी जल से निर्लिप्त रहता है, वैसे ही काम-भोगों में लिप्त न होने वाले मुनि अनासक्त कहलाते हैं।

27. आत्मा दमन—आत्मा का दमन करना अति कठिन है, इसलिये आत्मा ही का दमन करना चाहिये। जिसने अपनी आत्मा को वश किया है, वह दोनों लोकों में सुखी होता है।

28. रसना-संयम-जिह्वा को वश करने वाला अनासक्त मुनि सरस आहार में लोलुपता एवं गृद्धि का त्याग करे। मुनि स्वाद के लिये नहीं, संयम का निर्वाह करने के लिये भोजन करे।

29. कठोर वचन—लोहे के तीखे कांटे शरीर में से सहज ही निकाले जा सकते हैं, पर हृदय में चुभे हुए कठोर वचनों का निकालना सहज नहीं है अतः इनका त्याग करें।

30. कर्मों की सफलता—सत्कार्य हो अथवा दुष्कार्य, वे अपना शुभ या अशुभ फल अवश्य देते हैं। फल भोग किये बिना उनसे छुटकारा नहीं होता है।

31. काम-भोगों की असारता—काम भोग क्षणमात्र सुख देने वाले हैं और चिरकाल तक दुःख देने वाले हैं। उनमें अतिशय दुःख ही दुःख है। ये काम भोग मोक्ष सुख के परम शत्रु है एवं अनर्थों की खान हैं।

32. अशरण—स्वजन-सम्बन्धी लोग आपत्ति आने पर तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकते, न तुम्हें शरण ही दे सकते हैं। तुम भी उनके त्राण और शरण के लिये समर्थ नहीं हो।

33. जीवन की अस्थिरता—मानव जीवन वृक्ष के सूखे पीले पत्ते के समान है। आयु और यौवन अस्थिर हैं अतः क्षण भर का प्रमाद करना भी उचित नहीं है।

34. वैराग्य—यह मानव शरीर असार है, व्याधि और रोगों का घर है तथा जरा और मरण से पीड़ित है। इसमें मैं क्षण भर भी आनन्द नहीं पाता हूँ—ऐसा चिन्तन करना।

35. प्रमाद—मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा—ये पांच प्रकार के प्रमाद हैं। इनका अभाव रूप अप्रमाद भी पांच प्रकार का है।

36. राग-द्वेष—राग-द्वेष कर्म के मूल कारण हैं और पाप कार्यों में प्रवृत्ति कराने वाले हैं। साधु, इन दोनों का विरोध करे।

37. कषाय—जो आत्मा का हित चाहता है, वह पाप बढ़ाने वाले कषाय रूप क्रोध, मान, माया और लोभ को सदा के लिये छोड़ दे।

38. तृष्णा—कैलास पर्वत के समान सोने-चांदी के असंख्यात पर्वत भी हों तो भी लोभी और तृष्णावान का मन नहीं भरता। इस कारण तृष्णा का त्याग जरूरी है।

39. शल्य—राग-द्वेष के शल्य वाली आत्मा चाहे देवता के सामने हजार वर्ष तक भी वीरतापूर्वक घोर उग्र तप का आचरण करे पर शल्य के कारण उसे उसका कोई फल नहीं होता।

40. आलोचना—जैसे भारवाही अपना भार उतारकर अत्यन्त हलकापन अनुभव करता है उसी प्रकार पापी मनुष्य भी गुरु के समीप अपने दुष्कृत्यों की आलोचना-निन्दा कर पाप से हलका हो जाता है।

41. आत्म चिन्तन—साधक को चाहिये कि वह रात्रि के प्रथम व अन्तिम प्रहर में स्वयं अपनी आत्मा का निरीक्षण करे और चिन्तन करे कि मैंने कौनसे कर्तव्य किये हैं तथा कौन-से अवशेष हैं?

42. क्षमापना—धर्म में स्थिर बुद्धि होकर सद्भाव पूर्वक सब जीवों से अपने अपराधों की क्षमा मांगनी चाहिये तथा उनके सब अपराधों के लिये भी क्षमा देनी चाहिये।

उपर्युक्त प्रवचन संग्रह वस्तुतः अध्ययन, मनन एवं आचरण के योग्य है। इससे आत्मोन्नति का पथ प्रशस्त बन जाता है।

### प्रवचन के अंजन से दिव्य दृष्टि

ऐसे प्रवचन जो आचरण में धारण करता है तथा उनका अंजन अन्तःकरण की आंखों पर लगाता है, उसे दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है तथा उसकी आत्मा का परम कल्याण हो जाता है। जम्बू कुमार ने सुधर्मास्वामी के एक ही प्रवचन का ऐसा अंजन लगाया कि तत्क्षण सभी कषायों का त्याग करके आत्मस्वरूप के वे ज्ञाता बने और मोक्ष में पधारे।

यह प्रवचन रूपी अंजन शास्त्रों में आज भी भरा पड़ा है, उसका अपने ज्ञान-चक्षुओं के लिये उपयोग करने की जरूरत है। अब तो शास्त्रों के हिन्दी, गुजराती आदि कई भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं अतः सभी लोग उनका अध्ययन कर सकते हैं तथा प्रवचन रूपी अंजन को आंज सकते हैं।

कई लोग सन्त-मुनियों के प्रवचन सुनते रहते हैं फिर भी उनको कर्म-सिद्धान्त की पर्याप्त जानकारी नहीं होती है। कर्मों का सिलसिला तो निरन्तर चालू रहता है और प्रति समय आठों कर्मों का बंध होता रहता है। इस समय में जो भिन्न-भिन्न पुरुषों में रूप, स्वभाव, वैभव आदि का अन्तर दिखलाई देता है, वह पूर्वकृत कर्मानुसार ही होता है। किन्तु वर्तमान जीवन में धर्म का जितना सत्पुरुषार्थ करना चाहे और प्रवचन का अंजन लगाना चाहे, उतना वह कर सकता है। जितना श्रेष्ठ रीति से वह करेगा, यह करणी ही उसके अगले जन्म का भाग्य निर्माण करेगी।

भगवान् महावीर के एक प्रवचन का भी अंजन लगा लें तो जीवन का कल्याण हो जाये! मनुष्य जन्म से नहीं, कर्म से महान् बनता है। सत्य निष्ठा के साथ इस अंजन को ही आंजते रहें तब भी आपको दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जायेगी और अपने कर्म का परिमार्जन करके आप आत्मा के पवित्रतम स्वरूप को उद्घाटित कर लेंगे। आपका भाग्य और कोई नहीं बनाता, आप स्वयं अपने शुभ कर्मों से शुभ भाग्य का तथा अशुभ कर्मों से अशुभ भाग्य का निर्माण करते हैं। निर्माण करते समय सजगता रखें तो शुभ भाग्य का ही निर्माण होगा किन्तु अंधे बनकर अशुभ कार्यों में लिप्त रहे और अशुभ भाग्य पर विषाद करें—उससे कोई सार निकलता नहीं है। सारपूर्ण तत्त्व ग्रहण करना है तो प्रवचन का अंजन लगाते रहें।

## 14

## श्वाश चले शान्ति का

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

आज का मानव जिन परिस्थितियों से गुजर रहा है या जैसे वायुमंडल में जी रहा है, वे शान्ति को अनुप्राणित करने वाली परिस्थितियाँ या वायुमंडल नहीं है। इन परिस्थितियों को एकदम से शान्ति की विरोधी न भी मानें, तब भी ये आज विचित्र और मिश्र स्वरूपी तो हैं ही। वर्तमान परिस्थितियों का ही दुष्परिणाम है कि आज चारों ओर मानव जीवन अशान्ति से ग्रस्त और त्रस्त दिखलाई देता है। अधिकतर भाई-बहन आज अशान्ति के झूले में झूल रहे हैं। चाहे तरुण हो या प्रौढ़ और वृद्ध, चाहे पुरुष हो या महिला सभी जिस प्रकार की परिस्थितियों में जी रहे हैं, उनमें समुचित संशोधन की आवश्यकता है। ऐसा नहीं है कि यह संशोधन असंभव हो। यदि साहस और सर्वजन हित भावना के साथ इस काम का बीड़ा उठाया जाये तो परिस्थितियों को वांछित रीति से संशोधित करके शान्ति का प्रेरणाप्रद वातावरण बनाया जा सकता है।

मानव जीवन जिन परिस्थितियों से दो-चार हो रहा है, पशु जीवन भी उन्हीं में चल रहा है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि पशु जीवन पर उनका इतना गहरा असर नहीं दिखाई देता, जितना मानव जीवन पर। इसका कारण हो सकता है कि पशु को निर्वाह हेतु जो कुछ मिला, या अधूरा मिला या नहीं मिला, तब भी वह अपना गुजारा कर लेता है। उसमें शक्ति भी कम होती है तो समझ भी, इसलिये निर्वाह के लिये उसे पर्याप्त सामग्री न मिले तब भी वह न दुःख प्रकट करता है, ना ही किसी का विरोधी बनता है। उसके विचार में अशान्ति का दौर भी लम्बा नहीं चलता है। वह कुछ न कुछ शान्ति के क्षणों का अनुभव भी करता हुआ लगता है।

अभिप्राय यह है कि मानव जीवन में शान्ति का प्रसार आज अनिवार्य हो गया है और किसी भी कीमत पर शान्ति स्थापित की ही जानी चाहिये।

## अशान्ति से भरा वातावरण

आधुनिक विज्ञान की प्रगति, उद्योगों का विस्तार, प्रदूषण, मशीनवत् काम-काज आदि कई ऐसे कारण हैं जिन्होंने बाहर की शान्ति भंग की है तो मन में भी तनाव उत्पन्न कर दिये हैं। आर्थिक व्यवस्था भी इस रूप में ढल रही है कि आय उतनी नहीं पर आवश्यकताओं में विवेकहीन वृद्धि होती है। राजनीतिक वातावरण भी सत्ता लिप्सा से संघर्षपूर्ण और विषैला बन गया है। इस दूषित वातावरण ने सामाजिक परिस्थितियों पर भी बुरा असर डाला है। हार्दिकता और सहकार वृत्ति लुप्त होती जा रही है। आखिर समग्र वातावरण के दुष्प्रभाव से आध्यात्मिक धार्मिक क्षेत्र भी कैसे बचता? मानव धर्म-स्थानक में आकर भी शान्ति लाभ पर्याप्त रीति से नहीं ले पाता है। मानव जीवन एक प्रकार से विभिन्न तनावों तथा दुःख-द्वन्द्वों के बीच टूटता-बिखरता हुआ चला जा रहा है।

एक ओर समग्र वातावरण में अशान्ति का असर गहराता जा रहा है, दूसरी ओर ऐसी दुर्घटनाएं अकसर घटित होती रहती हैं जो शान्ति के शेष प्रभाव को लील लेना चाहती हैं। बरसों पहले भोपाल शहर में गुजरी विषैली गैस रिसाव की घटना एक उदाहरण है। आप सभी जानते हैं कि भोपाल में एक रसायन उद्योग से विषैली गैस के रिसाव की भयंकर दुर्घटना घटी थी। दुखान्तिक गैस का ऐसा असर हुआ कि कई लोग सांस लेने की कठिनाई से तभी मर गये और उससे कई गुना लोग घातक बीमारियों से ग्रस्त हो आज भी अभिशप्त जीवन जी रहे हैं। गैस का मारक प्रभाव पशुओं पर भी इसी प्रकार का हुआ। मानव हानि का तो दैनिक पत्रों में विस्तृत विवरण आया लेकिन पशु हानि का उल्लेख नहीं देखा गया। इसका यही कारण हो सकता है कि पशु जगत् मूक होता है और उसकी व्यथा वह सह लेता है—बाहर स्वयं नहीं प्रकट कर पाता है। पशु की विचार शक्ति इतनी विकसित भी नहीं होती है। चूंकि मानव की विचार शक्ति उन्नत होती है, उसकी संवेदना भी अधिक होती है। इसी कारण बाहर की घटनाओं का बाहरी असर के अलावा उसके मन-मस्तिष्क पर अधिक प्रभाव पड़ता है। वह अधिक तनावग्रस्त बनता है और अधिक अशान्त होता है।

भय से आतंकित, विकारों से विकृत तथा दोषों से प्रदूषित मानव की मानसिकता उसकी सर्वग्राही अशान्ति का बुनियादी कारण होती है। मन में फैलती हुई अशान्ति उसके वचनों और कार्यों को भी शान्तिपूर्वक सम्पन्न नहीं होने देती है। मन वर्तमान के दुःख से दुःखी हो जाता है तो लम्बे अरसे तक अपने दुःख को भुला नहीं पाता है। दूसरे, फिर वैसा ही दुःख का अवसर आ

जायेगा ऐसी आशंका से भी भयभीत एवं दुःखित बना रहता है। विभिन्न प्रकार की चिन्ताओं की कल्पनाएँ भी उसे सताती रहती हैं। कुल मिलाकर मन की विचारणाओं से तथा बाहर की परिस्थितियों से मानव की अशान्ति का आज कोई ओर-छोर नहीं है। समूचा वातावरण ही अशान्त और भयावह बना हुआ है।

सवाल यह है कि अशान्ति से भरे हुए इस दमघोंटू वातावरण में मानव असहाय और विवश होकर ही चलता रहेगा, व्यथित बना रहेगा या कि अपने पुरुषार्थ और विवेक को जगाकर इस अशान्त वातावरण को शान्ति में ढाल देने का सत्प्रयास करेगा जिससे व्यक्ति से लेकर समाज, राष्ट्र तक के वातावरण में शान्ति की स्थापना हो सके।

### शान्ति की अनुभूति को जगावें

अशान्ति के वातावरण को समाप्त कर शान्ति की अनुभूति को जगाने का एक समर्थ सम्बल और आनन्ददायक आश्रय है, वह है—वीतराग देवों का आदर्श जीवन तथा उनके द्वारा संस्थापित आदर्श सिद्धान्त। इन्हीं की प्रेरणा लेकर आज के अशान्त मन को साध कर, संवार कर अशान्ति से संघर्ष हेतु तत्पर बनाया जा सकता है। यह कार्य प्राथमिकता से किये जाने योग्य है, क्योंकि मात्र बाह्य परिस्थितियों के साथ किया जाने वाला संघर्ष विफल हो सकता है। किन्तु पहले मानसिकता को तनावों एवं अशान्ति से मुक्त करके विचारक्षम बना लें तो बाहर की परिस्थितियाँ आसानी से परिवर्तित हो जायेंगी। शान्ति की अनुभूतियों का जागरण पहले मन में हो जाये—यह जरूरी है।

मन की ऐसी उत्क्रान्ति के लिये वीतराग वाणी का ही समर्थ सम्बल तथा आनन्ददायक आश्रय ग्रहण करना चाहिये। विशिष्ट पुरुषों ने समग्र वातावरण के विकारों को नष्ट किया तथा सबके मन में शान्ति का संचार कर नये जीवनदायी वातावरण की सृष्टि की। इससे सभी के हृदयों में शान्ति की अनुभूतियाँ जागृत हुईं। फिर अपनी उपदेश-धारा के माध्यम से उन अनुभूतियों का सर्वत्र विस्तार हुआ। इसलिये उनकी वाणी और उनके आदर्श आज भी शान्ति का नया वातावरण रच सकते हैं।

आवश्यकता इस बात की है कि उस वीतराग वाणी को गहराई से समझकर त्याग भावना के साथ उसे अपने जीवन के आचरण में उतारें और उसका अधिकतम प्रसार करें। इसे समझने के लिये इस अशान्ति भरे वातावरण में भी शान्ति के क्षण खोजने होंगे। कुछ ऐसा समय निर्धारित करना होगा जब सारी सांसारिक चिन्ता एवं अशान्ति को मन-मस्तिष्क से बाहर निकाल कर



केवल शान्ति के विषय में सोचा जाये। स्वयं अशान्ति में डूबकर और मात्र दूसरों को अशान्त बताकर शान्ति की समस्या का समाधान नहीं निकाला जा सकता।

यह सही है कि जब चारों ओर इस दुनिया में अशान्ति का अंधड़ चल रहा हो तब स्वयं को कुछ समय के लिये भी शान्त बना लेना सरल नहीं है। पर, असंभव भी तो नहीं है। इसमें हृदय के संकल्प की जरूरत है। मन में निश्चय कर लें कि कुछ समय तो किसी भी प्रकार से हो शान्तिपूर्ण चिन्तन के लिये निकालना ही है, तो कोई कारण नहीं कि इस निश्चय की पूर्ति न की जा सके। आप जानते हैं कि सामायिक व्रत ऐसा अनुष्ठान है जिसके माध्यम से अशान्ति की निवृत्ति तथा शान्ति की साधना का अभ्यास किया जा सकता है। उसके बाद स्वयं की विचार-शक्ति में शान्ति का स्थायित्व लाया जा सकता है। मनुष्य कुछ कर-गुजरने की धारणा बना ले तो उसकी सफलता को संसार की कोई शक्ति बाधित नहीं कर सकती है। अपनी शक्तियों को जगा ले तो यह मानव जीवन खुद ही अपार शक्तियों का स्रोत है।

### माला फेरें शान्तिनाथ जी की

आप में से कई लोग अकसर सोचते हैं कि किसी भी प्रकार की अशान्ति है तो भगवान् शान्तिनाथ जी की माला फेरें और कोई उपद्रव है तो उसे दूर करने के लिये भगवान् पार्श्वनाथ जी की माला फेरें। ऐसी व्यक्तिजनित धारणा सही नहीं है। इस युग में जो चौबीस तीर्थकर हुए हैं तो आदिनाथ भगवान् से लेकर भगवान् महावीर तक सभी तीर्थकर एक समान शान्ति के स्रोत हैं। किसी के भी शक्ति प्रवाह में तनिक-सा भी अन्तर नहीं है। फिर शान्ति के लिये शान्तिनाथ जी की ही माला फेरें—ऐसी धारणा से अन्य तीर्थकरों की अशातना होती है। शान्तिनाथ जी की भी माला फेरिये—अन्य तीर्थकरों के नाम की भी फेरिये—सभी शान्ति के दातार हैं।

मूल प्रश्न है उन तीर्थकर देवों के जीवन एवं सिद्धान्तों से शान्ति के लिये बलवती प्रेरणा-ग्रहण करने का। इसके लिये सन्त-मुनि जो प्रवचन देते हैं तथा वीतराग वाणी का सार समझाते हैं, उन पर गहरा चिन्तन और मनन करें। उस चिन्तन से यह निर्णय लें कि अपनी शक्ति एवं योग्यता के अनुसार पहले किन सिद्धान्तों को कितने रूप में जीवन में उतार सकते हैं। एक बार सम्यक् दृष्टि से श्रेष्ठ आचरण का शुभारंभ कर लेंगे तो धीरे-धीरे जीवन में अवश्यमेव शान्ति की प्राप्ति हो सकेगी। मनुष्य की स्वयं की शक्ति इतनी है कि उसकी शान्ति साधना में देव या दानव कोई भी विघ्न नहीं डाल सकता है।

शान्ति-प्राप्ति के अपने प्रयासों में अन्ध विश्वास या कि भ्रान्त धारणा का प्रवेश नहीं होना चाहिये। दृष्टि और भावना में जितनी स्पष्टता रहेगी, उतनी ही विशुद्ध शान्ति की अनुभूति होगी। शान्ति के सच्चे उपायों का ज्ञान हो और उन उपायों पर निष्ठा पूर्वक आचरण किया जाये—यही शान्ति-लाभ के लिये अनिवार्य होता है। इसकी बजाय कोई भोला भाई यह सोचे कि भगवान् शान्तिनाथ जी के पास शान्ति का बहुत बड़ा खजाना पड़ा हुआ है। जब उनके नाम की माला फेरी जायेगी तो वे उस खजाने में से थोड़ी शान्ति निकाल कर हमको भी दे देंगे तो ऐसा सोचना गलत है। तीर्थंकर देवों का कथन है कि एक की शान्ति दूसरे को नहीं दी जाती है। किन्तु शान्ति से रहने का मार्ग शान्ति का स्वामी अवश्य ही सबको बता सकते हैं। ये सभी वीतराग देव शान्ति के स्वामी होते हैं। उन्होंने ही उपदेश दिये हैं कि यदि आपको हमारे समान शान्ति चाहिये तो आप भी अपने जीवन में वैसा ही आचरण कीजिये जैसा कि हमने किया। ऐसा करके आप भी शान्ति की अनुभूति ले सकेंगे। हमारे समान ही आपकी अन्तरात्मा में भी शान्ति का खजाना भरा हुआ है—जरूरत इस बात की है कि उसकी आप सही चाबी खोज कर और लगाकर खजाने का दरवाजा खोल लीजिये, फिर चारों ओर शान्ति ही शान्ति का साम्राज्य हो जायेगा। वीतराग देवों की ऐसी अमृतवाणी है जो घट में उतरकर बैठ जाये तो फिर शान्ति ही शान्ति है।

### आप की ही शान्ति आपको लेनी है

शान्ति कहीं बाहर नहीं है, शान्ति अपनी ही अन्तरात्मा के भीतर दबी हुई है। उसी को अपने प्रयत्न से अनावृत बनाना है। अपनी ही शान्ति अपने को लेनी है। वीतराग देवों के आदर्श उसी शान्ति को प्राप्त कराने में मार्गदर्शक एवं निमित्त बन सकते हैं, किन्तु शान्ति प्राप्ति के लिये प्रयत्न और पुरुषार्थ तो स्वयं को ही करना पड़ेगा। आप देखते हैं कि एक अध्यापक विद्यार्थियों को पढ़ाता है, यदि विद्यार्थी उस शिक्षा को ठीक तरह से ग्रहण करता रहे तभी वह अपने जीवन का विकास कर सकता है। लेकिन विद्यार्थी यदि ऐसा सोचे कि अध्यापक अपने भीतर रही हुई विद्या को निकाल कर मेरे मस्तिष्क में भर दें तो उस विद्यार्थी का ऐसा सोचना क्या सही कहा जा सकता है? विद्या प्राप्त करनी है इसके लिए उस विद्यार्थी को ही पुरुषार्थ करना होगा। अध्यापक से तो उसे शिक्षा का मार्गदर्शन ही मिल सकता है। यही वस्तुस्थिति तीर्थंकर देवों के साथ भी रहती है। इस दृष्टि से स्वयं आत्मा को अपनी शान्ति के प्रकटीकरण के लिये वीतराग वाणी का निमित्त लेकर स्वयं ही पुरुषार्थ करना होगा। बिना निज का पुरुषार्थ नियोजित किये शान्ति लाभ का कहीं कोई अवसर नहीं है।

प्रार्थना की उपरोक्त पंक्तियों में कवि ने इसी तथ्य को प्रकाशित किया है कि हे भगवान्! मैं आपसे शान्ति प्राप्ति के लिये प्रार्थना कर रहा हूँ किन्तु मेरी मांगणी भिखारी की तरह नहीं है। मेरी प्रार्थना यही है कि आपके आदर्श जीवन का गुणगान करके मैं भी शान्ति स्वरूप के ज्ञान एवं अनुभव को प्राप्त करने में समर्थ हो सकूँ। इस प्रकार की प्रार्थना ही वास्तव में जीवन विकास का मुख्य आधार बन सकती है। पुरुषार्थी एवं संयमी साधक शान्ति और स्थायी शान्ति को अपनी आत्मिक शक्तियों से ही प्राप्त कर सकता है।

अशान्ति और दुःख से ग्रस्त दो व्यक्ति अपनी अशान्ति मिटाने के लिये धनोपार्जन को अपने गांव से नगर की ओर निकले। पुराने जमाने में रास्ते कच्चे हुआ करते थे तथा उन पर किसी तरह के दिशा या स्थान संकेत भी नहीं लगते थे। रास्ता पूछ-पूछ कर ही खोजना पड़ता था। दोनों व्यक्ति चलते-चलते रास्ता भूल गये और एक बियाबान में जा पहुँचे। दोपहर का सूरज बड़ी तेजी से तप रहा था, वे थक भी गये थे और रास्ता भटक जाने का दुःख उन्हें सता रहा था। प्यास और भूख से व्याकुल वे विश्राम का स्थान खोजने लगे। उन्हें दूर पहाड़ी की ढलान पर घास-फूस की झोंपड़ी दिखाई दी। वे वहाँ पहुँचे। झोंपड़ी में उन्होंने एक व्यक्ति को ध्यान मुद्रा में देखा। उसके चेहरे की शान्ति से वे प्रभावित हुए। वह शान्ति उन्हें अच्छी लगी लेकिन वह उस व्यक्ति को किस उपाय से मिली—यह वे जानना चाहते थे। क्योंकि, उन्होंने तो शान्ति पाने का उपाय धन को माना था और इसी कारण वे धन कमाने निकले थे। किन्तु यह अनुभव करके उन्हें उस वक्त शान्ति मिल रही थी कि उस व्यक्ति के मुखमंडल से जैसे शान्ति की किरणें फूट रही हों। उस अनुभव से वे अपनी भूख-प्यास भी भूल गये! उनमें धार्मिक संस्कार और तेज बुद्धि नहीं थी इसलिये वे उस व्यक्ति की पहचान नहीं कर सके और उसे जंगली व गरीब मानते हुए उससे कुछ भी पाने की आशा न रखते हुए वहाँ से अपने उद्देश्य के लिये चल दिये। जब बुद्धि नष्ट हो जाती है तो मनुष्य चिन्तामणि रत्न को भी कांच का टुकड़ा मानकर फेंक देता है। ध्यानस्थ व्यक्ति चतुर था, वह तो शान्ति लाभ के लिये अपनी सारी सम्पत्ति का त्याग करके जंगल में आया था। उसने उन दोनों को पुकारा—‘महानुभावो! जरा रुको। भीतर बुलाकर दोनों को एक चटाई पर बिठाया तथा स्नेहमय व्यवहार करके उनका दिल जीत लिया। वे बोले, हमने यह सोचा था कि आप कोई जंगली होंगे, किन्तु आपके सभ्य एवं मानवीय व्यवहार से हमें बहुत ही सन्तोष मिला है। उस व्यक्ति ने कहा—महानुभावो! मेरे पास अपार सम्पत्ति है लेकिन उससे मुझे कोई शान्ति नहीं मिली। इसी से उसका

त्याग करके मैं वन में आया हूँ ताकि शान्ति प्राप्त कर सकूँ। वे दोनों आश्चर्य से बोले, क्या कह रहे हैं आप कि आपको सम्पत्ति से शान्ति नहीं मिली? अरे! हम तो शान्ति पाने के लिये ही धन कमाने जा रहे हैं। हमें आप नगर का मार्ग बता दीजिये। तब वह व्यक्ति बोला—आप नगर में जाकर धन का उपार्जन और संचय कर सकें या नहीं—इसका कोई भरोसा नहीं है। लेकिन मेरे पास शान्ति का ऐसा साधन है जिससे आप जो चाहें, आपको मिलेगा—धन, खाद्य सामग्री, वस्त्र आदि कुछ भी। और ज्ञान चाहिये तो वह भी प्राप्त हो सकेगा। यह सुनते ही दोनों उस साधन को देखने के लिये आतुर हो उठे। उसने कहा—मैंने एक कलश का निर्माण किया है जो कल्पवृक्ष के समान है। मुझे कलश निर्माण की कला आती है लेकिन आप यदि कलश लेना चाहो तो सोच लो क्योंकि कलश तो एक है और आप दो हैं। आप चाहे तो एक कलश ले लो या कलश निर्माण की कला मुझसे सीख लो। यह प्रस्ताव सुनकर दोनों व्यक्तियों में एक ने तो तात्कालिक लाभ का विचार किया और कलश मांग लिया तथा दूसरे ने कलश निर्माण की कला सीखने की इच्छा जाहिर की। दोनों अपना-अपना प्राप्य प्राप्त करके अपने-अपने घर लौट गये।

पहला, व्यक्ति तो इस बात से खुश था कि सीखने का कोई झंझट किये बिना उसको कलश मिल गया और दूसरा इसलिये खुश था कि उसने कलश के निर्माण की कला सीखी है सो एक बार बनाया हुआ कलश कहीं चोरी हो जाये या कभी फूट जाये तो वह दूसरा कलश बना भी सकता है। एक बार होली के मौके पर दोनों भांग पीकर अपने-अपने कलश सिर पर रखकर नाच रहे थे कि नशे के झोंके में गिर पड़े जिससे दोनों के कलश फूट गये। तब पहले की खुशी रंज में बदल गई कि अब कलश के बिना उसकी सारी सुख-सुविधाएं गईं। किन्तु दूसरे की खुशी पर कोई खास असर नहीं पड़ा। उसने नया कलश बना लिया।

अभिप्राय यह कि अपने भीतर की शान्ति को तभी प्रकट कर सकेंगे, जब शान्ति को प्रकट करने की विद्या स्वयं सीखेंगे और स्वयं ही उस विद्या को क्रियान्वित करके शान्ति की उपलब्धि पा लेंगे।

कस्तूरी मृग के समान शान्ति अपनी ही आन्तरिकता में है किन्तु यह समझकर अपना आचरण कस्तूरी मृग के समान नहीं होना चाहिये। कस्तूरी उसी की नाभि में होती है लेकिन अज्ञान वश वह चारों ओर दौड़ता रहता है तथा कस्तूरी को खोजता फिरता है। उसको केवल कस्तूरी की गंध आती रहती है और वह उस गंध के पीछे दौड़ता है। वह यह नहीं समझ पाता है कि गंध उसी की नाभि से आ रही है। किन्तु हमें शान्ति स्थल के बारे में कोई भ्रम

नहीं होना चाहिये तथा उसे कहीं अन्यत्र भी खोजते नहीं रहना चाहिये। हम अपने ही अन्तःकरण में प्रवेश करें तथा आवरणों के नीचे दबी शान्ति को अपने सत्पुरुषार्थ से बाहर निकाल लें। फिर हमारे जीवन में शान्ति की शीतलता व्याप्त हो जायेगी।

### श्वास चले शान्ति का

किसी को शान्ति प्राप्त है या नहीं उसको जानने का यही उपाय है कि उसकी श्वास में शान्ति है या नहीं। अशान्ति है, व्यग्रता या व्यथा अथवा शान्ति है यह श्वास गति से जाना जा सकता है। तभी तो कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति चैन की सांस ले रहा है या अमुक की सांस धौंकनी की तरह चल रही है। श्वास ही तो जीवन है। श्वास चलती है तब तक जीवितावस्था है, सांस बन्द हुई कि उसे मृत घोषित कर देते हैं, सांस में चैन का मतलब होता है कि जीवन में शान्ति है। इसलिये अभिलाषा रहती है कि शान्ति का श्वास चलता रहे—वह उत्तम है।

शान्ति हृदय की समुन्नत वृत्ति होती है जो सन्तोष, निश्चल वैचारिकता, समता तथा सर्वजन हितैषिता की वृत्तियों से उत्पन्न होती है। श्वास संकटों की कठिन परीक्षाओं में से निकल कर पुष्ट बनती है। शान्ति जिसके स्वभाव में समा जाती है, मानिये कि उसे त्रिलोक का राज्य मिल गया है। लोग धन-सम्पत्ति या राज्य की कामना क्यों करते हैं? क्योंकि उन्हें जीवन में शान्ति चाहिये और उनका भ्रम होता है कि इन प्राप्तियों से शान्ति मिल जायेगी। मदिरा पीने से कभी तृप्ति होती है? कभी नहीं, प्यास और बढ़ती है। तृप्ति देता है शीतल जल। उसी प्रकार शान्ति मिलती है सन्तोष और संयम से। शान्ति मिलती है तो शाश्वत सुख मिलता है और शान्ति एवं सुख का स्वामी स्वयं शान्तिनाथ बन जाता है।

किसी से कुछ याचना की बात नहीं, स्वयं ही कलश निर्माण की विद्या सीखने की बात है—अपने ही हृदय में छिपे हुए खजाने को प्रकट करने की बात है यह। उसके लिये कुशल ज्ञाता से विद्या सीखिये, कलश का निर्माण कीजिये और शान्ति का कल्पवृक्ष प्राप्त कर लीजिये। शान्ति मिले और शान्ति की श्वास चले—यह श्रेष्ठ है।

## 15

## योग व्यापार को साधें!

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

परमात्मा के दिव्य स्वरूप का गुणगान करने से मानव का वचन पवित्र होता है। वही गुणगान अन्तःकरण से निष्ठापूर्ण भावना के साथ किया जाये तो स्वयं का आत्मस्वरूप पवित्र होता है और परमात्मा की स्तुति आत्मोद्धारक बन जाती है। इस प्रकार परमात्मा की स्तुति से प्राथमिक रूप से आत्मा के दो मुख्य केन्द्र प्रभावित होते हैं—एक वचन केन्द्र तथा दूसरा मानस तंत्र केन्द्र। इन दोनों केन्द्रों का मिलन होने पर तीसरा शारीरिक केन्द्र भी इनके अनुरूप चलने लगता है।

वस्तुतः ये तीनों केन्द्र आत्मा के उपकरण रूप हैं। इन तीनों उपकरणों के दुष्चालन से आत्मा कर्मबंध करके अति अशान्त स्थिति को प्राप्त होती है। दूसरी तरफ इन्हीं तीनों केन्द्रों को व्यवस्थित रूप से सदाशयता के साथ संचालित करके अपने समस्त कर्मबंध को तोड़कर परम एवं चरम शान्ति की उपलब्धि भी कर सकती है।

ये तीनों उपकरण प्रत्येक मनुष्य के पास हैं। यदि वह इन उपकरणों का सही, संगठित एवं सारपूर्ण प्रयोग करना सीख जाये तो समझिये कि वह यथार्थ जीवन जीने की कला भी सीख लेगा। मनुष्य को अच्छे या बुरे रास्ते पर ले जाने वाले ये तीनों ही उपकरण या साधन हैं। अच्छा या बुरा रास्ता इन्हीं तीनों साधनों के अच्छे या बुरे प्रयोग पर निर्भर करता है। तीनों साधनों की प्रवृत्तियों को दार्शनिक भाषा में योग-व्यापार कहा गया है।

### योग व्यापार की आधारगत भूमिका

मानव इन तीनों केन्द्रों को पवित्र बनाने तथा पवित्र बनाये रखने का अपना प्रयास निरन्तर जारी रखे तो वह इन केन्द्रों का विकास करके उनके माध्यम से आत्म विकास की आधारगत भूमिका तैयार कर सकता है। मुख्य रूप से इन तीनों केन्द्रों का योग व्यापार ही मनुष्य के जीवन स्वरूप की रचना करता है।

इस दृष्टि से योग की दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में परिभाषा की जानी चाहिये। स्थानांग सूत्र में कहा गया है कि वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम अथवा क्षय होने पर मन, वचन, काया के निमित्त से आत्म प्रदेशों के चंचल होने का नाम योग है। वीर्य का अर्थ है बल या पराक्रम और अब इसके प्रकटीकरण में बाधा डालने वाले कर्मों का क्षय अथवा क्षयोपशम होता है तो तदनुसार आत्मा का बल और पराक्रम प्रकट होता है। इस बल और पराक्रम के प्रकट होने से आत्मा की जो शक्ति विशेष अभिप्राय के साथ स्फुरित होती है, वही योग है। इस प्रकार तीनों केन्द्रों से प्रस्फुटित होने वाली विशिष्ट शक्तियों को योग का नाम दिया गया है। इन योगों का जो संचालन होता है, वह योग व्यापार है। यह संचालन शुभता के साथ भी हो सकता है और अशुभता के साथ भी। इस दृष्टि से किसी के भी योग व्यापार को शुभ अथवा अशुभ बताया जा सकता है।

इन्हीं तीनों केन्द्रों पर योग व्यापार के संचालन अथवा उस संचालन की शुभता अथवा अशुभता का आधार रहता है। इसी आधारगत दृष्टि से योग के तीन भेद कहे गये हैं—

1. मनोयोग—मन के परिणामों की ओर झुके हुए आत्म प्रदेशों का जो व्यापार होता है, उसे मनोयोग कहा जाता है। यह नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम स्वरूप आन्तरिक मनोलब्धि होने पर मनोवर्गणा के आलम्बन से प्रकट होता है। मनोयोग के इस रूप को मन की शक्ति या मानस तंत्र का केन्द्र कह लीजिये।

2. वचन योग—मतिज्ञानावरण, अक्षरश्रुत ज्ञानावरण आदि कर्म के क्षयोपशम से जब आन्तरिक वाग् उपलब्धि उत्पन्न होती है, तब वचन वर्गणा के आलम्बन से भाषा परिणाम की ओर अभिमुख आत्म प्रदेशों का जो व्यापार होता है, उसे वचन योग कहते हैं। जो वचन योग है, वही वचन तंत्र है।

3. काययोग—औदारिक आदि शरीर वर्गणा के पुद्गलों के आलम्बन से होने वाले आत्म प्रदेशों के व्यापार को काययोग कहा जाता है। काययोग अथवा शरीर तंत्र के प्रयोग से सम्पूर्ण बाह्य प्रवृत्तियों का संचालन किया जाता है।

इस योग व्यापार के सम्पूर्ण स्वरूप एवं इसकी आधारगत भूमिका को जो समझ लेता है, उसे प्रतीत हो जाता है कि सम्पूर्ण जीवन की समस्त वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों का संचालन इन्हीं तीनों उपकरणों, तंत्रों अथवा योग के माध्यम से होता है। योग को साधना ही किसी भी साधक का पहला और अन्तिम पराक्रम होता है।

## योग व्यापार की शुभता एवं अशुभता

अज्ञान एवं मोहग्रस्त प्राणियों में सामान्य रूप से योग व्यापार अधिकांशतः अशुभ होता है। इस कारण योग को भी आस्रव का एक स्रोत माना गया है। जैसे तालाब में विभिन्न स्रोतों द्वारा पानी आता है, उसी प्रकार आत्मा में आठ कर्मों का विभिन्न स्रोतों से प्रवेश होता है और यही आस्रव है। यह आस्रव पांच प्रकार का है, जो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग रूप है। यह योग जब अशुभ होता है, तब वह आस्रव रूप होता है तथा उससे आत्मा को कर्म-बंध होता है।

योग व्यापार में मन, वचन एवं काया की शुभाशुभ वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों का समावेश होता है। ये वृत्तियाँ तथा प्रवृत्तियाँ जब अशुभता से रंगकर अनियंत्रित बन जाती हैं, तब वे ही आस्रव की माध्यम हो जाती हैं। मन का चिन्तन अशुभ होता है तथा वचन भी अशुभता में डूबता है, तब उसका कुप्रभाव शरीर तंत्र पर पड़ता है। यह प्रक्रिया एक ओर से ही नहीं, दोनों ओर से चलती है। शरीर तंत्र की अशुभता भी उसी प्रकार मन और वचन को प्रभावित बनाती है। जब श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय तथा स्पर्शेन्द्रिय रूप पांचों इन्द्रियाँ यानी कि शरीर तंत्र आत्मा के वश में न रहकर शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श विषयों में स्वतंत्र बन जाता है तथा तज्जन्य अशुभता में लिप्त हो जाता है, तब वैसे योग व्यापार के माध्यम से पांचों आस्रवों का सेवन भी संभव बन जाता है। ये पांचों आस्रव विभिन्न स्रोतमय होकर भी आत्मा में एकमेक बन जाते हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग की तरह प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह—ये पांच भी आस्रव ही माने गये हैं। इन आस्रवों के स्रोतों में अशुभ योग व्यापार का स्रोत अति प्रभावकारी होता है।

इस दुष्प्रभाव की दृष्टि से ही योग-व्यापार को शुद्ध बनाने की साधना पर बल दिया गया है। मन, वचन और काया—इन तीनों केन्द्रों को पवित्र बनाने के लिये अन्य उपायों के साथ सत्यनिष्ठा को अपनाएँ तो अकेले सत्य के माध्यम से ही कई सद्गुणों का जीवन में प्रवेश हो सकेगा और उनके प्रभाव से सम्पूर्ण योग व्यापार में शुभता के भावों का विकास और विस्तार बन सकेगा। आदर्श महापुरुषों के जीवन वृत्तों से यह सत्य स्पष्ट है कि जिन्होंने अपने जीवन को सत्यनिष्ठा से सुशोभित बनाया, उन्होंने कभी हिंसा का आचरण नहीं किया। चौर्य कर्म से वे दूर रहे, ब्रह्मचर्य धारण कर तेजस्वी बने तथा परिग्रह की मूर्च्छा से बेभान नहीं हुए। परिग्रह जीवन में बहुत बड़ी अशान्ति का कारण होता है। सत्यनिष्ठ साधक इस अशान्ति के चक्र में कभी नहीं पड़ता। अतः अपने योग



व्यापार को शुभतामय एवं पवित्र बनाने में सत्य का महान् योग रहा हुआ है और इसी हेतु सत्य के विराट् स्वरूप को भली-भांति समझने की आवश्यकता है।

### सत्य और शुभता का संगम

महावीर स्वामी ने सबसे आगे बढ़कर सत्य के विराट् स्वरूप को समझने की प्रेरणा दी है। उन्होंने तो यहां तक फरमाया है कि “सच्चं खु भगवं” अर्थात् सत्य ही भगवान् है। सत्य को पहचानने के लिये मनुष्य को उस प्रकार की बुद्धि का विकास करना होता है कि जो सत्य को पहचान पाती है। वही बुद्धि सदबुद्धि होती है। सदबुद्धि के माध्यम से धर्म का सही स्वरूप जाना जाता है तथा सम्यक् भाव धारण करके सत्यनिष्ठा को अपना लेने की तत्परता तब स्वयमेव उत्पन्न हो जाती है। तभी सत्य और शुभता का पवित्र संगम भी हो जाता है। जहां सत्य होता है, वहां शुभता रहती है तथा शुभता के संचरण के साथ सत्य की प्रतिष्ठापना होती है। सत्य और शुभता के समागम से जीवन का सम्पूर्ण योग व्यापार पवित्र और अनुकरणीय बन जाता है। एक सत्यनिष्ठ साधक के तीनों उपकरण—वचन, मानस तंत्र तथा शरीर तंत्र—स्वयं ही पवित्र नहीं बनते बल्कि अपने चारों ओर के समूचे वातावरण में वे पवित्रता का अनूठा संचार भी कर देते हैं।

इसलिये हमें सत्य के स्वरूप को समझने की परम आवश्यकता है। सत्य के कई भेद शास्त्रों में बताये गये हैं। यदि उन पर शास्त्रीय दृष्टिकोण से चिन्तन-मनन किया जाये तो सत्य का बहुआयामी स्वरूप स्पष्ट हो सकता है। शास्त्रकारों ने मन के चार योग बताये हैं—1. सत्य मनयोग। 2. असत्य मनयोग। 3. मिश्र मनयोग, तथा 4. व्यवहार मनयोग। अतः मन जब सत्य के साथ जुड़ता है तो वह सावद्य अर्थात् असत्य चिन्तन का त्याग करता है। वचन और शरीर केन्द्रों को भी असत्य से दूर हटा कर सत्य में नियोजित बनाता है। सत्य से जुड़े हुए मन का योग व्यापार शुभ बन जाता है तथा वैसा मानस तंत्र का योग सत्य मनयोग कहलाता है। इसी प्रकार असत्य में डूबा हुआ मानस तंत्र असत्य में डूबता-उतराता योग मिश्र मनयोग कहलाता है। जब मन व्यवहार की दृष्टि से कार्य करता है तब उसका योग व्यवहार योग होता है।

इसी प्रकार सत्य के संदर्भ में वचन के भी चार प्रकार बताये गये हैं—

1. सत्य वचन योग अर्थात् विद्यमान जीवादि पदार्थों का यथार्थ स्वरूप कहना तथा निरवद्य भाषा का प्रयोग करना। 2. असत्य वचन योग का अर्थ है कि जो पदार्थ जिस स्वरूप में नहीं है, उस स्वरूप से कहना तथा सन्त-जनों के लिये अहितकारी सावद्य भाषा का प्रयोग करना। 3. मिश्र वचन योग में सत्य और

मृषा भाषा का प्रयोग सम्मिलित होता है। 4. व्यवहार वचन योग उस भाषा को कहते हैं जो न तो सत्य होती है और न असत्य। ऐसी आमंत्रणा, आज्ञापना आदि की व्यवहार भाषा असत्यामृषा भाषा कही जाती है। इसी योग का नाम व्यवहार वचन योग है।

असत्य वचन प्राणियों, पदार्थों एवं सन्तों के लिये हितकारी नहीं होता है, बल्कि पीड़ाकारी होता है। असत्य वचन के चार भेद कहे गये हैं—

1. सद्भाव प्रतिषेध-विद्यमान वस्तु का निषेध करना अर्थात् जो है उसका नहीं करके बताना। जैसे यह कहना कि आत्मा, पुण्य पाप आदि नहीं है।
2. असद्भावोद् भावन-अविद्यमान वस्तु का अस्तित्व बताना अर्थात् जो नहीं है उसकी मौजूदगी कहना। जैसे यह कहना कि आत्मा सर्वव्यापी है अथवा ईश्वर जगत् का कर्ता है।
3. अर्थान्तर-एक पदार्थ को दूसरा पदार्थ बताना जैसे गाय को घोड़ा कहना।
4. गर्हा-किसी का दोष प्रकट करके उसको पीड़ाकारी वचन कहना जैसे काणे को काणा कहना।

सत्य को लेकर मन और वचन को एक साथ जोड़ें, तब भी उसके चार प्रकार सामने आते हैं—

1. मन सत्य, वचन असत्य।
2. मन सत्य, वचन सत्य।
3. मन असत्य, वचन सत्य, तथा
4. मन असत्य, वचन असत्य।

सत्य और असत्य की वास्तविक अनुभूति वचन के माध्यम से उसका प्रयोग करने वाला मानव स्वयं ही ले सकता है। कई बार किसी के मन में सत्य भरा हुआ होता है लेकिन किसी कारणवश वह वचन से असत्य का प्रयोग कर जाता है। ऐसे कई प्रसंगों पर ऐसा प्रयोग करना पड़ जाता है। कभी-कभी तो इस प्रकार का प्रयोग करने वाले के सामने जीवन-मरण का प्रसंग भी उपस्थित हो जाता है।

### सत्य प्रयोग से विचलित होने की विवशताएँ

ऐसे प्रसंगों पर सत्य का सर्वथा प्रयोग करने की स्थिति से विचलित हो जाने की विवशता पैदा हो जाती है। तब मन में सत्यनिष्ठा होने के बावजूद वचन से असत्य का प्रयोग करना पड़ जाता है। ऐसे ही एक प्रसंग का उल्लेख करें तो हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का जब विभाजन हुआ उस समय संघर्ष का होना जरूरी नहीं था, किन्तु मानव जब नैतिकता से हट जाता है तब वह संघर्ष में भी उतर जाता है। वह मन की गूढ़ ग्रंथियों का दुष्प्रवाह होता है जो उसे नृशंस, क्रूर और हिंसक बना देता है। उस समय पाकिस्तान में रहने वाले हिन्दू परिवारों के इधर-उधर होने का प्रसंग आया। यह एक हिन्दू परिवार की घटना है। वह हिन्दू परिवार वहां पर एक मुस्लिम परिवार के साथ बहुत ही प्रेम और प्रसन्नता से रहता था। मुस्लिम परिवार में सिर्फ दो वृद्ध (पति-पत्नी) ही थे

परन्तु हिन्दू परिवार बड़ा था, बाल-बच्चे थे। इन दोनों परिवारों के बीच इतना स्नेह था कि किसी को भी एक-दूसरे से अलग होना अच्छा नहीं लग रहा था।

दोनों परिवारों की वैसी मनःस्थिति में एक दिन कुछ क्रूर आतंकवादी-व्यक्ति उनके घर के सामने आये इस दृष्टि से कि कोई हिन्दू मिले तो खोजकर उनको खत्म कर दें। उनको पता चला था कि इस मुस्लिम परिवार के साथ एक हिन्दू परिवार भी रहता है। वे बुरे इरादे के साथ घर में घुस गये किन्तु भीतर उन्हें कोई नहीं दिखाई दिया। उन्होंने उस मुस्लिम परिवार से पूछा कि उनके साथ रहने वाला हिन्दू परिवार कहाँ गया? उस मुस्लिम परिवार के सामने उस प्रश्न का उत्तर देना धर्म संकट बन गया क्योंकि आपसी स्नेह से अभिभूत होकर उस परिवार ने पूरे हिन्दू परिवार को घर के भीतर इस तरह छिपा लिया था कि उन आतंककारियों को भनक तक न पड़ सके। मुस्लिम परिवार सोचने लगा कि अगर वे उन आतंककारियों के सवाल का जवाब सच-सच कहें तो सारे हिन्दू परिवार की हत्या हो जायेगी जो वे कतई नहीं चाहते थे। अतः निडर होकर उन्होंने जवाब दिया कि उनके घर में कोई हिन्दू नहीं है। यहां उनका वचन असत्य अवश्य था किन्तु उनके मन में तो अहिंसा और स्नेह की सत्यनिष्ठा समायी थी। इस प्रसंग से मन में सत्य होते हुए भी वचन से असत्य बोलने की विवशता उत्पन्न हुई। आतंकवादियों के दबाव से उन्होंने अपने पवित्र धर्मग्रंथ कुरान की शपथ खाकर भी कह दिया कि उनके घर में कोई हिन्दू नहीं है। तभी आतंकवादी विश्वस्त होकर बाहर निकले।

सोचिये कि असत्य वचन का प्रयोग किस विकट परिस्थिति में किया गया? मानव और मानवता की रक्षा करना—यह उस मुस्लिम परिवार के मन की सत्य भावना थी। इसी प्रकार बाद में दूसरे आतंककारियों का दल आया जो मुस्लिम परिवार को खत्म कर देना चाहता था, तब हिन्दू परिवार ने भी उसी सत्यनिष्ठा के साथ उस मुस्लिम परिवार की रक्षा की। इस प्रसंग को व्यवहार की दृष्टि से देखें तो उस वचन को असत्य नहीं माना जायेगा। वचन मन की भावना से उद्भूत होता है तथा मन में जब पूर्ण रूप से सत्यनिष्ठा रही हुई है तो वचन का दोष परिस्थितिजन्य कहा जा सकता है, भावना जन्य नहीं। इसे मात्र अपवाद कह सकते हैं। मन जब सत्य से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ रहता है तब वचन एवं शरीर तंत्र पर उसका प्रभाव अमिट होता है।

### मन व वचन के योग व्यापार का चित्रण

इस प्रकार के भी कई पुरुष आप को मिल सकते हैं जिनके मन में तो असत्य हो, पर वचन सत्य बोलते हों। निज वचन मधुरता के साथ सत्य

कहेंगे, किन्तु मन का रूप मायावी रहता है। ऐसे पुरुष अपने जीवन में कभी यशस्वी नहीं बनते हैं। इसका एक रूपक लीजिये। एक व्यापारी अपना गांव छोड़कर दूसरे शहर में बसने के लिये गया। वहां उसे मकान की जरूरत हुई। एक जगह उसे खाली मकान मिला, जिसमें कई कमरे थे। वह मकान मालिक से मिला। उसने पूछा कि क्या वे अपना मकान उसे बेचना पसन्द करेंगे? उसने हाँ भरी। व्यापारी ने पूछा कि मकान में कोई कमी तो नहीं है। मकान मालिक ने कहा कि आपको प्रत्येक कमरे में पानी मिलेगा। व्यापारी ने उसे सुविधा समझकर मकान खरीद लिया। थोड़े ही दिनों में वर्षा ऋतु आरंभ हुई तो प्रत्येक कमरा टपक-टपक कर पानी से भर गया। व्यापारी पछताने लगा कि उसके साथ धोखा हो गया है। वह मकान मालिक के पास जाकर बुरा-भला कहने लगा। मकान मालिक ने सपाट उत्तर दिया कि यह बात तो उसने पहले ही कह दी थी कि प्रत्येक कमरे में पानी मिलेगा। मैंने सत्य छिपाया थोड़े ही था? तो यह है मन में असत्य किन्तु वचन से सत्य कहना लेकिन वह सत्य मायावी होता है।

जो महापुरुष मन और वचन दोनों से सत्यनिष्ठ होते हैं, वे अपने आदर्श जीवन की छाप छोड़ जाते हैं। सेठ सुदर्शन का आदर्श जीवन इस वर्ग में लिया जा सकता है। सेठ सुदर्शन ने अपने मन में विचार किया कि महारानी अभया ने अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर षड्यंत्र रचा और मुझे पोषधशाला से यहां राजमहल बुलवा लिया। अब अपनी कामवासना व्यक्त कर रही है। मैंने तो सत्यनिष्ठ मन और वचन के साथ इसे माता माना और कहा है, अतः वह मेरे लिये माता समान ही है। इसी सत्यनिष्ठ सेठ को राजा ने प्राणदंड सुनाया तब भी वे यह नहीं बोले कि महारानी ने क्या कुछ किया? वे जानते थे कि यदि हकीकत का बयान कर देंगे तो उसके प्राण बच जायेंगे और महारानी को प्राणदंड हो जायेगा। जिसे माता माना और कहा है, उसके प्राण बचाने का दायित्व भी उन्होंने अपने ऊपर ले लिया और राजा के लाख पूछने पर भी कुछ नहीं बोले। माता की रक्षा के लिये उनके प्राण चले जायें तो कोई बात नहीं। फिर सूली का सिंहासन बन गया—वह दूसरी बात है किन्तु मन और वचन से सत्यनिष्ठ रहने वाला महापुरुष अपराधी-निरपराध-सभी प्राणियों का—सच्चा संरक्षक बन जाता है। सत्य सदा विजयी होता है।

जो मन और वचन दोनों से असत्य में डूबे रहते हैं, उनकी अशान्ति का तो कहना ही क्या? वे तो क्रूर और हिंसक बनकर इस देह में भी नारकीय जीवन ही जीते हैं।

## योग व्यापार को शुभता की ओर मोड़ें

जहां मन, वचन, काया के योग व्यापार को साधने की बात कही जाती है, उसका अभिप्राय यही होता है कि समूचे योग व्यापार को शुभता की दिशा में मोड़ा जाये। इस मोड़ने की प्रक्रिया को एक अन्य प्रकार से योग साधना ही कहा जाता है। इस प्रक्रिया में अशुभता में रमी रहने वाली चित्त वृत्तियों का पहले निरोध आवश्यक होता है ताकि उन्हें बाद में शुभ दिशा में गतिमान बना सकें। इस योग साधना का उद्देश्य होता है कि चित्त की चंचलता को दूर करके उसे किसी एक लक्ष्य की ओर लगावें एवं अन्य सारे व्यापार का विरोध कर दें। इसका निरन्तर अभ्यास करना होता है।

योग साधना की दृष्टि से योग के आठ अंग बताये गये हैं। इनकी सहायता से क्रमशः अभ्यास किया जा सकता है और योग अवस्था को पुष्ट रूप दिया जा सकता है। आठ अंग इस प्रकार हैं—1. यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं परिग्रह—ये पांच यम हैं जिनका पालन करने से मन संयत तथा आत्म भाव उन्नत बनता है। 2. नियम—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और भक्ति—ये नियम कहे हैं। इनकी पालना से योगाभ्यास परिपक्व बनता है। 3. आसन—आरोग्य तथा मन की स्थिरता के लिये शरीर के व्यायामविशेष का भी प्रावधान है। आसनों में पर्यकासन, वीरासन, वज्रासन, पद्मासन, भद्रासन, दंडासन, उत्कटिकासन, गोदोहनासन, कायोत्सर्गासन आदि का मन के स्थिरीकरण के लिये विशेष महत्त्व है। भगवान् महावीर अपने निर्वाण के समय पर्यकासन में विराजमान थे। 4. प्राणायाम—प्राण अर्थात् श्वास को नियंत्रित करने को प्राणायाम कहते हैं। इसका शरीर तंत्र के योग व्यापार को नियंत्रित करने में बड़ा प्रभाव रहता है। 5. प्रत्याहार—मन की बाहर जाने वाली वृत्तियों को रोकने तथा उसे इन्द्रियों की दासता से मुक्त करने का नाम प्रत्याहार है। प्रत्याहार की सफलता इस तथ्य में निहित रहती है कि अपने मन को इच्छानुसार इन्द्रियों में लगा सकें या उनसे अलग कर सकें। 6. धारणा—इसका अर्थ है मन को दूसरी जगह से हटाकर शरीर के किसी स्थल बिन्दु पर लगाना। जैसे बाकी सब अंगों को भूलकर नासिका के अग्र भाग पर ध्यान जमा लिया जाये। 7. ध्यान—चित्त को बहुत देर तक किसी एक ही बात के सोचने में लगाये रखना ध्यान है। इससे चित्त की एकाग्रता सधती है। 8. समाधि—बारह ध्यान की एक समाधि होती है। इसके अभ्यास में मन को एकाग्र बनाना तथा निश्चल रखना दोनों बातें होती हैं।

योग के ये आठ अंग योगाभ्यास में सहायक होते हैं अथवा यों कहें कि सम्पूर्ण योग के साधक बनते हैं। ये योग व्यापार को नियंत्रित करके उसे शुभ

स्वरूप प्रदान करते हैं। इन आठ अंगों के निरन्तर अभ्यास से मन, वचन तथा काया के तीनों उपकरण अथवा केन्द्र पवित्र बनते हुए आत्मोत्थानकारी हो जाते हैं। योग साधना का अमित महत्त्व इसी संदर्भ में समझा जाना चाहिये।

### योग साधना के आचरणीय नियम

मन, वचन एवं काया के समग्र योग-व्यापार को साधना निरन्तर एवं क्रमशः अभ्यास से ही संभव हो सकता है। इसके लिये योग के आठों अंगों का एकान्त स्थल पर प्रतिदिन अभ्यास किया जाना चाहिये। योग साधक को अपना आहार, विहार आदि नियमित रखना चाहिये तथा सम्बन्धित इन्द्रिय-विषय वस्तुओं से सदा अलग रहना चाहिये। किसी भी दशा में उन पर आत्म नियंत्रण तो स्थापित होना ही चाहिये। तब यम, नियम आदि की साधना करते हुए समाधि की अवस्था तक पहुँचा जा सकता है। समाधि के भी दो स्तर होते हैं—1. सम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् मन से किसी अच्छी बात का ध्यान करना और उसी बात पर मन को बहुत देर तक केन्द्रित बनाये रखना। 2. असम्प्रज्ञात समाधि का अभिप्राय होता है कि मन में कुछ भी नहीं सोचना और इसी तरह बहुत देर तक मन के व्यापार को बन्द रखना।

समाधि की परिपुष्टि के साथ साधक को दोनों प्रकार की नियंत्रक शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। वह चाहे तो अपने मन को किसी भी एक लक्ष्य के प्रति एकाग्र बना सकता है, आत्मानुभूति में निमग्न बना सकता है अथवा आत्मानुभूति में निमग्न बन कर मन को निश्चल अवस्था में भी स्थिर कर सकता है।

योग साधना से विविध प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। किन्तु, एक साधक को सिद्धियों के प्रलोभन में नहीं पड़ना चाहिये और मोक्ष को ही अपना साध्य बनाना चाहिये। यही योग साधना ज्यों-ज्यों उत्कृष्ट रूप ग्रहण करती जाती है, त्यों-त्यों इसकी दिव्यता प्रकाशमान होती रहती है। अन्ततोगत्वा मोक्ष की प्राप्ति भी करा देती है।

एक योग साधक को चित्त के आठ दोषों का पहले परिहार कर लेना चाहिये ताकि योगाभ्यास की पुष्टता में बाधाएँ उत्पन्न न हो सकें। चित्त के दोष ध्यान में विघ्न डालते हैं तथा कार्य सिद्धि को प्रतिबाधित बनाते हैं अतः उनको दूर करने का प्रयास पहले करना चाहिये। ये आठ दोष इस प्रकार हैं—  
1. ग्लानि—अरुचि, उपेक्षा या घृणा के भाव। 2. उद्वेग—उदासी और उत्साहहीनता। 3. भ्रान्ति—कुछ का कुछ समझ लेना यानी भ्रमितावस्था। 4. उन्थान—किसी एक कार्य में अस्थिरता एवं चंचलता। 5. क्षेप—प्रारंभ किये हुए कार्य को छोड़कर नये-

नये कार्यों की तरफ मन का दौड़ना। 6. आसंग—किसी एक बात में लीन होकर सुध-बुध खो बैठना। 7. अन्यमुद्—अवसर प्राप्त कार्य को छोड़ अन्य-अन्य कार्य में लगे रहना। 8. रूक्—कार्य को प्रारंभ करके छोड़ देना।

चित्त के ये आठों दोष इसकी चंचलता को बनाये रखते हैं तथा उसे स्थिर नहीं होने देते हैं। इस कारण इन दोषों को दूर करने पर योग साधना का क्रम सुगढ़ बन सकता है ताकि मन की गति नियंत्रित हो सके। मुख्यतः योग साधना का अर्थ मन को साध लेने से लिया जा सकता है। जब मन सध जाता है और वह दृढ़ता पूर्वक सत्य के साथ जुड़ जाता है तब वचन एवं काया के योग व्यापार को संयमित एवं शुभ बना लेने में अधिक कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता है। मन साधे, सब सधे की उक्ति सार्थक बन जाती है। उस दृष्टि से योगाभ्यास का केन्द्र बिन्दु मन ही होता है और योग के आठों अंगों का सीधा और पहला सम्बन्ध मन के साथ ही रहता है।

### मनस्वी होंगे तो तेजस्वी बन जायेंगे

अगर आप मन को आत्मानुशासित बना लेंगे, उसे सत्यनिष्ठा में स्थापित कर लेंगे तो मन के संग वचन एवं काया का समूचा योग व्यापार भी सध जायेगा, आत्मकेन्द्रित बन जायेगा। मन पर विजय प्राप्त कर लेने वाले पुरुष ही मनस्वी कहलाते हैं तथा जो मनस्वी हो जाते हैं, वे अपने जीवन को निश्चित रूप से तेजस्वी भी बना लेते हैं।

योग का अभिप्राय प्रशस्त योग से लिया जाता है, जिसका अर्थ होता है मन, वचन एवं काया का शुभ व्यापार। यह शुभता बनती है और बनी रहती है नियमित योग साधना से तथा आत्मालोचना आदि प्रक्रिया से। आलोचनादि-क्रियाओं को प्रशस्त योग संग्रह कहा जाता है जो बत्तीस प्रकार का बताया गया है। इसका आशय यही है कि योग साधक आत्मावलोकन एवं आत्मालोचन की क्रियाओं से अपने आपको सदा जागरूक एवं सक्रिय बनाये रखे।

जो भव्य आत्मा योग व्यापार, उसकी शुभता और सत्यनिष्ठा को समझकर योग साधना में प्रवृत्त होती है, वह एक दिन शान्तिनाथ भगवान् के स्वरूप को प्राप्त कर सकती है।

## 16

## समझें अशान्ति के हेतु को

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

शान्ति का परम इच्छुक जन समुदाय अपने अन्तःकरण में शान्ति की अभिलाषा लेकर विविध प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होता है, किन्तु उसे शान्ति प्राप्त नहीं होती है। इसका कारण क्या है—यही अनुसंधान का विषय है। जब तक वर्तमान अशान्ति के हेतु को नहीं खोजा जायेगा, उसके स्वरूप को नहीं समझा जायेगा तथा उस हेतु को दूर कर देने का स्थायी उपाय सफलता पूर्वक नहीं किया जायेगा, तब तक शान्ति प्राप्ति के लिये कितने ही प्रयास कर लिये जायें, अशान्ति मिट नहीं सकेगी। चाहे अनेक वर्षों तक या कि पूरी जिन्दगी तक भी इस विवेक के बगैर प्रयत्न कर लिया जाये, तब भी शान्ति मिल नहीं सकेगी। क्योंकि कारण को मिटाये बिना उससे उत्पन्न होने वाला कार्य समाप्त नहीं हो सकेगा।

इसलिये अशान्ति के हेतु को पहले समझें। आज की जनता संसार के इस विषम चक्र में इधर से उधर परिभ्रमण करती हुई चल रही है और यह परिभ्रमण सिर्फ इस जीवन का ही नहीं है, बल्कि पूर्व के अनेकानेक जन्मों से चल रहा है और जब तक वह शान्ति लाभ नहीं कर लेगी, तब तक आगामी जन्म-जन्मान्तरों में भी इस परिभ्रमण का अन्त नहीं होगा। ऐसा नहीं है कि पूर्व जन्मों में भी अनेक आत्माओं ने शान्ति की अभिलाषा नहीं रखी हो बल्कि आज भी शान्ति की अभिलाषा बनी हुई है, किन्तु इस अभिलाषा की पूर्ति के लिये अशान्ति के हेतु को समझकर पहले उसे दूर कर देने की अनिवार्य आवश्यकता है।

शान्ति के अग्रदूत तीर्थंकर देवों की चरण सेवा करने का अवसर भी इस आत्मा को प्राप्त हुआ होगा, किन्तु उनके उपदेशों को वास्तविकता के साथ ग्रहण न कर पाने से वही अपनी अशान्ति को दूर नहीं कर सकी है। इस आत्मा



ने धार्मिक क्रियाओं की आराधना की होगी, संयम एवं तप भी साधा होगा, पर सही अनुसंधान के अभाव में उसे शान्ति का अनुभव करने का सौभाग्य नहीं मिला है। इस कारण अब अशान्ति के हेतु की खोज जरूरी है।

### मानव जीवन अनुसंधान का स्वर्णिम अवसर

इस मानव जीवन की उपलब्धि में आज अशान्ति हेतु के सही अनुसंधान का स्वर्णिम अवसर उपस्थित है। ऐसा अवसर बार-बार प्राप्त होने वाला नहीं है। इसलिये जो यह भव्य जीवन मिला है, उसका अशान्ति के हेतु अनुसंधान तथा शान्ति की अनुभूति हेतु पराक्रम में सदुपयोग कर लीजिये। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये सच्ची शान्ति के स्वरूप को पहचान लेना भी आवश्यक है, वरना कई बार भ्रान्ति हो जाती है कि अमुक कार्य से शान्ति मिल रही है हालांकि अन्ततोगत्वा उससे भी अशान्ति का ही कटु अनुभव मिलता है। शान्ति की भ्रान्ति से बचने के लिये उसके यथार्थ स्वरूप की पहचान पहले कर लेनी चाहिये।

शान्ति के सच्चे स्वरूप की पहचान के बिना चाहे जितनी तपस्या कर ली जाये, सूर्य की प्रखर किरणों में कठोर आतापना ले ली जाये अथवा अन्यान्य प्रकारों से शरीर को भारी कष्टित किया जाये, तब भी शान्ति लाभ होने की संभावना नहीं रहेगी। इसलिये इस भेद विज्ञान को जानना और अन्तर्चेतना में शान्ति के सच्चे स्वरूप को बसा लेना आवश्यक है। शान्ति का अनुभव ऐसा करने से ही संभव हो सकेगा।

वर्तमान युग में कई पुरुष ऐसे मिलेंगे जो शान्ति की चाह रखते हैं तथा उसे पाने के विविध प्रयत्न करते रहते हैं। उनके वे सारे प्रयत्न भटकाव ही सिद्ध होते हैं जब तक कि वे शान्ति का सच्चा स्वरूप नहीं समझ लेते और अशान्ति के हेतु की सफलता पूर्वक समाप्ति नहीं कर देते। आप लोगों में से किन्हीं ने अपने आपको संन्यासी बताने वाले एक प्रोफेसर भंशाली का नाम सुना होगा। ये पहले प्रोफेसर थे किन्तु उन्हें उतने से ज्ञान से सन्तोष नहीं था और वे ज्ञान की गहराई में उतर कर शान्ति लाभ करने के इच्छुक थे। उन्होंने सोचा कि शायद कठोर तपस्या करने से उन्हें शान्ति मिल जायेगी। तपस्या करने की भी एक विधि होती है तथा उसका भी एक पूरा विज्ञान है। उस अन्तरंग विधि का तो उन्हें ज्ञान नहीं था, केवल शरीर को तपाने से ही तपस्या होती है—यही वे जानते थे। वे अपने ढंग से तपस्या करके शान्ति प्राप्त करने के लिये निकल पड़े। प्रत्येक क्षेत्र का ज्ञान-विज्ञान अलग-अलग होता है। एक क्षेत्र का विद्वान् ऐसा भी हो सकता

है कि दूसरे क्षेत्र का अब तक नहीं जाने। यदि किसी को एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में प्रवेश लेना हो तो उसे उस क्षेत्र के ज्ञान-विज्ञान को भी समझना होगा। किन्तु प्रो. भंसाली ने ऐसा कुछ नहीं किया। मात्र यह निश्चय कर लिया कि वे अपने शरीर का कोई ध्यान नहीं रखेंगे तथा उसे कष्टित करते हुए तपायेंगे, जिससे उन्हें शान्ति-लाभ हो जायेगा। प्रो. भंसाली ने एक लंगोटी के सिवाय सारे वस्त्र उतार दिये। कुछ भी न बोलने तथा न खाने के इरादे से उन्होंने अपने होठों में एक लोहे का तार जड़ दिया। इसके साथ ही उन्होंने सोचा कि यदि कोई उनका अपमान भी करेगा, तब भी वे होठ बन्द रहने से कुछ बोल नहीं सकेंगे। इस तरह उनकी सहनशीलता बढ़ जायेगी। कुछ भी ठोस न खा पाने के कारण शरीर के प्रति भी उनकी उपेक्षा सहज बन जायेगी। इतना सब करके वे महात्मा गांधी के आश्रम पहुँच गये। गांधी जी ने भी उनके उस रूप को आश्चर्य के साथ देखा, उनसे सारी बात जानी और पूछा कि इस सारे प्रयोग से क्या उन्हें शान्ति का अनुभव होने लगा है? उनका लिखित उत्तर पढ़कर तो गांधी जी को और अधिक आश्चर्य हुआ कि इतना सबकुछ कर लेने पर भी उन्हें शान्ति का तनिक भी अनुभव नहीं हुआ है। तब गांधी जी ने हंसते हुए कहा—भाई, अपने होठों पर कसे हुए इस लोहे के तार को खोल दो। प्रो. भंसाली ने वैसा करके महात्मा जी से पूछा—अब मुझे शान्ति का अनुभव कैसे हो सकेगा—यह बताइये। गांधी जी ने कहा—शान्ति का अनुभव बलात् नहीं होता है, उसके लिये जो प्रयास किया जाये वह आत्म नियंत्रित होना चाहिये। मन को एकाग्र बनाओ किन्तु उस एकाग्रता को टिकाये रखने के लिये लोहे के तार की नहीं, अपनी ही आत्मा के अनुशासन की आवश्यकता होती है।

आशय यह है कि मन की बलात् एकाग्रता शान्ति प्राप्ति का मुख्य हेतु नहीं है। अशान्ति के मुख्य हेतु को खोजने की तथा शान्ति को प्राप्त करने की एक अलग विधि है। जब तक उस विधि का अनुसरण नहीं किया जाता, तब तक अन्यान्य उपाय विफल ही रहते हैं। इस विधि के अनुसार आचरण करने की चेष्टा इस मानव जीवन में अवश्य निष्ठा के साथ की जानी चाहिये।

### भेद विज्ञान को जानिये—पहचानिये

आप धर्मस्थान में आते हैं और धार्मिक क्रिया के आचरण के रूप में सामायिक का व्रत ग्रहण करते हैं तो क्या यह व्रत आप यों ही ले लेते हैं? ऐसा नहीं होता। सामायिक लेने की, उसे पाने की भी निश्चित विधि निर्धारित होती है तथा आप उस विधि का पूरी तरह से अनुसरण करते हैं। यदि कोई विधि-

पूर्वक सामायिक न ले अथवा उसे न पारे तो क्या उसका सामायिक का व्रत पूर्ण और फलदायी बनता है? कोई भी व्रत या अनुष्ठान हो, उस पर उसकी विधि के साथ आचरण करने से ही उस व्रत या अनुष्ठान की सम्यक् सम्पूर्ति होती है। और यही उसका भेद विज्ञान कहलाता है जिसे पूरी तरह जान पहचान कर ही कार्यान्वित करना होता है।

इसी रूप में अशान्ति के हेतु और शान्ति प्राप्ति की विधि को जानने-पहचानने की जरूरत होती है कि अपने लक्ष्य को सामने रखते हुए किस प्रकार शान्ति का अनुभव लिया जा सकता है तथा उस अनुभव को स्थायी स्वरूप प्रदान किया जा सकता है। शान्ति साधना का भी अपना भेद विज्ञान है—अपनी विधि है और उसी का अनुसरण शान्ति साधना को फलीभूत बना सकता है। शान्ति साधना एवं उपलब्धि की इस भेद वैज्ञानिकता को जब तक नहीं समझ पायेंगे तथा विधि के अनुसार आचरण नहीं करेंगे, तब तक शान्ति का अनुभव भी नहीं ले पायेंगे।

जैसे सामायिक साधना विधि पूर्वक न की जाये और केवल एकान्त शान्त स्थान पर बैठकर चिन्तन ही करें, तब भी उसका कुछ लाभ तो मिलेगा। उसी प्रकार विधि पूर्वक न करने पर भी मन की एकाग्रता साधने की दृष्टि से शान्ति साधना का उतना लाभ तो मिल जायेगा किन्तु पूरा और वास्तविक लाभ विधिहीनता की स्थिति में नहीं मिल पायेगा। विधि पूर्वक की जाने वाली साधना में जो अनिर्वचनीय आनन्द मिलता है, वह विधिहीनता से कैसे मिल पायेगा? हाँ, उससे सीमित आनन्द मिलेगा, किन्तु साधना अधूरी ही रहेगी।

वस्तुतः लाभ-लाभ में भी बड़ा अन्तर होता है। एक किराणा का व्यापारी होता है और दूसरा सोना-चाँदी का। क्या दोनों का व्यापार और लाभ एक सरीखा होता है? वैसी ही साधना की भी स्थिति होती है, जिसमें निर्देशित विधि एवं भावों की उत्कृष्टता का बहुत महत्त्व होता है। अगर पूरी विधि के साथ सामायिक साधना की जाये—मन, वचन काया के योग व्यापार का निषेध तथा समत्व की उत्कृष्ट भावना हो तो इस साधना से भी अभ्यास के अन्तर्गत सच्ची शान्ति का अनुभव लिया जा सकता है। समझिये कि इसके स्थान पर सामायिक करने में न तो विधि का पालन किया जाये और न ही योग निरोध व समत्व भाव का ध्यान रख जाये। सामायिक के दौरान घरेलू बातचीत और सांसारिक आदेश-निर्देश भी चलते रहें तो क्या उस सामायिक का वैसा ही लाभ मिल सकेगा जो विधि एवं भाव पूर्वक की हुई सामायिक का मिलता है? विधि एवं भावहीनता से की गई सामायिक से मिलने वाली अशान्ति को दूर करने की

समस्या भी सामने हाजिर हो जायेगी, शान्ति मिलने की तो बात ही अलग है! इसलिये विधि के भेद विज्ञान का ज्ञान होना ही चाहिये।

### शान्ति विधि पूर्वक साधना से प्राप्त करें

सामायिक की साधना भी शान्ति की ही साधना होती है तथा अन्य प्रकार की योग साधनाओं का मूल उद्देश्य भी आन्तरिक शान्ति प्राप्त करना ही होता है। आप किसी साधना से कितनी और कैसी शान्ति प्राप्त कर सकते हैं—यह आपके विवेक पर निर्भर करता है। विवेक इस बात का कि आप इस साधना की विधि का ज्ञान करें, उस विधि के महत्त्व को मन में उतारें और भेद विज्ञान की उत्कृष्टता के साथ उस साधना में लगे। तब उस निष्ठापूर्ण आराधना से जिस प्रकार की शान्ति का अनुभव होगा, वह निश्चय ही सच्चा, सार्थक और प्रभावकारी होगा। साधना में विवेक का ध्यान नहीं रखा जाये तो वैसी गहरी निष्ठा कहां से उत्पन्न हो सकेगी? गहरी निष्ठा के बिना किसी भी साधना की सफलता कैसे सोची जा सकती है? यही भेद विज्ञान है विधि का, भावना का और निष्ठा का।

मूलतः यह प्रश्न भी उठता है कि आज कल के श्रावक-श्राविकाओं में, युवकों में और सामान्य जन में शान्ति की चाह है भी या नहीं और है तो उसकी गहराई कितनी है? शान्ति की पूरी चाह हो लेकिन अशान्ति के हेतु का अनुसंधान न हो, सच्ची शान्ति की पहचान न हो, तो शान्ति लाभ मिलना कठिन है। किन्तु यदि शान्ति की चाह ही न हो या कमजोर हो तो ऐसे में शान्ति को प्राप्त करने का मार्ग कठिन बन जाता है। तब पहला प्रयत्न यह करना होता है कि शान्ति की चाह पैदा की जाये और यह सत्य गले उतारा जाये कि इस विषमताओं से भरे अशान्त विश्व में सच्ची शान्ति ही आन्तरिक उत्थान और आनन्द का कारण बन सकती है।

### शान्ति की चाह जगेगी अशान्ति का हेतु जानने से

अज्ञान का जब तक गाढ़ा परदा आत्म भावों पर पड़ा रहता है, तब तक संसार और संसार में इस आत्मा के कष्टपूर्ण परिभ्रमण का वास्तविक ज्ञान नहीं होता है। मानव जीवन ही ऐसा होता है जिसमें बुद्धि, विवेक आदि शक्तियों की उपलब्धि से यथार्थ आत्मज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। जिन आत्माओं की आध्यात्मिक क्षेत्र में रुचि नहीं होती, उनमें रुचि प्रबुद्ध आत्माओं के सत्प्रयास से जगायी जा सकती है। मानव जीवन की सफलता इसी में है कि भव्य आत्माएँ स्वयं सम्यक् ज्ञान-दर्शन की उपलब्धि प्राप्त करें ताकि वे सम्यक् चारित्र्य की ज्योति जगा सकें और अन्य आत्माओं को इस मार्ग पर चलने की उत्प्रेरणा दे सकें।

शान्ति की चाह जब तक किसी के अन्तःकरण में जगती नहीं और प्रबल नहीं बनती, तब तक वह शान्ति प्राप्त करने के कठिन प्रयास में अपने आपको नियोजित नहीं कर सकता। जहां चाह, वहां राह-यह कहावत इस तथ्य को प्रकट करती है कि किसी भी लक्ष्य को प्राप्त करने की अभिलाषा जितनी प्रबल होगी, लक्ष्य प्राप्त करने के मार्ग का अनुसंधान तथा उस मार्ग पर गतिशील बन जाना भी उतना ही सरल रहेगा। अभिप्राय यह है कि जिन आत्माओं के अन्तःकरण में शान्ति की चाह नहीं है, या वह कमजोर है तो उस चाह को जगाना होगा एवं पुष्ट बनाना होगा ताकि शान्ति प्राप्त करने का प्रयत्न प्रबल बन सके। ऐसा तब अवश्य किया जा सकेगा जब उन्हें अशान्ति का हेतु विस्तार से समझाया जाये और बताया जाये कि उस हेतु को दूर किये बिना शान्ति का अनुभव नहीं हो सकेगा। उन्हें यह भी समझाना होगा कि अशान्त स्थिति की कितनी जटिलताएँ होती हैं तथा उनसे आत्मोन्नति को कितनी क्षति पहुँचती है। उन्हें इस तरह समझाया जाये कि वे वास्तविक रूप में वर्तमान अशान्त वातावरण की पीड़ा को महसूस कर सकें। तभी शान्ति प्राप्त करने का उनका लक्ष्य सजग बन सकेगा।

ज्ञातव्य यह है कि अशान्ति का हेतु क्या है? अशान्ति का हेतु है धर्म विमुखता। तो प्रश्न पैदा होता है कि धर्म क्या है? कई बार विविध दृष्टिकोणों से आप धर्म की व्याख्या समझ चुके हैं, किन्तु सार रूप में स्पष्ट करें तो धर्म की छोटी-सी व्याख्या है। जो स्व का भाव यानी स्वभाव है, वही अपना धर्म है। स्व का भाव समझने में थोड़ा गहरे उतरिये। स्व का विचार करने वाला यह 'स्व' कौन है? अर्थात् आप कौन हैं? इसमें कोई विवाद नहीं कि आप चेतनाशील प्राणी हैं-जीवनधारक हैं। जीवन का लक्षण है चेतना। तो इस संसार में एक और प्रमुख तत्त्व है चेतना तत्त्व। इसके सिवाय जो कुछ दृश्यमान है, वह सब जीवनहीन जड़ तत्त्व है। इस दृष्टि से चेतन के 'स्व' का भाव क्या हुआ? ज्ञान, उपयोग, गति और प्रगति। चेतना के लिये चेतन काम करे-यह उसका स्वभाव, लेकिन अगर चेतन जड़ के पीछे भागे और जड़ की प्राप्ति के लिये अपने जीवन का होम कर दे तो यह उसका स्वभाव नहीं कहलायेगा। स्वभाव में रहे तो शान्ति मिले और अपने स्वभाव को छोड़कर विभाव में भटके तो अशान्ति रहेगी।

तब यही मानना पड़ेगा कि चेतन जब अपना स्वभाव छोड़ देता है और जड़ के पराये भाव में भटक जाता है, तब उसके चारों ओर अशान्ति मंडराने लगती है। यही अशान्ति का हेतु है। इस हेतु को मिटाकर ही शान्ति का लाभ किया जा सकता है।

## अशान्ति का हेतु मिटावें कैसे ?

यह कोई जटिल प्रश्न नहीं है। सही परिप्रेक्ष्य में देखें तो एकदम सीधा प्रश्न है और इसका समाधान भी सीधा है। कल्पना करें कि आपके पांव में कोई कांटा गड़ जाता है तो जब तक उसे बाहर नहीं निकाल लें, क्या आपको चैन पड़ेगा ? यह चैन कांटे सहित क्यों नहीं पड़ता है ? कारण साफ है। कांटा शरीर को सहन नहीं होता है। इसी कारण जब तक कांटा पैर में से निकल न जावे, तब तक शरीर को सहन नहीं है। इसी कारण जब तक कांटा पैर में से निकल न जाये, तब तक शरीर ही नहीं, मन भी अशान्त बना रहता है। इस दृष्टान्त से आप समझ गये होंगे कि उस अशान्ति का हेतु वह कांटा था। हेतु मिटेगा कैसे ? कांटे को पांव में से बाहर निकाल देने पर अशान्ति का हेतु मिट जायेगा। अशान्ति का हेतु मिट जायेगा तो शान्ति भी मिल जायेगी।

सोचिये, जब यह बाहरी शरीर भी अपने भीतर किसी पराये तत्त्व को सहन नहीं कर उसे तुरन्त बाहर निकाल देने के लिये आपको प्रयत्नशील बना देता है, तब आपकी भावपुंज आत्मा भला परतत्त्व को अपने भीतर कैसे सहन कर सकती है ? शरीर का विषय स्थूल होता है, जो आपको जल्दी समझ में आ जाता है, लेकिन आत्मा के सूक्ष्म विषय को समझने के लिये जरा गहरी विचारणा की आवश्यकता होती है।

आपका यानी आपकी आत्मा का स्वभाव है—चेतनाशील, ज्ञानमय और उपयोगपूर्ण। उस स्वभाव में जब आप जड़ तत्त्वों के प्रति लालसा और वितृष्णा का कांटा बो देते हैं, तब आपको घोर अशान्ति के सिवाय क्या मिल सकता है ? किन्तु अपनी दृष्टि के अन्तर्मुखी न होने से आप उस अशान्ति को समझते नहीं, उसके हेतु को जानते नहीं और उस हेतु को मिटाने के लिये प्रयत्नशील भी नहीं हैं ? यही अज्ञान है, जड़ता है, विभाव है और अपने स्वभाव के प्रति विस्मृति है। इसी अज्ञान को पहले मिटाने की जरूरत है, तभी जाकर शान्ति की सफल खोज की जा सकेगी।

चेतन तत्त्व के लिये जड़त्व ही सबसे बड़ा शल्य है और यही अधर्म है। इस शल्य यानी कांटे को बाहर निकाले बिना न तो वर्तमान अशान्ति मिट सकती है और न ही स्थायी व सच्ची शान्ति प्राप्त की जा सकती है। इस कांटे को समझना और इस कांटे को निकालना कोई कठिन काम नहीं, बशर्ते निष्ठा और पुरुषार्थ प्रक्रिया प्रबल बन जाये। अधिकांश मानव अशान्ति का कटु अनुभव करते हैं और शान्ति की चाह रखते हैं। उन्हें यदि अशान्ति का हेतु बता दिया

जाये तथा शान्ति साधना का मर्म समझा दिया जाये तो अधिकांश जन अवश्य ही शान्ति के अनुसंधान में प्रवृत्त हो जाना चाहेंगे।

यह सबका सामान्य अनुभव होता है कि जो जितना अधिक जड़ पदार्थों की मूर्च्छा, ममता और तृष्णा से ग्रस्त होता है, वह उतना ही अशान्त बनता है। यह भी कइयों का अनुभव होता है कि जब किसी भी प्रेरणा से इस मूर्च्छा, ममता और तृष्णा को घटाते हैं तब अशान्ति कम होती है और शान्ति लाभ होने लगता है। निश्चय ही इस कांटे को ज्यों-ज्यों बाहर निकालते जायेंगे, अशान्ति मिटती जायेगी। कांटे को पूरी तरह बाहर निकाल लेंगे तो पूरी अशान्ति मिट जायेगी। अशान्ति मिट जायेगी तो फिर शान्ति-शान्ति की ही अनूठी दस्तक सुनाई देने लगेगी!

शान्ति-साधना मूलतः साधना है—मन से मूर्च्छा, ममता और तृष्णा को मिटा डालने की साधना। इसी साधना को वीतराग देवों द्वारा निर्देशित विधि के अनुसार कार्यान्वित करने की आवश्यकता है। अविधि से यह साधना सफल नहीं हो सकती है। सही विधि होगी, निष्ठापूर्ण साधना बनेगी तभी शान्ति की प्राप्ति हो सकेगी।

### लक्ष्य स्पष्टता संग मन की एकाग्रता

सही विधि के अनुसरण से पूर्व लक्ष्य की स्पष्टता सामने होनी चाहिये क्योंकि लक्ष्य के अनुरूप ही विधि की पालना करनी होगी, तभी मन की एकाग्रता साधी जा सकेगी। शान्ति साधना की सफलता इन्हीं मूल आधारों पर टिकी हुई होती है। लेकिन जब आधार छोड़कर या कि आधारों को न समझ कर कोई शान्ति प्राप्ति की किसी विशृंखल विधि से साधना करने लगता है तो उसे उसके आधारहीन प्रयोगों से शान्ति कैसे मिल सकती है?

पहले आपसे प्रो. भंसाली की चर्चा की जा रही थी। उन्होंने भी शान्ति पाने के कुछ ऐसे ही प्रयोग किये थे। गांधीजी ने उनके होंठों पर जकड़े लोहे के तार खुलवा दिये और शान्ति की अभिलाषा को व्यावहारिक-रीति से पूरी करने की उन्हें सलाह दी। मन की एकाग्रता भी उन्होंने साधी लेकिन अशान्ति के हेतु को वे नहीं खोज पाये। इस कारण उन्हें कठोर प्रयासों के बाद भी शान्ति का अनुभव नहीं हो सका। प्रो. भंसाली ने नीम के पत्ते भी खाने शुरू किये, वे बहुत अशक्त भी हो गये, परन्तु शान्ति की झलक उन्हें नहीं मिली।

मेरी प्रो. भंसाली से तब भेंट हुई थी जब मैं छत्तीसगढ़ प्रान्त में विचरण कर रहा था। उस समय वे लकवाग्रस्त हो गये थे और एक आश्रम में रुके हुए

थे। उन्हें मेरे आगमन का पता चला तो उन्होंने दर्शन की इच्छा व्यक्त की। सूचना मिलने पर मैं उनके स्थान पर गया क्योंकि मैंने भी प्रो. भंशाली के शान्ति प्रयोगों के बारे में सुन रखा था। मैंने वहां पहुंचकर उनसे पूछा कि क्या वे सारे प्रयोग आपने किये हैं, जिनकी मुझे जानकारी मिलती रही थी। उन्होंने सारी बातें बताते हुए कहा कि मैंने इस शरीर को तरह-तरह के सन्ताप दिये हैं, किन्तु मुझे इच्छित शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकी है।

तब मैंने उनसे कहा—शान्ति पाने के लिये आपने सबकुछ किया, किन्तु भेद विज्ञान को जानने तथा अशान्ति के मूल हेतु को समझने का प्रयत्न आपने नहीं किया। यह भेद विज्ञान है कि निर्जीव जड़ पदार्थ चेतनाशील प्राणी के लिये शल्य रूप होते हैं अतः इनके प्रति ममत्व भाव का त्याग करके आत्म शक्ति को जागृत बनाने का ही प्रयास करना चाहिये। आज के लोगों की बुद्धि इन्हीं जड़ तत्त्वों में लगी हुई है, इसलिये उस बुद्धि से शान्ति का अनुभव नहीं लिया जा सकता है। ज्ञानी जन कहते हैं कि जड़ के अन्दर रुचि, गृद्धि और बुद्धि रखने वाला भी जड़ के समान विचार वाला और विवेकहीन बन जाता है। उस दशा में वह न तो भेद विज्ञान व अशान्ति के हेतु को समझ पाता है और न ही शान्ति प्राप्ति के लिये योग्य विधि अपनाकर सम्यक् साधना कर सकता है। जीवन में जब तक जड़ता भरी रहती है, तब तक समुचित परिवर्तन नहीं लाया जा सकता है। आप जानते हैं कि जड़ पदार्थ में योग्य परिवर्तन नहीं होता तो जड़ बुद्धि से ग्रस्त मानव अशान्ति से शान्ति का सुखद परिवर्तन कैसे ला सकता है?

### जीवन बदलिये : शान्ति लाभ कीजिये

जैसे नदी के विनाशकारी मोड़ को तोड़ कर उसको रचनात्मक मोड़ देने के परिवर्तन के लिये कठोर श्रम की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार वर्तमान अशान्त जीवन को शान्ति के मार्ग पर मोड़ने के लिये भी सम्यक् ज्ञान एवं कठोर चारित्र्य की आवश्यकता होती है। तभी जीवन में नया विकासकारी परिवर्तन लाया जा सकता है और सच्ची शान्ति का अनुभव किया जा सकता है। इसके लिये भेद विज्ञान को जानें और शान्ति के हेतु को जानकर उसको मिटाने का सत्प्रयत्न करें, अवश्य ही अशान्ति मिटेगी। सामायिक संवर एवं शान्ति साधना के माध्यम से सच्ची शान्ति अवश्य ही प्राप्त हो सकेगी। चेतन तत्त्व तब स्वभाव में स्थिर होकर धर्ममय बन जायेगा।



## 17

## निज स्वरूप को पहचानें

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

शान्तिनाथ जिनदेव के चरणों में इस प्रार्थना द्वारा निज स्वरूप की स्मृति को स्वस्थ एवं स्पष्ट बनाने के लिये आत्म निवेदन किया गया है। शब्दों के माध्यम से प्रस्तुत स्तुति को आत्मा का अन्तर्नाद भी कह सकते हैं। अन्तर्नाद अभिव्यक्ति जब तक मार्मिक नहीं बन जाती, उसका निज स्वरूप पर परिवर्तनकारी प्रभाव नहीं पड़ता है। कई भोले लोग यह समझ लेकर चलते हैं कि उनकी स्तुति से परमात्मा प्रसन्न होने चाहिये। जब उनको इस तरह का कोई अनुभव नहीं होता तो वे निराश होते हैं कि परमात्मा उन पर प्रसन्न नहीं हुए। इस मानसिकता को सही परिप्रेक्ष्य में समझने की जरूरत रहती है।

परमात्मा तो परम पद को प्राप्त करके सदा-सद के लिये प्रसन्न हो चुके हैं और वे सदा काल अनन्त आनन्द में विचरण करते हैं। वे किसी भी प्राणी के प्रति न राग रखते हैं, न द्वेष, न प्रीति, न वैर। उनके आत्म परिणाम तो ऊँचे-नीचे या चंचल भी नहीं होते। वे तो परम शान्ति के पुंज बन चुके हैं। ऐसे परम एवं शाश्वत शान्तिस्वरूप परमात्मा की प्रार्थना करने से हमारे भीतर का सोया हुआ या अपना प्रभाव खोया हुआ चैतन्य देव जागृत होता है और अपने स्वरूप को देखने एवं पहचानने का सामर्थ्य प्राप्त करता है। परमात्म स्वरूप की स्तुति करके वह अपने स्वरूप के प्रति प्रभावित होता है और यह जानने के लिये उत्सुक बनता है कि क्या परमात्मा के स्वरूप में तथा उसके निज स्वरूप में किसी प्रकार के कोई साम्यता के तत्त्व विद्यमान हैं?

परमात्मा की प्रार्थना के सुर जब प्रार्थना करने वालों अथवा सुनने वालों के भीतर उतरते हैं तो वे आत्मिक स्वरूप को उद्बोधित करते हैं। सोचो और समझो कि दोनों स्वरूपों में समानताएँ और असमानताएँ ही हैं। असमानता मिटाई जाने लायक है एवं उसे मिटाना ही किसी भी प्रार्थी का परम पुरुषार्थ माना गया है।

## शाश्वत शान्ति के लिये चीन्हें निज स्वरूप को

शाश्वत शान्ति की परम अनुभूति की अभिलाषा रखने वाले भव्य जन अपने आत्मस्वरूप को परमात्म-स्वरूप के समकक्ष ले जाने का प्रयत्न करते हैं। यह प्रयत्न होता है प्राथमिक तौर पर अपने निज स्वरूप को चीन्हने का, पहचानने का। निज स्वरूप की वास्तविक पहचान ही मानव को प्रेरित करती है कि वह अपने वर्तमान स्वरूप को इस विधि से संशोधित करके निर्मलता की आत्यन्तिकता को प्राप्त करते हुए अन्ततोगत्वा परमात्म स्वरूप का सदा काल के लिये वरण कर ले।

मानव देहधारी प्राणियों की संख्या अपार है। बाह्य देह दृष्टि से सभी मानवों में पर्याप्त रूप से समानता भी दृष्टिगत होती है। किन्तु सभी में भावों एवं विचारों की समानता हो अथवा प्रेरणा और पुरुषार्थ की समानता हो-जरूरी नहीं है। एक माता-पिता से उत्पन्न हुए पांच भाई भी समान भावनाओं तथा विचारों के वाहक नहीं होते। भावनाओं और विचारों की समानता तथा उत्कृष्टता प्राप्त नहीं होती, अपितु प्रयास और पुरुषार्थ से प्राप्त की जाती है। इस हेतु आवश्यक अन्तरावलोकन एवं सम्यक् साधना की अपेक्षा रहती है।

जब निज स्वरूप को पहचानने की वृत्ति तथा उसे निर्मलतर बनाते रहने की प्रवृत्ति सजग होती है तो भावनाओं एवं विचारों की सुखद साम्यता की दिशा खुलने लगती है। उनके क्रियाकलापों में भी सुन्दर सामंजस्य का उदय होता है। किन्तु आज अधिकांशतः निज स्वरूप के अवलोकन की वृत्ति का ही अभाव है। इस वृत्ति के सजग न होने के कारण प्रवृत्तियों की दिशा उन्नति कारक नहीं बन पाती है। वे निज स्वरूप से विस्मृत बन कर पराये तत्त्वों के स्वरूप में भटकते रहते हैं और बेचैन अशान्ति के बहाव में बहते रहते हैं। वे ध्यान ही नहीं दे पाते हैं कि उनके जीवन में यह अशान्ति की उग्र लहरें क्यों और कहां से आ रही है?

ऐसे भ्रमित चित्त में ऐसी अशान्ति के बारे में कोई विचार भी उठता है तो वह यह कि उसको अशान्ति देने वाले उसी के साथ या कि पास पड़ोस में रहने वाले लोग ही हैं। अशान्त चित्त मानव उन लोगों को ही अपनी अशान्ति के लिये आरोपित करता है। इस प्रकार वह अपनी अशान्ति के दायरे को अधिक बढ़ा लेता है। वह सोचता है कि लोग उसे शान्ति के साथ नहीं रहने देते हैं, इसलिये वह प्रतिकार स्वरूप उन्हीं लोगों को अशान्त करने की चेष्टा करता है। वह यह चिन्तन नहीं करता कि उसके जीवन में अशान्ति की जो ज्वालाएँ धधक रही हैं, वहीं से जलाने योग्य सामग्री निकल रही है और वही उसके भीतर-बाहर को

अशान्त बना रही है। वह निज स्वरूप की सुषुप्ति का और उससे उपजने वाली अशान्ति का मूल हेतु नहीं जानता इसलिए निज स्वरूप को पहचान कर अपने अन्तःकरण स्रोत से शान्ति को प्रस्फुटित करने का प्रयास भी नहीं करता है।

### मानव स्वयं अपने जीवन का नियन्ता होता है

भगवान् महावीर का लोकप्रिय, प्रगतिशील सन्देश है कि मानव स्वयं ही अपने जीवन का नियन्ता होता है। उसकी शान्ति को न कोई और देने वाला है और न ही किसी अन्य द्वारा उसे अशान्ति मिल सकती है। यह उसी पर निर्भर होता है कि उसे शान्ति मिले या अशान्ति। प्रत्येक कार्य का कर्ता वही होता है। जो भीतर शान्ति का अनुभव करता है, वह अपने आस-पास भी शान्ति उपजाता है और शान्ति के आनन्द में आत्म विभोर बना रहता है। इसके विपरीत भीतर अशान्ति की कुदाल थामें बैठा मानव बाहर की जमीन पर अशान्ति के कंटक बीज बिखेरता है। नतीजा, अशान्ति की विक्षुब्धता ही चारों ओर फैलती है। शान्त रहो, शान्ति दो तो शान्ति मिलेगी। वैसे शान्त चित्त वाला मानव बाहर की अशान्ति से अप्रभावित रहता है, बल्कि उस नीरस अशान्ति में भी शान्ति की रसधार बहाता है। मूल बात यही है कि ऐसी सुखदायी शान्ति का धारक वही मानव हो सकता है जो निज स्वरूप को पहचान कर शान्ति का महत्त्व और मर्म समझ जाता है।

शान्ति का अनुभव अथवा अशान्ति का अनुभव, इस दृष्टि से फलित अनुभव मानव का अपने ही कार्य का फल होता है। जो व्यक्ति जैसा कार्य करता है, वैसा ही उसको फल मिलता है। अपने किये हुए कार्य का फल उसे भोगना ही पड़ता है। इसलिये कोई भी कार्य करते समय यह विवेक जरूरी होता है कि उस कार्य का प्रभाव शुभ होगा अथवा अशुभ! दूसरों को सुख-शान्ति देने वाला होगा अथवा दुःख और अशान्ति देने वाला। यदि कार्य करते समय ऐसा विवेक जागृत रहे तो शुभ कार्य ही अधिक होंगे फलस्वरूप शान्ति का ही अधिक अनुभव होगा। अविवेकपूर्ण रीति से जो दूसरों को अशान्त करने की चेष्टा करता है, बारीकी से देखें तो पहले वह स्वयं ही अशान्त बनता है—प्रतिकार की दुर्भावना से पीड़ित होता है और दूसरों को अशान्त बनाने का कार्य करता है। जरूरी नहीं कि सामने वाले अशान्त बन ही जायें! यदि उनके पास विवेक होगा तो अशान्ति के प्रयासों के बावजूद वे अपने आपको अशान्त नहीं बनायेंगे। इस तरह अपने अशुभ कार्य का प्रभाव अशुभता के रूप में स्वयं को ही भोगना पड़ेगा।

शान्ति पाने के लिए मानव को अपनी आत्म रचनाशक्ति का मूल्यांकन करना होगा। यह मूल्यांकन निज स्वरूप को पहचान लेने के बाद ही संभव होता है। तभी उसे इस तथ्य का ज्ञान होता है कि वह उस शक्ति से किस-किस प्रकार का पुरुषार्थ सफल बना सकता है। अपने भावों की शुभता और अशुभता का ज्ञान भी उसको तब होता है। उस ज्ञान को सम्यक् बना कर वह आत्मा एवं लोक कल्याण के मार्ग पर उन्नति कर सकता है।

### क्या है निज स्वरूप, कैसी होती आत्मा!

मानव दृष्टि जब बाहर से भीतर की ओर मुड़ती है, तब अनुभव होता है कि वह मात्र शरीर नहीं है। मृत्यु के तत्काल बाद शरीर तो वैसा ही रहता है किन्तु जीवन चला जाता है। वह जो चला जाता है, आखिर है क्या? वही तो मुख्य तत्त्व होना चाहिये इस जीवन का। वस्तुतः वही मुख्य तत्त्व आत्मा है, जो अमर है—कभी मरती नहीं है। मरता है केवल उसका धारण किया हुआ शरीर, जिसे आत्मा अपने कर्मानुसार नये-नये रूपों में प्राप्त करती रहती है। यह जो आत्मा है वही मानव का “मैं” है तथा आत्मा का स्वरूप भी! इसे ही निज स्वरूप की संज्ञा दी गई है। अतः निज स्वरूप को पहचानने से अभिप्राय है कि मानव अपनी आत्मा को जाने, अपने आपको जाने! इतना ही नहीं, अपने आत्म ज्ञान के संदर्भ में ही सम्पूर्ण विश्व को जाने एवं तदनु रूप समग्र जीवन का निर्माण करे।

संसार जड़ और चेतन दो तत्त्वों से बना है। इसमें जो नाना प्रकार के दृश्य, कृत्य, उत्थान, पतन एवं परिवर्तन दिखाई देते हैं, उनके मूल में इन्हीं तत्त्वों के संगम का खेल है। जड़ निष्क्रिय है एवं चेतन सदा सक्रिय। बाहर से जड़ की जो सक्रियता दिखाई देती है, उसका कारण चेतन की सक्रियता है। यह संसार अपनी सम्पूर्ण रचना में चेतन की सक्रियता को ही प्रदर्शित करता है, जो जड़ से संयुक्त होकर सम्पूर्ण बाह्य वातावरण का रचयिता होता है। संसार के संचालन की धुरी यही चेतन है जो प्रत्येक प्राणी का प्रवर्तक है, लक्षण है। यह चेतन एक शक्ति है जो आत्मा का आभूषण है।

प्रत्येक मानव की आत्मा चेतना शक्ति से संयुक्त होती है। आत्मा की परिभाषा स्थानांग सूत्र में इस प्रकार दी गई है कि जो निरन्तर ज्ञान आदि के पर्यायों को प्राप्त होती है, वह आत्मा है। सब जीवों का उपयोग या चैतन्य रूप लक्षण एक है। आचारांग सूत्र में आत्मवादी उसको कहा गया है जो नरक, तिर्यच, मनुष्य देवगति आदि भाव दशाओं तथा पूर्व पश्चिम आदि द्रव्य दिशाओं में आने जाने वाले अक्षणिक, अमूर्त, आदि स्वरूप वाली आत्मा

को मानता है। एक आत्मवादी आत्मा के अस्तित्व को सदा स्वीकार करता है, मान्य करता है एवं तदनु रूप अपने कर्तव्याकर्तव्यों का निर्धारण करता है। जो उक्त स्वरूप वाली आत्मा को नहीं मानते, उन्हें अनात्मवादी कहा गया है। सर्वव्यापी, एकान्तनित्य या क्षणिक स्वरूपी आत्मा को मानने वाले भी अनात्मवादी ही हैं, क्योंकि सर्वव्यापी, नित्य या क्षणिक आत्मा मानने पर उसका पुनर्जन्म संभव नहीं है।

यों स्वरूप की गति, विगति या प्रगति के अनुसार आत्मा तीन प्रकार की कही गई है—1. बहिरात्मा—सम्यक् ज्ञान के अभाव में शरीर आदि बाह्य जड़ पदार्थों के मोह में ग्रस्त अज्ञानी आत्मा जो अपने आपको परतत्त्वों से जुड़ी हुई ही मानती है, उनसे भिन्न नहीं। 2. अन्तरात्मा—जो बाह्य भावों से पृथक् होकर शरीर से भिन्न अपने शुद्ध ज्ञान स्वरूप में निश्चय विश्वास रखती है, वह अन्तर्जागृत आत्मा। 3. परमात्मा—आत्मा के साथ संलग्न जड़ रूप सकल कर्मों का नाश करके अपने परम शुद्ध ज्ञान स्वरूप को प्राप्त कर लेने वाली वीतराग, कृतकृत्य एवं शुद्धात्मा।

प्रकारान्तर से आत्मा के आठ भेद कहे गये हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में आत्मा का लक्षण कहा गया है—उपयोगो लक्षणम् अर्थात् आत्मा का स्वरूप उपयोग है। उपयोग का अर्थ होता है बोध यानी ज्ञान का निरन्तर संचरण। उपयोग आत्मा का सामान्य गुण होता है किन्तु विशिष्ट गुणों की दृष्टि से आत्मा के ये आठ भेद हैं—1. द्रव्यात्मा—त्रिकालवर्ती द्रव्य स्वरूप के कारण। 2. कषायात्मा—क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायों की दृष्टि से। 3. योगात्मा—मन, वचन, काया के व्यापार की योग प्रधानता से। 4. उपयोगात्मा—ज्ञान और दर्शन रूप विशेष उपयोग के कारण। 5. ज्ञानात्मा—विशेष अनुभव रूप सम्यक् ज्ञान से। 6. दर्शनात्मा—सामान्य अवबोध रूप दर्शन की विशिष्टता से। 7. चारित्रात्मा—चारित्र गुण की विशिष्टता से और 8. वीर्यात्मा—उत्थान आदि रूप कारणों की विशेषता से। ये सब आत्मा के लाक्षणिक भेद हैं। मूल स्वरूप से सभी आत्माओं में साम्यता होती है।

### आत्मा के स्वरूप का शास्त्रीय विवेचन

उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है कि आत्मा का स्वरूप अमूर्त होने से इन्द्रियों द्वारा उसका अनुभव नहीं किया जा सकता। अमूर्त होने से ही आत्मा नित्य है। आत्मा जड़ तत्त्वों से सम्बद्ध हो संसार में परिभ्रमण करती है, क्योंकि वह अज्ञान के वशीभूत होकर मोह और मिथ्यात्व में डूबी हुई रहती है।

आत्मा के लक्षण हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य तथा उपयोग।

जो आत्मा है, वह विज्ञाता (ज्ञानवान) है और जो विज्ञाता है, वह आत्मा है। जिस ज्ञान द्वारा जाना जाता है, वही आत्मा है। ज्ञान की विशिष्ट परिणति की अपेक्षा से आत्मा भी ज्ञान ही के नाम से जानी जाती है। इस प्रकार ज्ञान और आत्मा की एकता को जानने वाला ही आत्मवादी कहलाता है और सम्यक् इस एकता का विशेषण होना चाहिये।

कार्य एवं फलभोग की शुभता तथा अशुभता की दृष्टि से आत्मा ही स्वर्ग की कामधेनु तथा नन्दन वन की उपमाओं से विभूषित की गई है। आत्मा को ही नरक की वैतरणी नदी व कूट शाल्मली वृक्ष का नाम दिया गया है। जब आत्मा शुभ एवं श्रेष्ठ अनुष्ठान में निरत बनती है तो वह सुख देने वाली तथा दुःख दूर करने वाली होती है। उसे शुभ उपमाओं से अलंकृत किया जाता है। दुराचार में प्रवृत्त होने पर यही आत्मा दुःख देने वाली और सुखों को छीनने वाली कही जाती है। सद्गुणानरत आत्मा स्वपरोपकारी होने से मित्र रूप मानी जाती है तो दुराचार-प्रवृत्त आत्मा को अपकारी होने से शत्रु-सम कहा गया है। इस प्रकार अपनी आत्मा ही अपने लिये सुख देने वाली भी हो सकती है तो दुःख देने वाली भी। अतः आत्मा ही अपने लिये मित्र रूप भी है तथा शत्रु रूप भी है। इसी आधार पर पुरुषार्थरत पुरुष को सम्बोधित किया गया है कि तू सद्गुणान में रत रह ताकि तेरी आत्मा ही तेरी सच्ची मित्र सिद्ध हो सके और बाहर कहीं किसी मित्र की खोज करने की आवश्यकता न रहे।

इसी प्रकार दुष्ट प्रवृत्तियों में लगी रहने वाली आत्मा को उसी की परम शत्रु कहा गया है। यहां तक कह दिया गया है कि सिर काटने वाला शत्रु भी उतना अपकार नहीं करता जितना अपना ही अपकार दुराचार में लगी हुई आत्मा करती है। ऐसी आत्मा दुराचार करते समय तो विचार एवं विवेक शून्य रहती है लेकिन जब जीवनान्त का समय आता है तो वैसी आत्मा के पश्चात्ताप की सीमा नहीं रहती।

शास्त्रों में इस रूप में आत्मस्वरूप की जो विवेचना की गई है, उसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक मानव अपने प्राप्त सुख-दुःख अथवा अपनी गति-विगति का मूल अपने ही भीतर खोजे, वह अवश्यमेव उसकी आत्मा में ही मिलेगा। अपने किसी भी कार्य या फल का कारण दूसरों पर थोपना या उससे विक्षुब्ध होकर घात-प्रतिघात की चालें चलना मात्र अज्ञान है, जिसके कारण अपना और दूसरों का दुःख बढ़ता है—अशान्ति फैलती है।

निज स्वरूप को पहचानने का रहस्य इसी तथ्य में है कि विवेकशील मानव अपनी परिस्थितियों का दायित्व अपने ही ऊपर ले और यह मानकर चले कि उन परिस्थितियों का मूल हेतु उसके अपने ही विगत अथवा वर्तमान कार्यों में रहा हुआ है। यदि परिस्थितियाँ अनुकूल व सुखद हैं तो अपनी आत्मा के वैसे सत्कार्यों को बढ़ावा दिया जाना चाहिये। परिस्थितियाँ प्रतिकूल और दुःखद हैं तो उसके कारणों को भी अपने ही कृत्यों में ढूँढ़ कर मिटा देने का प्रयास किया जाना चाहिये। आत्मा स्वयं ही कर्ता है, भोक्ता है, नियन्ता है और अपने शुभाशुभ कार्यों से स्वयं की मित्र भी है और शत्रु भी है। विचार आत्मा को अपनी जिम्मेदारी मानना और जिम्मेदारी लेकर उसे पूरी करना सिखाता है।

### निज स्वरूप को पहचान कर आत्म नियंत्रित बनिये

आत्मस्वरूप को जानने का अर्थ है निज स्वरूप को जानना। निज स्वरूप को पहचान कर ही अपने दायित्व का बोध लिया जा सकता है तथा प्रत्येक वृत्ति एवं प्रवृत्ति को शुभ दायित्वपूर्ण बनाया जा सकता है। इसके लिये मानवीय सद्गुणों को आत्मसात् करते हुए अपने जीवन में आत्म नियंत्रित होने की अपेक्षा है।

आत्मा अपने पर ही नियंत्रण कैसे प्राप्त करे—यह समस्या सरल नहीं होती है। अपने पर अपना ही नियंत्रण स्थापित करना कठिन है, क्योंकि इन्द्रियों के वस्तु विषयों के आकर्षण में आत्मा बार-बार पटरी से नीचे उतर जाती है। अनियंत्रित आत्मा को सदा दूसरों से खतरा बना रहता है और स्वयं के दुष्कर्मों का अशुभ फल रूप खतरा भी उस पर मंडराता रहता है। इन खतरों से निर्भय बनने का उपाय ही नियंत्रण है जो संयम और तप के आचरण से प्राप्त किया जा सकता है। आत्मा को काम भोगों तथा कषायों की ओर भागने-भटकने से जितना नियंत्रित किया जा सकेगा, उतना ही उसे पीड़ा से बचाया जा सकेगा।

संयम और तप के आचरण का अभिप्राय यही है कि आत्मा ऐन्द्रिक सुखों की मृगतृष्णा में न भटके और इसके लिये मन तथा इन्द्रियों का निरोध किया जाये कि वे विषयों और कषायों के चक्र में न फंसे। मन और इन्द्रियों पर संयम तप द्वारा नियंत्रण से आत्म-स्वरूप की सुरक्षा होती है। आत्मा समर्थ और योग्य बनती है तो जीवन पर उसी का अनुशासन चलता है जिसे आत्मानुशासन कहते हैं। निज स्वरूप को पहचानने तथा संयम व तप का आचरण करने की परिणति ही आत्मानुशासन की उपलब्धि में होती है। जो आत्मानुशासित बन जाता है, वह अविचल शान्ति को प्राप्त होता है।

## स्वरूप चिन्तन से स्वरूप उन्नयन की प्रेरणा

निज स्वरूप को पहचान कर जब परमात्म स्वरूप का चिन्तन किया जाता है तो उससे निज स्वरूप उन्नयन की प्रबल प्रेरणा मिलती है। कारण, स्वरूप तुलना से परमात्म स्वरूप की उत्कृष्टता तथा निज स्वरूप की निकृष्टता का सम्यक् बोध होता है। अभिलाषा जागती है कि क्यों नहीं ऐसा कठोर पुरुषार्थ किया जाये जिसके फलस्वरूप निज स्वरूप भी परिमार्जित एवं संशोधित होकर परमात्म स्वरूप के समीप पहुंचता जाये! इसी चिन्तन में आत्मोत्थान की लगन लगती है और शान्ति की चाह भी बलवती बनती है।

अधिकांश जन अशान्ति के झूले में झूलते हुए भी चाहते हैं कि उन्हें शान्ति मिले। किन्तु इस भेद विज्ञान को जाने बगैर मानव को शान्ति नहीं मिल सकती है कि वह अशान्ति के कारणों को अपने ही भीतर खोजे, उन्हें दूर करे तथा भीतर से ही शान्ति का उद्भव करे। इस सारी प्रक्रिया के लिये उसे समय निकालना होगा। विधि पूर्वक निरन्तर अभ्यास करना होगा तथा अपने जीवन में आत्म नियंत्रण लाना होगा। एक सामायिक का काल भी शान्ति साधना के लिये पर्याप्त हो सकता है बशर्ते कि वह साधना विधि पूर्वक, विवेक और वैचारिकता के साथ की जाये। इस सामायिक काल में गहराई से चिन्तन किया जाना चाहिये कि मेरा मेरे ही शरीर के साथ क्या सम्बन्ध है, मेरे आत्म विकास में भौतिक पदार्थ, सम्पत्ति आदि, बाहरी पद अधिकार आदि एवं बाहर की जड़ प्रवृत्तियाँ साधक हैं अथवा बाधक? मानवीय मूल्यों का मान बढ़ाकर स्व-पर कल्याण किस तरह साधा जा सकता है? यह चिन्तन जितना गहरा बनेगा, उतनी ही मन की भ्रान्तियाँ दूर होती जायेंगी तथा सम्यक् ज्ञान का प्रकाश फैलता जायेगा। प्रकाश में स्पष्ट होगी श्रद्धा की अटूट भावनाएँ तथा सत्चरित्र के पुरुषार्थ की अथक निष्ठा। जब सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की भूमिका पुष्ट बन जायेगी तो फिर निज स्वरूप के उन्नयन का मार्ग स्वयमेव ही निष्कंटक एवं निर्बाध हो जायेगा।

तब निज स्वरूप से सम्बन्धित यह दशा स्पष्ट हो जायेगी कि उस पर मलिनता के जो गहरे आवरण चढ़े हैं, वे पूर्वकृत कर्मों के हैं। जब विवेक के अभाव में आत्म नियंत्रित अवस्था नहीं रहती है तब कर्मबंध का सिलसिला जारी रहता है। इसलिये जितना जड़ पदार्थों के अधीन होना है, उतना कर्मबंध के मैल को निज स्वरूप पर चढ़ाते रहना ही है। हां, इस मैल को संयम एवं तप के पराक्रम से दूर किया जाता रहे तो कर्मावरण भी पतले पड़ते जायेंगे तथा धीरे-धीरे निज स्वरूप की निर्मलता निखरती चली जायेगी। इसी प्रक्रिया में यह



तथ्य भी स्पष्ट हो जायेगा कि शरीर का मोह ही कर्मबंध का कारण बनता है। इसका परिणाम होगा कि इस शरीर को धर्माचरण का साधन बनाने का पराक्रमी कार्य किया जा सकेगा। आत्मा और शरीर के पृथक्त्व का अनुमान शरीर के कल्याण कारी स्वरूप को सक्रिय बना देगा। इस प्रकार यह भेद विज्ञान भी निज स्वरूप के उन्नयन का कारण बन जायेगा।

### आत्म जागृति से ही चतुर्मुखी उन्नति!

परमात्मा की स्तुति के माध्यम से निज स्वरूप के सम्बन्ध में चिन्तन जितना अनवरत चलेगा, उतनी ही आत्म जागृति मन और इन्द्रियों पर आत्मानुशासन कायम करेगी, जीवन को सर्व कल्याणकारी बनाएगी! आत्म-जागृति से ही शाश्वत शान्ति की दिशा में आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा मिलती है क्योंकि स्पष्ट धारणा बन जाती है कि नश्वर शरीर के कारण अशान्ति पैदा करने वाली वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों में नहीं उलझना चाहिये। इस प्रकार के चिन्तन में जब प्रतिदिन एक सामायिक काल में भी बैठा जायेगा तो आत्म जागृति की किरणें चमकने लगेंगी तथा मन-मस्तिष्क से मोहग्रस्त बनाने वाली विचारधाराएँ मिटने लगेंगी। तब भीतर और बाहर एक सतत शान्ति का आविर्भाव होने लगेगा।

यह ध्यान में अवश्य रखा जाना चाहिये कि कोई भी कार्य उसके लिये निर्देशित विधि की सहायता से ही सम्पन्न किया जा सकता है। जब तक मन-मस्तिष्क में शरीर, परिवार, सत्ता, सम्पत्ति आदि के बारे में मोह मूर्च्छा युक्त विचार भरे रहते हैं, तब तक कल्याणकारी विचारों का प्रवेश कठिन बना रहता है। इस कारण विधि सम्मत उपायों से पहले राग और द्वेष के विचारों को अन्तःकरण से अलग करना होगा। ऐसा सतत आत्म चिन्तन द्वारा ही किया जा सकता है। ऐसा आत्म चिन्तन एकान्त-शान्त स्थान या धर्मस्थान से प्रारंभ किया जा सकता है। उसको पुष्ट बनाकर फिर निरन्तर आत्म चिन्तन की धारा को प्रवाहित बनाये रखा जा सकता है, ताकि जीवन का प्रत्येक विचार और व्यवहार उस पवित्र आत्म चिन्तन से प्रस्फुटित हो समूचे वातावरण में छा जाये!

आत्म चिन्तन से आत्म जागृति तथा आत्म जागृति से चहुंमुखी उन्नति—यह स्वाभाविक प्रक्रिया बन जाती है। यह प्रक्रिया ही स्थायी एवं सच्ची शान्ति की संवाहक बनती है। एक पुरुष एक साधु के पास पहुँचा और कहने लगा, आप शान्ति की बात करते हैं, किन्तु अपनी तरह-तरह की जिम्मेदारियों के साथ एक गृहस्थ कैसे शान्ति प्राप्त कर सकता है? हर समस्या में उसे अशान्ति का ही सामना करना पड़ता है। साधु ने उत्तर दिया—अशान्ति मोह,

विषय, कषाय, संयोग, वियोग आदि स्थितियों में ग्रस्तता रखने से पैदा होती है। इन्हीं स्थितियों में कार्य करते हुए भी तटस्थता की वृत्ति अपनायी जाये तो अशान्ति के स्थान पर शान्ति का अनुभव किया जा सकता है। शान्ति और अशान्ति विचार दशाएँ होती हैं अतः विचारों में से अशान्ति के हेतु राग-द्वेष, मद-मत्सर, क्रोध, काम, लोभ, माया आदि को निकाल दिया जाये तो फिर वह अशान्ति टिकेगी किस पर? अशान्ति जायेगी तो सद्गुणों के प्रवेश के साथ शान्ति का ही तो आगमन होगा। एक शान्त पुरुष की चहुंमुखी उन्नति में तब कोई भी शक्ति बाधा खड़ी नहीं कर सकती।

### निज स्वरूप में स्थितता ही स्वस्थता!

शान्ति लाभ के साथ ही एक साधक पुरुष निज स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। निज स्वरूप में स्थित होने को ही स्वस्थ होना कहते हैं—स्व में स्थित हो जाना।

स्वस्थ पुरुष कभी विकारयुक्त विचारों के चक्र में नहीं फंसता। वह स्वयं ही शान्त नहीं रहता अपितु अशान्ति के अंधड़ों से कड़ी टक्कर लेकर सर्वत्र शान्ति की स्थापना भी करता है। समझिये कि आपकी पत्नी ने आपके साथ ऐसा बर्ताव किया जिसे उचित नहीं मान सकते। अब उस पर आप क्रोध करें तो आप खुद ही अशान्त बन जाएंगे तथा पत्नी की अशान्ति को भी ज्यादा भड़का देंगे। इसकी बजाय आप यह चिन्तन करें कि पत्नी का क्रोध आपके ही किसी पूर्वकृत कर्मोदय के कारण भड़का होगा। इस चिन्तन से आप के मन में सहनशीलता का भाव जाग जायेगा। आप यह भी सोचेंगे कि अब नया कर्मबंध न हो अतः प्रति-व्यवहार शान्ति व्यवहार से पत्नी का क्रोध भी शान्त हो जायेगा और वह भी पश्चाताप करके प्रायश्चित्त कर लेगी। इस प्रकार उसका भी नवीन कर्मबंध रुक जायेगा। ऐसे शान्तिपूर्ण व्यवहार से एक कर्कशा या झगड़ालू पत्नी भी सहनशील और शान्त बन सकेगी।

स्वस्थता ही समता दर्शन है, क्योंकि एक स्वस्थ पुरुष ही विषमताओं से ऊपर उठ समतामय बन सकता है। समता की रसधारा में शान्ति का संचार रचा-बसा है। परिवार में शान्ति स्थापित होगी तो उसका विस्तार समाज में होगा तथा समाज से राष्ट्र और विश्व में भी शान्ति का प्रसार अवश्य होगा। एक व्यक्ति ने अपने साथियों से कहा कि बाजार में जाकर नारियल ले आओ। नारियल का खोपरा अखंड बाहर निकालना है—इस दृष्टि से खोज कर लाना। साथियों ने कई नारियल देख डाले और फोड़ डाले लेकिन उनमें से अखंड खोपरा नहीं

निकला। तब उस व्यक्ति ने सुझाया कि नारियल को हाथ में लो और फिर उसे बजाओ। जिसमें पानी की आवाज आवे, उसे छोड़ दो। जिसमें गड़गड़ाने की आवाज आवे उसे फोड़ लेना तो उसमें से अखंड खोपरा निकल आयेगा। जरा सोचिये कि आप सन्तों के पास जाते हैं और शान्ति का स्वरूप समझना चाहते हैं। किन्तु जब तक आपकी आत्मा के साथ मोह-मूर्च्छा की जड़ता जुड़ी रहती है तब तक शान्ति का अनुभव कैसे हो सकता है? जब उस सूखे हुए नारियल की तरह आत्मा नश्वर शरीर आदि के मोह को तोड़कर धर्ममय बन जाती है तभी वह अखंड खोपरे के रूप में बाहर आ सकती है, जड़ग्रस्तता के आवरण से मुक्त हो सकती है। अन्यथा अशान्ति से छुटकारा पा लेना असंभव है।

शान्ति जीवन का मूलभूत अंग है। इसे प्राप्त करने में जीवन का पुरुषार्थ अवश्य लगाया जाना चाहिये। इसलिये सामायिक की साधना नियमित कीजिये, भेद विज्ञान को जानिये एवं निज स्वरूप पहचानिये ताकि जीवन में शान्ति का लाभ हो तथा निज स्वरूप में अवस्थिति बने। जैसे हंस अपनी कलात्मक चोंच से दूध का दूध और पानी का पानी कर देता है, वैसे आप अशान्ति को पृथक् कर दें तथा शान्ति का स्थायी रूप से वरण कर लें। प्रयत्न और पुरुषार्थ से शान्ति अवश्य मिल सकती है—यह आत्म विश्वास बनाये रखें!

दिनांक 17.09.1986

(जलगांव)

## 18

## सार्थक कष्टें मानव जीवन

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

इस धर्मस्थान पर आप सभी का एकत्रित होना सूचित करता है कि यहां कोई न कोई विशेष प्रयोजन है। बिना किसी प्रयोजन के कोई व्यक्ति किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति नहीं करता है। कमजोर समझ रखने वाला व्यक्ति भी किसी कार्य में प्रवृत्ति करने से पहले जानना चाहता है कि अमुक प्रवृत्ति क्यों की जाये?

सोचिये, यहां क्या विशेष प्रयोजन हो सकता है? यहां पर सब क्यों उपस्थित हुए हैं? आप जानते हैं कि जो कार्य जिस स्थान पर होता हो, उस कार्य के लिये उस स्थान पर जाना होता है। बीमार का इलाज कराना हो तो अस्पताल, कोई खरीद फरोख्त करनी हो तो लोग बाजार जाते हैं। उसी प्रकार धर्मस्थान पर आने का प्रयोजन भी यहां से सम्बन्धित कार्य प्रवृत्ति के लिये ही हो सकता है। कोई जन अस्पताल में शरीर की चिकित्सा कराने जाते हैं तो आप जैसे-धर्मानुरागी यहां धर्मस्थान पर मन की चिकित्सा के लिये आते हैं, आत्मस्वरूप की पहचान पाने के लिये आते हैं। इस मानव जीवन को सार्थक बनाने का मार्गदर्शन पाना ही यहां आने का विशेष प्रयोजन माना जाना चाहिये।

संसार में यह मानव जीवन ही सर्वश्रेष्ठ एवं सामर्थ्यपूर्ण है। इसी कारण इस जीवन को अमूल्य एवं दुर्लभ कहा गया है। यह अमूल्य जीवन निरर्थक व्यतीत न हो, इसी हेतु से सुज्ञ पुरुष बार-बार चेतावनी देते हैं कि कुछ ऐसा कार्य करो, कि यह जीवन सार्थक हो जाये!

### मानव तन और जीवन का महत्त्व

अमोल मानव जीवन का महत्त्व दो प्रकार से आंका जाता है। एक तो इसी जीवन में ऐसी विकसित बुद्धि और भावना की उपलब्धि होती है, जैसी किसी

अन्य जीवन में नहीं होती। इस बुद्धि और भावना का सम्यक् रीति से विकास किया जाये तो आत्मा परमात्मा के स्वरूप में प्रतिष्ठित हो सकती है। दूसरे, मानव तन की विशेषताएँ भी कम नहीं। इसी तन की योग्यता और समर्थता होती है कि उच्चतम साधना भी सफलता पूर्वक सम्पन्न की जा सके। तभी कहा गया है भरपूर सुख समृद्धि की सुलभता वाले देव भी मानव तन पाने के लिये लालायित रहते हैं। इसी तन और जीवन की ही योग्यता कही गई है कि इसे पाकर भव्य आत्मा अरिहंत बन सकती है और सिद्ध गति प्राप्त कर सकती है।

मानव तन में महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं। इन तत्त्वों का ज्ञान एवं परीक्षण किया जाये तथा सम्यक् प्रयोग किया जाये तो मानव सबकुछ भूलकर इस दिशा में बढ़ जायेगा। तन का स्नायु तंत्र, नाड़ी केन्द्र और इसकी रंध्र स्थिति योग साधकों द्वारा सराही गई है। योगाभ्यास में जब इनका परीक्षण एवं प्रयोग किया जाता है, तब आश्चर्यजनक परिणाम सामने आते हैं। इनसे भी बढ़कर इस तन में ऐसे सूक्ष्म तत्त्व का निवास है जिसे बाहर के चर्म चक्षुओं से प्रत्यक्ष रूप से देखा नहीं जा सकता, किन्तु उसके अस्तित्व एवं कार्य का इस जीवन में प्रतिपल अनुभव अवश्य होता है। अनुभव के आधार पर ही उस तत्त्व का ज्ञान किया जा सकता है।

यह विचारणीय है कि मानव तन किन-किन कार्यों को कर रहा है? ऐसे कार्य करके वह साधारण जनता को आश्चर्य चकित भी करता है जो सामान्य मानव की पहुँच में नहीं होते हैं। ऐसे-ऐसे आविष्कार और अनुसंधान आज के मानव ने किये हैं, जिनकी पूर्व काल में कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। विज्ञान की अपूर्व प्रगति ने दूरी पर विजय प्राप्त कर ली है और ऐसे-ऐसे उपकरणों का निर्माण कर लिया है जिनके द्वारा संसार के सभी लोगों के बीच निकट का सम्पर्क बन गया है। वैज्ञानिक साधनों में मानवीय बुद्धि का चमत्कार ही प्रकट हुआ है। टेलीफोन के माध्यम से जैसे हजारों मील की दूरी से भी प्रत्यक्ष वार्तालाप किया जा सकता है तो टेलीविजन के माध्यम से हजारों मील दूरी के दृश्य तदनु रूप प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं। यह सब प्रत्यक्ष देख-सुनकर सामान्य जन आश्चर्य करता है और वैज्ञानिक प्रगति की प्रशंसा करता है।

किन्तु प्रशंसा करते हुए वह यह भूल जाता है कि असल में उसको किसकी प्रशंसा करनी चाहिये? विज्ञान का कोई नया आविष्कार या अनुसंधान करने वाला गौरव के साथ जब यह कहता है कि अमुक आविष्कार या अनुसंधान मैंने किया है तो यह “मैं” कौन है? क्या वास्तव में यह “मैं” ही सारी प्रशंसा का पात्र नहीं है? सारी वैज्ञानिक प्रगति का कर्ता यह “मैं” ही तो है। सारी वैज्ञानिक प्रगति

की सराहना करना किन्तु उसके कर्ता को ही नहीं पहचानना कितना विचित्र-सा है? यदि कर्ता की ही उपेक्षा की जाये और उसके कार्यों की सराहना, तो क्या यह समीचीन होगा? यदि कर्ता ही न होता तो उसके कार्य प्रकट होते? दिखाई यह देता है कि सम्पूर्ण कार्यों की सिद्धि का साधन यह मानव तन है, किन्तु यह तन भी मात्र बाहरी साधन है। इसके भीतर जो “मैं” बैठा हुआ है, इसी “मैं” को पहचानने की बात है। सभी प्रति पल बोलते और महसूस करते हैं इस “मैं” को, लेकिन फिर भी स्पष्ट रूप से उसको जानने की चेष्टा नहीं करते हैं। साधारण रूप से कोई भी कहता है कि यह मेरा शरीर है, लेकिन शरीर से अलग यह “मैं” कौन है, उसका पता नहीं पाता। शरीर में रहे हुए शरीर के पृथक् इसी तत्त्व को भलीभांति जानने की जरूरत है, क्योंकि यही तत्त्व है जो मानव जीवन एवं तन का मूल है। यही नहीं, वह इस सृष्टि का भी मूल तत्त्व है।

### जीवन की सार्थकता मूल तत्त्व की प्रतीति से

मनुष्य अपने शरीर को बार-बार देखता है और उसे संवारता है। प्रातः उठते ही शौच आदि से निवृत्त होकर वह स्नान-मंजन करता है और शरीर को सुन्दर व आकर्षक बनाने की चेष्टाएँ करता है। सौन्दर्य प्रसाधनों का प्रयोग करते हुए वह दर्पण में निहारता रहता है और अपना प्रतिबिम्ब देखते-देखते विभोर होता रहता है। पहले वह यह देखता है कि उसका चेहरा पूरी तरह से साफ हो गया है या नहीं। विविध प्रयोगों से उस पर सुन्दरता की परत चढ़ रही है या नहीं और तब सोचता है कि वह दूसरों को अतीव आकर्षक दिखाई देगा या नहीं? अपने शरीर और चेहरे के बारे में सोचने के लिये वह न जाने कितना वक्त लगा देता है। लेकिन उसके साथ उसके मन में यह विचार नहीं उठता कि इस तरह सोचने वाला और देखने वाला वह स्वयं आखिर है कौन? यह आकृति किसकी है और उसको निहारने वाला मैं कौन हूँ? यह दर्पण तो मात्र देखने का माध्यम है और इसे देखते-देखते सारी जिन्दगी गुजर जाती है लेकिन देखने वाले का सही पता नहीं मिलता। इसके अभाव में आवश्यक परिवर्तनों का भी अभाव ही रहता है। युवावस्था की बात छोड़िये अपने आपको देखने और पहचानने की वृत्ति के अभाव में वृद्धावस्था में भी दर्पण का देखना छूटता नहीं, क्योंकि मनुष्य के मन पर शरीर मोह की छाया रहती है, वहाँ पर आत्म भाव का उदय नहीं होता।

जरा चिन्तन करिये कि बाहर तो जिंदगी भर देखते रहे, मगर भीतर के “मैं” को न खोज सके और न जान सके—यह कितनी विडम्बना है? मूल तत्त्व की प्रतीति न ले पाएँ फिर भला यह मानव जीवन और तन कैसे सार्थक बन सकेगा?

प्रत्येक मनुष्य के मन में एक जिज्ञासा अवश्य होती है कि वह परदे के पीछे छिपे हुए तत्त्व को देख ले। चाहे परदे के पीछे कुछ भी न हो, लेकिन यदि बाहर सूचना टांग दी जाये कि कोई अन्दर न देखे तो उसे पढ़कर कोई भी सबसे पहले अन्दर जाकर देखने की ही चेष्टा करेगा। उसकी उत्सुकता जाग उठेगी कि परदे के पीछे का दृश्य उसे अवश्य देख लेना चाहिये। मूल तत्त्व को देखने के लिये उसमें इस जिज्ञासा को जगाने की जरूरत है। उसको एक बार इस जानकारी पर विश्वास हो जाये कि इस शरीर के परदे के पीछे मूल तत्त्व का निवास है, तो वह अवश्य उसे देखने का प्रयास करना चाहेगा। वर्तमान में अज्ञान के कारण उसकी यह जिज्ञासा जागृत नहीं हो रही है।

मनुष्य देखता है कि उसके शरीर में एक मोह लेने वाली रौनक है। वह आंखों से सुन्दर दृश्य देख सकता है, जीभ से स्वादिष्ट पदार्थों का रसास्वादन कर सकता है, नाक से भांति-भांति की सुगंधी का आनन्द ले सकता है एवं शरीर के अन्यान्य अवयवों से सांसारिक सुखों का भोग कर सकता है। वह शरीर की शक्तियों को समझता है लेकिन उनका महत्त्व भी वह भोग क्षेत्र तक ही सीमित रखता है क्योंकि शरीर के श्रेष्ठ उपयोग को वह तब तक नहीं समझ सकता, जब तक मूल तत्त्व की वह प्रतीति नहीं ले लेता और उसके विकास का पुरुषार्थ प्रारंभ नहीं कर देता। इसलिये सबसे पहले अपनी भीतरी शक्ति को जानने और समझने की जरूरत है, जान-समझकर उसको मानने की जरूरत है। एक बार प्रतीति हो जायेगी कि इस शरीर के परदे के पीछे वह मूल तत्त्व रहा हुआ है जो कि वह स्वयं है। तत्पश्चात् वह आत्म विकास की ओर भी बढ़ेगी और उस दिशा में शरीर का सदुपयोग करना भी सीख जायेगी।

### मनुष्य और पशु की पृथक्त्व रेखा

नीतिकारों ने कहा है कि आहार, निद्रा, भय और मैथुन की दृष्टि से मनुष्य और पशु जीवन में समानता है। भोजन अपना-अपना दोनों करते हैं और दोनों नींद भी लेते हैं। भय की वैचारिकता दोनों में समायी रहती है तथा दोनों प्रजनन क्रिया से अपने जीवन को आगे बढ़ाते रहते हैं। मनुष्य अपने रूप-स्वरूप को संवारने में अधिक मोह रखता है, जबकि पशु अपने शरीर के प्रति अधिक मोहग्रस्त नहीं होता। इसके बाद नीतिकार कहते हैं कि मनुष्य और पशु जीवन में कोई विशिष्ट अन्तर है तो वह यही कि मनुष्य धर्म को समझता और मानता है। अर्थात् अपने कर्तव्य-अपने स्वभाव के प्रति उसका ज्ञान होता है और तदनुसार वह अपने जीवन में विचार और व्यवहार को ढालता है। इसका यह अर्थ हुआ

कि यदि मनुष्य अपने धर्म, कर्तव्य और स्वभाव से विस्मृत बना रहे तो फिर उसके और पशु के जीवन में भेद ही क्या रह जायेगा? मनुष्य का धर्म, कर्तव्य और स्वभाव का बोध ही उसके और पशु जीवन के बीच की पृथक्त्व रेखा है।

धर्म, कर्तव्य और स्वभाव के माध्यम से ही मनुष्य पशु-संज्ञा से अलग हटता है, किन्तु यह शोचनीय स्थिति है कि वर्तमान युग में धर्म की बात मनुष्य के लिये समस्या बन गई है। वह धर्म को उपादेय नहीं मानता, अपने स्वभाव में स्थित होने के प्रति उसकी कोई जिज्ञासा नहीं और अपने कर्तव्यों के प्रति निष्ठा रखने से वह निरन्तर पतित होता जा रहा है। वह इतना प्रमादी और स्वार्थी हो गया है कि हर सुख, सामग्री वह बिना किसी श्रम और पुरुषार्थ के चाहता है और केवल अपने व अपनों के लिये ही चाहता है। मात्र जड़ एवं भौतिक तत्त्वों में ही उसकी रुचि रह गई है। उसी रुचि की येन केन प्रकारेण पूर्ति करने की लालसा में ही वह डूबा हुआ है। उसकी विचारणा और दृष्टि पर मोह का गाढ़ा परदा पड़ा हुआ है, जिसके कारण वह न तो निज स्वरूप को देख सकता है और न ही उस आध्यात्मिक मार्ग को—जो जीवन का साध्य और साधन, दोनों है।

आज का मानव धर्म शब्द को सुनता है लेकिन उसको समझने के प्रति अपनी अभिरुचि को जागृत नहीं बनाता। धर्म की समझ से वह अपने आपको बाहर ही रखता है। इसका दुष्परिणाम सामने है कि उसके जीवन में चारों ओर अशान्ति छायी है। ऐसी अशान्ति जिससे वह घबरा उठा है, फिर भी सही शान्ति की खोज में उसके कदम नहीं बढ़ रहे हैं। जिसने धर्म के स्वरूप को जाना है—समझा है, वही शान्ति के स्वरूप को भी समझ सकता है। धर्म के प्रति लगन की प्रगाढ़ता के साथ ही शान्ति का अनुभव अभिवृद्ध होता है। शान्ति और धर्म भिन्न-भिन्न तत्त्व नहीं, बल्कि अभिन्न हैं। धर्म के साथ शान्ति जुड़ी रहती है।

इसलिये धर्म के प्रति अभिरुचि जगाइये ताकि पशु-संज्ञा से ऊपर उठकर मानवीय संज्ञा में प्रवेश किया जा सके। जानने की चेष्टा करिये कि इस धर्म को जानने का माध्यम क्या है? इस धर्म को देखने का सच्चा दर्पण कौन-सा है? यही दर्पण आपको दिखाने का यहां प्रयास किया जा रहा है। आपको याद होगा कि भेद विज्ञान के माध्यम से शान्ति के स्वरूप को जानने की बात कही गई थी। इसी भेद विज्ञान को कवि ने भगवान् श्री शान्तिनाथ की प्रार्थना में स्पष्ट किया है, कि हे भगवन्त, मैं आपकी प्रार्थना कर रहा हूँ जो एक आह्लादकारी आत्मिक रस से भरपूर है और यह रस है जीवन का वास्तविक रस और शान्ति के स्वरूप का आनन्द। इस रस एवं आनन्द का आस्वादन भेद विज्ञान की सहायता से अपूर्व होता है और स्थायित्व की ओर गति करता है।



प्रश्न है कि इस रस और आनन्द का अनुभव कौन करता है? वही जो मनुष्य संज्ञा तथा पशु संज्ञा के अन्तर को समझकर अपने आप को मनुष्य संज्ञा में प्रतिष्ठित कर लेता है तथा धर्म के स्वरूप को समझ लेता है।

### मनुष्य मन का तदनुरूप विकास

धर्म स्वरूप को समझकर मनुष्य को अपने मन के स्वरूप का विकास करना होता है। यह मन ही मुख्य रूप से उसके बन्धन और मोक्ष का कारण है। इसी हेतु से मन की गहराइयों का पार पाये बिना भेद विज्ञान को पहचान पाना भी संभव नहीं है। इसलिये प्रार्थना की पंक्तियों में कवि ने संकेत दिया है कि मैं अपने मन का निरीक्षण एवं परीक्षण कैसे करूँ? मैं धर्म एवं कर्तव्य बोध का कार्य तो करना चाहता हूँ किन्तु यह मन उसमें बाधक बना हुआ है। असल में बाधक है मन की अस्थिरता, जिससे गति में वेग पैदा नहीं होता। चाहे प्रवचन का श्रवण हो या सामायिक व्रत का आराधन—मन की स्थिरता आवश्यक होती है। वीतराग वाणी का मनोयोग पूर्वक श्रवण करके ही उसमें निर्देशित आज्ञाओं का समीचीन रीति से पालन किया जा सकता है। इस वाणी के आधार पर ही मन के संकेत तथा उसके क्रिया कलाप स्पष्ट होते हैं। बाहर के कार्यों को करने वाला कर्ता कौन है और नियंत्रण तथा अनुशासन की डोर किसने पकड़ी है, यह स्थिति भी मन के घेरों में ही साफ होती जाती है। सच तो यह है कि इसी प्रक्रिया में मन का धर्म के अनुरूप विकास होता जाता है।

मन ऐसा दर्पण है जो भीतर व बाहर दोनों तरफ से संचालित कार्यों का प्रतिबिम्ब दिखाता है। मन बाहर के वस्त्र, सोना, चांदी आदि पदार्थों को भी पहचानता है तो भीतर की धाराओं को भी। सामने सोना पड़ा हुआ हो और मन उसे पहचानने की योग्य दशा में न हो तो आंखें खुली रहने के बावजूद उस सोने की सही तरीके से परीक्षा नहीं हो पायेगी कि वह असली है या नहीं। इसी प्रकार भीतर की वृत्तियों के प्रति जब तक मन सचेत और सतर्क न हो तब तक उन वृत्तियों के गुणावगुण का अंकन नहीं किया जा सकेगा। तब तक धर्म और शान्ति के मार्ग का सम्यक् प्रकार से अनुसरण भी नहीं किया जा सकेगा। इसलिये भीतरी हलचल को देखने तथा संचालित करने के लिये मन शक्ति के विकास की परम आवश्यकता होती है। मन रूपी दर्पण से सभी प्रकार की वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों का पूर्ण परिचय मिलता रहता है। यही परिचय आधार बनता है कि किस प्रकार उन वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों के विकारों का परिमार्जन किया जाये एवं जीवन के विचार व व्यवहार में शनैः-शनैः ही सही—अधिकतम निर्मलता का संचार किया जाये।

शरीर कितना ही सुन्दर हो, लेकिन मन जब तक सुन्दर नहीं बनता है, तब तक जीवन में अशान्ति ही छाया रहेगी। प्रतिदिन प्रति समय आप इसका अनुभव कर सकते हैं, किन्तु ऐसे उन्नतिकारक अनुभव लेने के लिये लोगों के पास समय नहीं है। यहां समय का अभाव नहीं है, समय का अपव्यय है और यह अज्ञान का विषय है। कोई भाई शान्ति की चाह भी रखते हैं, उसके लिये थोड़ी बहुत साधना भी करते हैं लेकिन उस गहराई तक नहीं पहुँच पाते हैं जहां से जीवन के शुभ परिवर्तन का क्रम आरंभ होता है। यही बिन्दु होता है, जहां से मन के समुचित विकास की प्रक्रिया भी प्रारंभ होती है।

ज्ञान और पुरुषार्थ की इस कमी को दूर करने की अपेक्षा रहती है ताकि धर्म और शान्ति की साधना के क्षेत्र में प्रगति की जा सके। यह मन के समुचित विकास से ही संभव हो सकेगा क्योंकि मन अगर अस्थिर और असावधान रहता है तो जीवन में स्थिरता और सावधानी के लक्षण प्रकट नहीं हो पायेंगे। यह मन ही है जो ऐन्द्रिक भोग विषयों में भटक जाता है, आत्मा को कर्म के कठिन बंधनों में बांध देता है। यही मन जब जागृत हो कठोर कर्म में प्रवृत्ति करता है तो कठिनतम बंधनों को भी काट कर आत्मा को मुक्तिद्वारा तक पहुँचा देता है।

अतः मन को सिद्ध करने का पुरुषार्थ ही सबसे बड़ा और सबसे अधिक महत्त्व का पुरुषार्थ माना जायेगा।

### मन को साधने की वास्तविक विधि

मनुष्य अपने शरीर की विविध क्रियाओं से भी मन को साधने का प्रयत्न करता है, जैसे व्यायाम करना, प्राणायाम में बैठकर श्वास को ऊपर चढ़ाना, विविध प्रकार के योगासनो में बैठना आदि। वह सोचता है कि इन क्रियाओं से उसका मन सधेगा तथा उसे समाधि मिलेगी। कुछ समय तक श्वासो-श्वास निरोध आदि की क्रियाओं से ऐसा लग भी सकता है कि वांछित दिशा में गति हो रही है, किन्तु आगे अनुभव यही होता है कि मन की दशा यथावत् है। गुर्दे, दिल या अन्य गंभीर शल्य क्रिया करते समय चिकित्सक का ध्यान इतना एकाग्र हो जाता है कि मन जरा सा भी इधर-उधर चलायमान नहीं होता। कारण, जरा-सा भी ध्यान डिग जाये तो चाकू की दिशा बदल जाये और रोगी का भारी अहित हो जाये। किन्तु चिकित्सक की वैसी एकाग्रता क्या उसके सम्पूर्ण जीवन में उतर पाती है? क्या वह चौबीस घंटे स्थिरचित्त रहकर अपना प्रत्येक कार्य उसी अवस्था में करने लगता है? नहीं। ज्यों ही शल्य क्रिया समाप्त होती है कि अधिकांश चिकित्सकों का मन मोह माया की ओर दौड़ पड़ता है।

उसकी एकाग्रता क्षणिक होती है, स्थायी नहीं, क्योंकि उस एकाग्रता का लक्ष्य मरीज को स्वस्थ करना होता है। चूंकि लक्ष्य शुभ होता है तथा चिकित्सक की भावशुद्धि भी साथ में हो तो वह एकाग्रता पुण्यबंध का कारण बन जाती है।

मन की सच्ची एकाग्रता उसे ही कहते हैं जो आत्म विकास के चरम लक्ष्य के प्रति स्थायी स्वरूप ग्रहण करती है। वैसी एकाग्रता ही मन की गतिविधियों का सही प्रतिबिम्ब बनती है और सच्ची शान्ति का अनुभव कराती है। मन को ऐसी एकाग्रता की तरफ मोड़ने के लिये समय, श्रम और अभ्यास की भी आवश्यकता होती है जिसके साथ समुचित विधि का संयोग होना चाहिये। इनके सिवाय सतत सतर्कता की भी अपेक्षा रहती है। जैसे मिट्टी का बर्तन खरीदते समय बार-बार बजाकर उसकी पकावट की जांच की जाती है, उसी प्रकार बार-बार मन के निरीक्षण एवं परीक्षण की आवश्यकता होती है कि कहीं वह अपनी पटरी से नीचे तो नहीं उतर रहा है। यह निरीक्षण और परीक्षण संभव होता है चिन्तन से। चिन्तन से अन्तरावलोकन होता है और उसी प्रक्रिया में मन की समस्त गतिविधियों की बारीक जांच होती है। मन अपनी स्थिरता से अपनी ऐसी जांच कामयाबी के साथ कर सकता है।

ऐसी ध्यान साधना बाहर की दुनिया में बड़े कहलाने वाले व्यक्ति की बपौती नहीं होती है। छोटा-बड़ा, ऊँचा-नीचा कोई भी व्यक्ति आवश्यक विधि एवं अभ्यास के साथ मन का स्थिरीकरण सिद्ध कर सकता है। मन के स्थिरीकरण की साधना का ही दूसरा नाम सामायिक है। सामायिक व्रत की बाहरी पोशाक बाहरी दृश्यों के आकर्षण को समाप्त करती है, भीतर की सादृगी को पुष्ट बनाती है। मुख्य होती है भीतर में बनने और फैलने वाली ममत्व की भावना। इसका ही सतत अभ्यास मनुष्य के मन को समतामय बनाता है। प्रत्येक व्यक्ति सामायिक की साधना का लाभ उठा सकता है तथा अपने क्रमिक अभ्यास से आध्यात्मिक क्षेत्र में बड़ा पद प्राप्त कर सकता है। सामायिक ही मन को साधने की वास्तविक विधि है।

### सामायिक से मन:सिद्धि और शान्ति प्राप्ति

बाहरी दृश्यों से हटाकर मन को आन्तरिक विचारों में स्थिर करना—एक पुरुषार्थसाध्य कार्य है। इस कार्य को आरंभ करने वाले व्यक्ति को पग-पग पर बड़ी सावधानी रखनी होती है। मन रूपी दर्पण में सबकुछ देखते रहने से ऐसी सावधानी बराबर बनी रहती है। मन का दर्पण तभी प्रतिबिम्बित होता है जब वह निर्मल स्वरूपी रहे। उसका निर्मल स्वरूप बनता है सामायिक की विधि पूर्वक

साधना से। यह ऐसी साधना है जो मनःसिद्धि की दाता होती है। सामायिक की साधना से मन स्थिर ही नहीं सिद्ध भी होता है। सिद्ध होना उसको कहते हैं, जब वह जड़ग्रस्तता की दिशा से मुड़कर आत्मानुभव की दिशा में चलने लगता है।

तथ्य यह भी समझ लिया जाना चाहिये कि लक्ष्य मन को स्थिर मात्र बनाने का नहीं है। स्थिरता पहले इसलिये चाहिये कि वह विकारपूर्ण दिशा की ओर बार-बार न मुड़े। तब आवश्यक होता है कि वह आत्म विकास की दिशा में चले और तेजी से उस मार्ग पर आगे बढ़ता रहे। अभिप्राय यह है कि मन को स्थिर इस रूप में नहीं बनाना है कि वह गतिहीन हो जाये! उसकी गति की दिशा में परिवर्तन लाना होता है, इसलिये एक दिशा से दूसरी दिशा में मोड़ लेने के समय स्थिरता की आवश्यकता होती है। ऐसा इसलिए कि मन बार-बार उसी दिशा की ओर आकर्षित होकर जाता न रहे जिस दिशा से उसे निकलना है। अतः नई गति पकड़ने के लिये अन्तरिम काल की स्थिरता की आवश्यकता होती है। मन की स्थिरता का यही आशय है। एकाग्रता से उसकी गति का ही बोध होता है कि वह लक्ष्य की ओर एकनिष्ठता से बढ़े। एक की ओर ही अग्र होना एकाग्रता है। सामायिक की साधना से मनःसिद्धि होती है अर्थात् मन की गति की दिशा का परिवर्तन होता है। फिर नई उन्नतिशील दिशा में एकाग्रता से उसकी प्रगति होती है। सामायिक साधना में इसी लक्ष्य के साथ मन की गतिविधियों का बहुआयामी परीक्षण करते रहना चाहिये।

मन का यह परीक्षण भेद विज्ञान पर आधारित होना चाहिये जिससे बाहरी दृश्य और आन्तरिक स्वरूप का यथार्थ ज्ञान भी हो सके। भेद विज्ञान की विधि से तुलनात्मक ज्ञान भी होगा तो समीक्षात्मक ज्ञान भी समुन्नत बनेगा। नित्य यह देखते रहने की मनोवृत्ति का निर्माण होगा कि मैंने पिछले दिन-रात्रि में क्या कुछ किया है और जो किया है उसमें कितना शुभ है और कितना अशुभ? इस शुभाशुभ को जानने की कसौटी भी मन की ही कसौटी होगी, क्योंकि मन ही अपने कार्यों की समीक्षा करते हुए यह निर्णय करेगा कि दूसरों का हित साधने की प्रवृत्ति के साथ कौन-सा काम शुभ माना जायेगा और कौन-सा काम अशुभ। इस दिशा में मनुष्य की बुद्धि सहजता से सक्रिय हो जाती है।

मानव का एक पक्ष जहां प्रमाद और स्वार्थ का है, वहीं दूसरा पक्ष आशाजनक भी है जिसके अनुसार उसकी बुद्धि की जागरूकता और सक्रियता निरन्तर बढ़ रही है। आवश्यकता यही है कि वह अपनी जागरूक और सक्रिय बुद्धि का उपयोग सामायिक की साधना तथा मन की एकाग्रता हेतु करने लगे। यों कई व्यक्ति ऐसे मिलेंगे जो गहरे जिज्ञासा भाव से आध्यात्मिक क्षेत्र की

बातों को जानना चाहते हैं और उनको समझने में अपनी बुद्धि का प्रयोग करते हैं। इन जिज्ञासु व्यक्तियों के ज्ञान को बढ़ाना तथा उन्हें सही दिशा में चलने की प्रेरणा देना एक रचनात्मक कार्य होगा।

आप समझ लें कि धर्मस्थानक में आने का मुख्य प्रयोजन धर्म स्वरूप को समझते हुए मन की एकाग्रता को साधना तथा आत्म विकास के लक्ष्य की दिशा में अग्रगामी बनना है। इसमें सामायिक की साधना का महत्वपूर्ण योगदान हो सकता है जिससे मन भी सधेगा और शान्ति लाभ भी होगा। परमात्मा के स्वरूप के साथ निज स्वरूप की तुलना करते हुए भेद विज्ञान की कला को समझें तथा मनस्वी बनकर इस मानव जीवन और तन को सार्थक बनायें। सांसारिक मोहग्रस्तता में ही उलझे रहकर इसे निरर्थक कदापि न होने दें।

दिनांक 18.09.1986

(जलगांव)

## 19

## मंगलपाठ पढ़ मनन करें

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

प्रातः काल का समय जीवन विकास हेतु मंगलमय प्रेरणा पाने के लिये सुवर्णमय समय है। इस समय अन्तःकरण की शुभ भावनाओं का उत्थान पाकर जीवन को वास्तविक उन्नति की एक नई दिशा प्राप्त हो सकती है। सूर्योदय के संग प्रतिदिन सूर्य अपनी गति के अनुसार पूर्व दिशा से प्रकाश प्रसारित करता है। प्रातः कालीन प्रकाश की यह ऊर्जा भावनाशील व्यक्तियों को नित नई प्रेरणाओं से अनुप्राणित बनाती है। उत्थानगामी पुरुष के लिये सम्पूर्ण जीवन यात्रा बहुत महत्वपूर्ण होती है, ठीक उसी तरह जिस तरह भरे हुए गिलास के जल की एक बूंद भी प्यास बुझाने में महत्वपूर्ण है। एक बूंद में तृप्ति का गुण होगा तभी तो एक गिलास जल से प्यास बुझ सकेगी। एक-एक दिवस की सफल यात्राएँ ही सम्पूर्ण जीवन यात्रा को फलीभूत बना सकती हैं।

कोई भी यात्रा जब प्रारंभ की जाये तो एक आस्थावान व्यक्ति को प्रमुख रूप से किस प्रेरणा की आवश्यकता होती है? यात्रा चाहे एक दिवस के क्रिया कलापों के प्रारंभ रूप में हो अथवा देश या परदेश के लिये प्रस्थान करने के प्रसंग रूप में। उस समय उस यात्री के मन में यही भावना होती है कि उसका मंगल हो। उसके हृदय में मंगल के प्रति आस्था घनीभूत हो जाती है।

क्या मंगल की कामना करना तथा मंगल के प्रति गहरी आस्था संजोना स्वाभाविक नहीं है? अवश्य है। वास्तव में जो अपना मंगल चाहता है, वह समस्त प्राणियों का भी मंगल चाहता है। सम्पूर्ण विश्व के लिये जब मंगल कामना की जाती है तो उसमें स्वयं का मंगल भी समाविष्ट रहता है। स्व-पर कल्याण की भावना जब उत्कृष्ट बिन्दु तक पहुँचती है, तब उस भव्य पुरुष के मुख से हठात् यही निकलता है कि सब प्राणी सुखी हों, सबके कष्ट दूर हों।

सर्वत्र एवं सर्वदा मंगल व्याप्त हो—यह किसी भी सदाशयी पुरुष की अन्तरतम भावना रहती है।

### मंगलाचरण और मंगलपाठ

इस प्रातः कालीन यात्रा में शास्त्रकारों ने मंगल को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। मंगल के महत्त्व की परम्परा आज भी प्रत्येक भारतीय के जीवन में किसी न किसी रूप में प्रचलित है। मंगल कामना के रूप में प्रत्येक भारतीय एक दूसरे से अपने सम्बन्धों को जुड़ा हुआ रखता है। यों देखें तो मंगल कामना की परम्परा अपने-अपने ढंग से अन्य देशों में भी अभिव्यक्त होती रहती है। अवसर चाहे लौकिक हो या पारलौकिक, एक दूसरे के प्रति मंगल कामना की अभिव्यक्ति शिष्टाचार के रूप में भी देखी जाती है। अपने से पहले दूसरों के लिये मंगल चाहना निश्चय ही हार्दिक उत्कृष्टता का परिचायक माना जाता है।

वीतराग देवों ने भी मंगल के प्रसंग को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। इस महत्त्व का सर्वोत्कृष्ट प्रतीक है मंगलाचरण। जानते हैं मंगलाचरण किसे कहा गया है? मंगलाचरण नवकार मंत्र का नाम है। यदि आपको कोई यात्रा आरंभ करनी है या कि कोई भी कार्य—तो पहला मंगल आचरण यह होगा कि आप नवकार मंत्र का मनोयोग पूर्वक जाप करें। नवकार मंत्र का पाठ एक आचरण ही नहीं; मंगल आचरण है, क्योंकि मंगलपूर्ण परिस्थितियाँ इस पाठ की अनुगामिनी बनती हैं। नवकार मंत्र समग्र मंगलों का सारभूत मंगल माना गया है। कारण, पंच परमेष्ठि अपने जीवन को मंगलमय बना चुके हैं, बनाते रहते हैं तथा बनाते रहेंगे। उनकी मंगल प्रेरणा प्रत्येक भव्य पुरुष को प्रतिक्षण भावाभिभूत बनाती रहती है।

ऐसे परम मंगलकारी मंगलाचरण पाठ से ही प्रत्येक व्यक्ति को प्रातः काल वेला में सभी कार्यों की शुरुआत करनी चाहिये। मंगलाचरण के माध्यम से पंच परमेष्ठि का स्मरण करना चाहिये।

याद रखिये कि आप अपने जीवन में सदा और सर्वत्र मंगल का प्रसार तभी कर सकेंगे, जब आप अपनी आत्मा के साथ संलग्न पाप कर्मों को नष्ट करने का पुरुषार्थ करें। पाप कर्म ज्यों-ज्यों नष्ट होते जाते हैं, मंगलमय परिस्थितियाँ त्यों-त्यों स्वयमेव उपस्थित होती जाती हैं। इसलिये आप नित प्रति मंगलाचरण के साथ मंगलपाठ का भी श्रवण करें। साधु मुनिराज विराजते हों तो उनके दर्शन करके उनके मुख से मंगलपाठ सुनें, अन्यथा स्वयं ही मंगलपाठ का स्मरण करें। प्रत्येक दशा में मंगलपाठ का गहराई से मनन अवश्य करें।

## मंगल कामना और आराधना

अपना मंगल तो सभी चाहेंगे किन्तु सभी प्राणियों के मंगल की कामना करना तथा उनके मंगल के लिये सत्प्रयास करना हृदय की उदारता के बिना संभव नहीं। केवल मंगल की कामना करने से ही मंगल व्याप्त नहीं हो जायेगा। उसके लिये उपयुक्त आराधना की भी आवश्यकता होगी। मंगल की सफल आराधना के लिये प्रतिदिन मंगलाचरण एवं मंगलपाठ के आन्तरिक महत्त्व का ज्ञान तथा मनन अत्यावश्यक है।

प्रत्येक व्यक्ति को शय्या छोड़ते ही तथा कोई भी अन्य कार्य करने से पहले नेत्र मूंद कर अपनी आन्तरिकता में प्रवेश करके मंगलाचरण का पाठ करना चाहिये। साथ ही मन में एक धारणा बननी चाहिये कि वह अपना पूरा दिन किस प्रकार की वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों के साथ व्यतीत करेगा। शौचादि से निवृत्त होकर संयोग हो तो सन्त दर्शन अवश्य करना चाहिये तथा उन्हीं से मंगलपाठ (चत्तारि मंगलम्) सुनना चाहिये। सन्त-जन वीतराग देवों के अनुयायी एवं पंच महाव्रतों के पालनकर्ता होते हैं अतः उनका दर्शन स्वयं ही मंगलमय होता है। उनके मुख से सुना हुआ मंगलपाठ वस्तुतः मांगलिकता का उद्गम स्थल बन जाता है। मंगलपाठ का श्रवण करते समय सत्श्रद्धा पुष्ट बननी चाहिये तथा ऐसी दृढ़ मानसिकता का निर्माण होना चाहिये कि जीवन विकास के मार्ग पर संकल्पबद्ध हुआ जा सके। यह संकल्पबद्धता इसलिये कि दिनभर की अपनी विविध गतिविधियों में मंगल की दिशा का अनुसंधान किया जाता रहे।

मैं आपसे पूछूँ कि आप भी यथावसर धर्मस्थानक में आते हैं। सन्त-सतियों से मंगलपाठ का श्रवण करते हैं। क्या कभी आपने मंगलपाठ के महत्त्व पर गंभीर चिन्तन-मनन भी किया है? कैसे होगा आपका मंगल और कौन करेगा सदा व सर्वत्र मंगल? मंगलपाठ में चार तत्त्व परम मंगल रूप बताये गये हैं—1. अरिहन्त मंगल। 2. सिद्ध मंगल। 3. साधु मंगल, तथा 4. केवलि-प्ररूपित धर्म मंगल। इन चारों को लोकोत्तम कहा गया है तथा इन चारों की शरण में जाना श्रेयकारी माना गया है। क्या आप समझते हैं कि ये चारों लोकोत्तम और मंगल स्वरूप क्यों हैं तथा इनकी शरण में जाना किस प्रकार श्रेयकारी हो सकता है?

अरिहन्त, सिद्ध, साधु और धर्म सर्वमंगल के प्रतीक होते हैं। धर्म प्रमुख है जो उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति का साधन होता है तथा इसी लक्ष्य के तीन चरण हैं—साधुत्व, अरिहन्त और सिद्धत्व। स्वभाव में स्थित होने की उच्चतर साधना



का नाम ही साधुत्व है तथा यही साधुत्व जब अपनी उत्कृष्टता में प्रतिफलित होता है अर्थात् सांसारिकता के बीज स्वरूप राग व द्वेष की वृत्तियों को जीत लेता है, तब साधुत्व का साधक बन जाता विजेता अपनी ही दुष्टवृत्तियों का! तब वह अरिहन्त कहलाता है। अरिहन्त जब सांसारिकता अर्थात् जड़ता के सर्वांशों से विमुक्त बन जाता है, तब सिद्ध हो जाता है—ज्योति में ज्योति स्वरूप, सदा काल के लिये आत्मिक स्वरूप में तल्लीन तथा संसार से हमेशा-हमेशा के लिये सर्वथा असम्बद्ध। सिद्धत्व को परम तथा अमर मंगल माना गया है।

जहां तक वर्तमान आत्मस्थिति का प्रश्न है, मंगल की ओर प्रयाण करने का यानी कि मंगल की आराधना करने का अर्थ माना जायेगा—केवली प्ररूपित धर्म की दिशा में गतिशील बनना तथा साधुत्व के प्रति अपनी आत्मिक निष्ठा का निर्माण करना। प्रातः काल के समय अथवा किसी भी कार्य के आरंभ में अथवा कोई यात्रा प्रारंभ करते समय मंगलाचरण एवं मंगलपाठ का यही विशिष्ट महत्त्व जानिये और उस पर निरन्तर मनन करते रहिये कि हम सदा व सर्वत्र मंगल का वरण कर सकें अर्थात् धर्माभिमुख बनते हुए आत्म साधना के मार्ग पर आगे से आगे बढ़ते रह सकें। इस मंगल की प्रबल प्रेरणा मिलती है साधु, अरिहन्त तथा सिद्ध भगवान् से, किन्तु इस मंगल की आराधना तो स्वयं को ही करनी होगी। मंगल की आत्मिक आराधना जब की जाती है तो वैसी मंगल कामना सर्वव्यापी बन जाती है।

### जीवन का मंगल चेतना शक्ति की जागृति में है

मंगल का श्रीगणेश होता है धर्माचरण के प्रारंभ से और उसकी प्रारंभिक प्रेरणा अभिव्यक्त होती है—मंगलाचरण, मंगलपाठ स्मरण एवं चिन्तन मनन से। धर्म का जो आचरण है वही अपने स्वयं के अनुभाव अर्थात् स्वभाव में स्थित होने का पुरुषार्थ है, अपने कर्तव्यों के सम्यक् रीति से निर्वाह का प्रयास है। धर्म के प्रति आत्मा जितनी निष्ठा से प्रभावित होती है, उतना ही उसके जीवन में मंगल का उदय होता जाता है।

धर्म के ऐसे आचरण का मूल है चेतना शक्ति की जागृति में, क्योंकि सांसारिकता का मूल जड़ पदार्थों की आसक्ति में रहता है। जितनी जड़ता है, उतना ही चेतना का अभाव होगा। चेतना शक्ति की जागृति का अर्थ है जड़ पदार्थों की आसक्ति से दूर होना तथा अपने आत्मिक स्वरूप के प्रति जागरूक बनना। धर्म यही सिखाता है कि आप जिस सांसारिकता की मोह

माया में रमण कर रहे हैं, उससे हटकर आप अपने स्वभाव यानी आत्म-भाव में विचरण करें। आत्म भाव में विचरण करने से आसक्ति जन्य मोह घटेगा और सभी प्राणियों में रहे हुए आत्म भाव से अपना आत्म भाव संयुक्त बनेगा। उस आत्मीय एकरूपता को समझकर लोक कल्याण की शुभ दिशा में प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित बनायेगा। यही तो स्व-पर सदा-सर्वत्र मंगल का मूल है।

याद रखिये कि संसार के जड़ तत्त्व चाहे वे अक्षत, कुंकुम या नारियल ही हों, मंगल के मूल प्रणेता नहीं होते, क्योंकि मंगल का मूल उद्गम स्थान स्वयं का आत्म भाव होता है। अन्तःकरण से उद्भूत होकर ही मंगल अन्य के अन्तःकरण को प्रभावित बनाता है तथा चहुं ओर मंगल का प्रसार करता है। इसी प्रसार के साथ वैयक्तिक, सामूहिक सभी प्रकार का जीवन मंगलमय बनता है। वस्तुतः जो सर्व आत्माओं को अपनी आत्मा के समकक्ष मानकर मंगल की उत्कृष्ट आराधना एवं साधना करते हैं तथा समत्व भाव से अपने जीवन को मंगलमय बना लेते हैं, वे प्रबुद्ध चेतनाशील शक्तियाँ मंगल की मूल प्रणेता होती हैं।

ऐसे ही मंगल के मूल प्रणेता भगवान् महावीर ने अपने एक-एक उपदेश में सम्पूर्ण विश्व के लिये श्रेयकारी मंगल को कूट-कूटकर भरा है। शास्त्रों की एक-एक गाथा का उच्चारण करके जब उसके अर्थ को हृदयंगम किया जाता है तब उस मंगल की गहराई का अनुमान होता है। इस स्वाध्याय के लिये भी प्रातः काल ही उपयुक्त माना गया है। सभी प्रकार की मंगल साधना दैनिक प्रवृत्तियों के प्रारंभ से पूर्व ही की जानी चाहिये ताकि पूरे दिन अपने धर्म, स्वभाव और कर्तव्य से स्खलन न हो। इसके साथ ही दिन में अन्य धार्मिक साधनाओं के आचरण में भी रुचि बढ़े। महावीर के मंगलमय उपदेशों के अनुरूप तप और संयम की साधना की ओर भी कदम बढ़ें और जीवन में जड़ता दूर होकर शक्ति की जागृति हो।

इन उपदेशों के प्रति आस्था एवं आचरण की लगन शरीर के एक-एक अणु-रेणु में भर जानी चाहिये। इससे पांचों इन्द्रियों तथा मन सहित पूरा शरीर धर्म साधना का सबल साधन बन जायेगा। इन उपदेशों का सन्त प्रवचनों के माध्यम से जब श्रवण होगा तो श्रवणेन्द्रिय जागरूक बनेगी। इनका स्वाध्याय के रूप में जब उच्चारण किया जायेगा तो रसनेन्द्रिय में नवीन कर्मठता जन्म लेगी। दोनों इन्द्रियों की जागृति के प्रभाव से चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय तथा स्पर्शेन्द्रिय भी धार्मिकता के धवल रंग में रंगने लगेगी। तब मन और इन्द्रियों की

शक्तियाँ एकीभूत बन जायेंगी और मंगल को प्राणवान् बना देंगी। तब जीवन में जड़ पदार्थ नहीं, चेतना शक्ति जागृत रहेगी तथा वही अपने जड़ संसाधनों को भी धर्म मार्ग पर सक्रिय बनाये रखेगी।

### मन में मंगल तो सर्वत्र मंगल

शरीर को धर्म साधन बनाने की तथा आत्म भाव को विकसित करने की कुंजी मन के पास रहती है। वह ऐसी कड़ी है जो जड़ से जुड़ जाये तो आत्मा को मूर्च्छित कर दे, चेतना से जुड़ जाये तो आत्मा को जागृत कर शरीर को सशक्त धर्म साधन बना दे और जीवन की मांगलिकता को सर्वत्र व्याप्त कर दे। इस कड़ी को भली-भांति समझ कार्यरत बना दें तो शरीर भी स्वस्थ होगा, आत्मा भी स्वस्थ बन जायेगी। इतना ही नहीं, इस स्वस्थता को सम्पूर्ण सांसारिक वातावरण में पर्याप्त बल मिलने लगेगा।

मन के माध्यम से ही मानव अपनी जीवन यात्रा को दोनों तरीकों से शुरू कर सकता है। यदि मन को जड़ पदार्थों से ही जुड़ा रखा तो यह शुरुआत अशुभ होगी किन्तु मन चेतनाशील बन गया तो शुरुआत ही शुभ होगी। अच्छी शुरुआत आप जानते हैं, पूरे काम की सफलता के प्रति आश्वस्त बना देती है। यह शुभ शुरुआत सम्यक् ज्ञान के आधार पर ही की जा सकती है, क्योंकि एक सम्यक् ज्ञानी ही अपने मन की गति को मोड़ कर उसे शुभ दिशा में गतिशील बना सकता है। वैसा सम्यक् ज्ञानी अपनी जीवन यात्रा का प्रारंभ मंगलमय रीति से ही करेगा। इतना ही नहीं, यदि सम्यक् ज्ञान की धारा निरन्तर पुष्ट बनती हुई प्रवाहित होती रहे तो जीवन का प्रत्येक क्षण मंगलमय होता रहेगा एवं मंगलमय ही उस जीवन का आत्मोन्नति के उच्चतम शिखर पर आरोहण होगा। मन की गहराइयों में सम्यक् ज्ञान की जागृति एवं अनुभूति से ही मंगल की कामना अक्षुण्ण बनी रहती है।

ऐसे सम्यक् ज्ञान का उद्भव होता है मंगलपाठ की मानवीय भावना से, क्योंकि मंगल के चारों प्रतीक मूलतः सम्यक् ज्ञान के आलोक से आलोकित होते हैं। सम्यक् ज्ञान ही सम्यक् दर्शन में ढलकर सम्यक् चारित्र्य का निर्माता बनता है। अतः सम्यक् ज्ञान को जगाने के लिये प्रातः काल वेला में मंगलाचरण का पाठ करें एवं मंगलपाठ पर आत्मानुभाव तथा आत्मानुभव से मनन करें। इस मनन को मन की ही प्रमुख क्रिया मानिये क्योंकि मनन ही मन का सच्चा लक्षण होता है। मनन में मंगल समा जाये तो मंगल मन में बस जाता है। मन में मंगल बसा हुआ रहे तो मान लीजिये कि सर्वत्र मंगल ही मंगल छा जायेगा।

## दिनचर्या का आरंभ शुभता से करें

आप इस बात का ध्यान रखें कि आपकी दिनचर्या का आरंभ शुभता के साथ हो। कई लोगों को नींद खुलते ही बिस्तर में चाय या सिगरेट की तलब होती है यानी उनकी दिनचर्या की शुरुआत अशुभ वस्तुओं से होती है। कई उठते ही गुस्सा करते हैं या कि किसी अन्य कुवृत्ति का परिचय देते हैं। अतः प्रारंभिक वृत्ति शुभ रहे तथा प्रवृत्ति भी शुभ रहे—इस दृष्टि से भी मंगलाचरण एवं मंगलपाठ से दिनचर्या का आरंभ किया जाना चाहिये। शुभता के साथ दिनचर्या आरंभ होगी तो दिन भर के क्रियाकलापों में भी शुभता का विवेक रहेगा। यह निश्चित मानिये कि मांगलिकता शुभता की अनुगामिनी अवश्य होती है।

दिनचर्या भी पूरी जीवन यात्रा के परिप्रेक्ष्य में एक छोटी यात्रा ही है। दिन भर की योग व्यापारमय यात्रा। मन, वचन, काया के योग व्यापार का आरंभ यदि प्रातः काल से शुभता के साथ हो तो दिन भर उस शुभता का क्रम चलेगा। कहीं गड़बड़ भी होने लगे तो विवेक जगा देगा कि अशुभ प्रवृत्ति में मत पड़ो। यह छोटी यात्रा शुभ बनी रहेगी, तो पूरी जीवन यात्रा भी शुभता की छाया में चल सकेगी। अतः उठते ही ऐसी कोई हलचल नहीं करनी चाहिये, जिसके कारण चिन्तन अथवा आचरण में किसी प्रकार से अशुभता का प्रवेश हो। अशुभता के निरोध का तथा शुभता की विवेक जागृति का सबसे बड़ा सम्बल यही है कि मंगलाचरण और मंगलपाठ से ही नियमित दिनचर्या का आरंभ किया जाये। इससे सुसंस्कार जीवित रहेंगे तथा कुसंस्कारों का असर नहीं हो सकेगा। इसके साथ ही जहां तक संयोग हो सन्त दर्शन का नियम भी बराबर निभाया जाना चाहिये। आप यदि दिनचर्या का आरंभ शुभता के साथ करेंगे तो आपकी सन्तान भी वैसे सुसंस्कारों का अनुकरण करेगी जिससे आपके पूरे परिवार में मांगलिकता का संचार हो सकेगा।

मंगलाचरण और मंगलपाठ के नियमित नियम-पालन का सबसे बड़ा प्रभाव यह दिखाई देगा कि सम्पूर्ण जीवन की वैचारिकता एवं व्यवहार में भांति-भांति के सदगुणों की झलक छलक रही है। सन्तों के प्रवचन आप सुनेंगे तो वीतराग वाणी हृदय में उतरेगी, दर्शन और मंगलपाठ से आत्म-जागरण होगा तथा रात्रिकालीन प्रश्नोत्तरी-काल में अपनी विभिन्न जिज्ञासाओं को शान्त कर सकेंगे। ये सब शुभ प्रवृत्तियाँ जीवन में चलेंगी तो विश्वास रखिये कि अन्य सभी सांसारिक प्रवृत्तियों में भी इनकी शुभता का अंश बना रहेगा। एक प्रकार से सम्पूर्ण जीवन में शुभता का विस्तार हो जायेगा और सारा जीवन मंगलमय बन जायेगा। इसी मंगलमय जीवन का आरंभ शुभ दिनचर्या

से करना सीख लें। एक-एक क्षण करके ही पूरा जीवन बनता है, इस कारण दिनचर्या की शुभता अर्थात् छोटी यात्रा का मंगलमय होना पूरी जीवन यात्रा को शुभ और मंगलमय बना देगा।

### स्रोत मंगलमय तो स्वरूप भी मंगलमय!

आजकल अधिकांशतः शहरों, कस्बों आदि में नल-जल की व्यवस्था है। इस व्यवस्था का स्रोत पानी की बड़ी टंकी होती है जिसमें एकत्रित शुद्ध जल का वितरण नलों द्वारा सब ओर किया जाता है। इस कारण अगर टंकी का पानी शुद्ध होगा तो सभी नगरवासियों को नलों के जरीये शुद्ध पानी उपलब्ध हो सकेगा। कभी दंगा फसाद के चलते ऐसा हो जाता है कि कोई दुष्ट व्यक्ति उस टंकी में जहर मिला देता है। तब उस टंकी से वितरित पानी का जो भी उपयोग करता है, उस जहर के दुष्प्रभाव से पीड़ित होता है। सोचिये कि यदि स्रोत में ही अशुभता मिल जाये तो क्या आगे चलने वाली सारी प्रवृत्तियाँ उस अशुभता से बच सकेंगी? तात्पर्य यह कि जब स्रोत मंगलमय होगा तभी सारी प्रवृत्तियाँ मंगलमय बनेंगी तथा उनसे ढलने वाला आत्म-स्वरूप भी मंगलमय बनेगा।

चिन्तन करने की आवश्यकता है कि यह मानव तन भी पानी की टंकी के समान है, क्योंकि यह जीवन की समस्त प्रवृत्तियों का स्रोत है। यदि शुद्ध जल के समान मंगलमय दिनचर्या के आधार शरीर की भावशुद्धता भी बनी रहे तो इस शरीर के माध्यम से जो भी प्रवृत्ति संचालित की जायेगी, उसमें वह शुद्धता मिली रहेगी। टंकी का पानी चाहे बड़े पाइप से जाये या छोटे पाइप से, चाहे उसे बड़ा आदमी काम में ले या छोटा आदमी—उस टंकी में अगर शुद्धता है तो सभी ठौर उससे वितरित होने वाले पानी में एक-सी शुद्धता बनी रहेगी। इसी तरह स्रोत के पानी में जहर मिला देने के समान शरीर को काम-क्रोध के विष में रमा दिया जाये तो फिर देह स्रोत से होने वाली सारी प्रवृत्तियों में भी यह विष मिला रहेगा। सोचिये, कि आप अपने शरीर के स्रोत को शुद्ध बनाकर सारे जीवन में शुभता और मंगल को व्याप्त बनाना चाहते हैं अथवा इस स्रोत को विकारों से युक्त विषमय बनाकर इससे होने वाली सभी प्रवृत्तियों को अशुभ एवं अहितकर बनाना चाहते हैं? निश्चित ही आपका उत्तर होगा कि शरीर को शुद्ध रखना चाहते हैं, लेकिन ऐसा कहने मात्र से नहीं होगा। स्रोत को परिश्रमपूर्वक शुद्ध बनाना होगा तथा विवेक से उसे शुद्ध बनाये भी रखना होगा। इसके लिये सन्तों की शुद्धजल की टंकी से आप पानी ले सकते हैं और पानी को शुद्ध बनाने की विधियाँ जान सकते हैं।

स्रोत मंगलमय होता है तो स्वरूप भी मंगलमय बन जाता है—इसका प्रत्यक्ष अनुभव आप सन्तों के जीवन से ले सकते हैं। सन्त पांच महाव्रतों का पालन करते हैं तथा उसमें किसी भी प्रकार से शिथिलता नहीं आने देते हैं। यही कारण है कि तेऊकाय (अग्नि) के जीवों की विराधना होने से सन्तों के लिये माइक्रोफोन आदि सचित्त साधनों के प्रयोग का निषेध किया गया है। वे इसी वजह से बिजली व उसके साधनों का उपयोग नहीं करते हैं। विश्व के समस्त प्राणियों को वे अभयदान देकर शान्ति पहुँचाना चाहते हैं। ऐसे सन्त जीवन से आप मंगलमय प्रेरणाएँ प्राप्त कर सकते हैं।

### मंगलपाठ सुनें, उस पर मनन करें

सन्त-सतियों के मुख से मंगलपाठ सुनेंगे तथा उस पर नित्य प्रति मनन करते रहेंगे तो आप स्वयं भी मंगल स्रोत बन सकेंगे। ध्यान रखिये कि स्रोत का बड़ा दायित्व होता है। आप इसे एक लौकिक दृष्टान्त से समझें। किसी ने मुझे बताया कि व्यापारियों को कानूनन् अपनी दुकान पर अपनी विक्रययोग्य सभी वस्तुओं की मूल्य सूची बोर्ड पर लिखकर टांगनी होती है। यह कानून इसलिये बनाया गया होगा कि उपभोक्ता मूल्य स्वयं पढ़ लें और व्यापारी अधिक मूल्य वसूल न कर सके। सोचिये कि कोई व्यापारी ऐसा नहीं करता या अधिक मूल्य वसूलता है तो क्या प्रशासन उसे दंड नहीं देगा? क्या अपने बचाव में वह कह सकता है कि उस आय में से हिस्सा उसके सभी परिवार जनों ने भी बंटाया है सो उन्हें भी दंडित किया जाये? अपराध उसने किया है, दंड भी उस अकेले को भुगतना पड़ेगा। यह स्रोत की जिम्मेदारी होती है कि वह ईमानदारी से व्यापार करे—उसमें बेईमानी नहीं आने दे। स्रोत से नलों में जैसा पानी जायेगा नगरवासी वैसा ही पानी पी सकेंगे। यही स्थिति परिवार के लोगों की भी होती है। वे स्रोत की बेईमानी को जानें या न जानें और प्रत्यक्ष दंड न भी पायें, तब भी उस पानी के जहरीले असर को तो सभी भोगेंगे ही। स्रोत की अशुद्धता स्वयं के लिये तो घातक होती ही है, दूसरों के हितों पर भी आघात पहुँचाती है।

इस स्रोत की अशुद्धता मिटाने का ही अमोघ उपाय है कि आप नित्य-प्रति मंगलपाठ सुनें तथा उस पर मनन करें। मनन करने से आप जान सकेंगे कि लौकिक एवं पारलौकिक जीवन में सम्पूर्ण मंगल के आदर्श प्रतीक कौन हैं तथा उनके आदर्श को सदा सम्मुख रखकर किस प्रकार अपने जीवन तथा उसके प्रभाव से दूसरों के जीवन को भी मंगलमय बनाया जा सकता है!

मंगलपाठ मंगल स्वरूप होता है, क्योंकि इसके प्रत्येक शब्द के उच्चारण से मंगल ध्वनि ही निकलती है। इससे अरिहंत, सिद्ध, साधु तथा धर्म की समग्र मांगलिकता समायी हुई है। इसका आन्तरिक ज्ञान मंगलपाठ के निरन्तर मनन से ही संभव हो सकता है। यदि आप चिन्तन मनन के साथ सम्यक् भाव से सन्तों के मुख से सदा मंगलपाठ सुनते हैं तो आपकी दिनचर्या और जीवन यात्रा विघ्नरहित होगी। मंगलमय होने का मूल अर्थ विघ्नरहित होना ही है। शुभता, निर्विघ्नता तथा मांगलिकता—ये सब साथ-साथ चलने वाली अवस्थाएँ होती हैं, जिनकी सम्प्राप्ति से जीवन में सच्चा सुख और अमिट शान्ति सुलभ की जा सकती है। मंगलाचरण और मंगलपाठ से जिस मंगल का स्रोत फूटता है, वह मंगलमय प्रवाह निरन्तर बहता रहे तो जीवन की समतामय समरसता सम्पन्न बनी रहती है।

दिनांक 19.09.1986

(जलगांव)

## 20

## चिन्तन-क्रम अपनावें

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

परमात्मा के चरणों में जब किसी का एकाग्र रूप से ध्यान संयोजित होता है तो वह उनके ज्ञानालोक को अपने अन्तःकरण में भर लेने के लिये आतुर हो उठता है क्योंकि उसी में उसको शान्ति के आगमन की झलक दिखलाई देती है। ज्ञान की डोरी पकड़कर ही वह चिन्तन की गहराइयों में गोते लगाता है तथा सच्ची शान्ति का अनुसंधान करता है। गूढ़ चिन्तन के क्षणों में ही उसे अपने आत्मस्वरूप की आन्तरिक अनुभूति होती है तो दिव्य अनुभवों के मोती भी मिलते हैं। “जिन खोजा, तिन पाइया; गहरे पानी पैठ” की उक्ति चिन्तन के धारा-प्रवाह में ही सार्थक बनती है। इसी ‘खोजा, पाइया’ में आत्मिक आनन्द एवं शान्ति की उपलब्धि होती है।

चिन्तन का क्रम जब आरंभ किया जाता है, उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान जीवन में चारों ओर अज्ञान का अंधकार ही अंधकार फैला है। इस कारण मानव का अपना ही अन्तरावलोकन संभव नहीं हो पा रहा है। वह अपने भीतर प्रवेश नहीं करता है और उसकी सारी ऊर्जा बाहरी जड़ पदार्थों को प्राप्त करने में ही व्यतीत हो जाती है। इस स्थिति को देख-समझकर चिन्तन की वृत्ति अपना देने की ओर ध्यान जाना चाहिये। वास्तव में व्यवस्थित रूप से जब तक विचार नहीं किया जाता है, तब तक बाहर के कार्य भी सफलता पूर्वक सम्पन्न नहीं किये जा सकते। अपनी ही आन्तरिकता में उतरना, देखना और उसका विकास करना निश्चित रूप से चिन्तन पर ही आधारित रहता है।

चिन्तन ही वह वेला है जब कोई निश्चिन्तता से किसी भी समस्या पर गहराई से विचार कर पाता है। इन्हीं क्षणों में समस्या के सभी पहलुओं पर दृष्टि जाती है और समीक्षात्मक विश्लेषण भी होता है। इस प्रक्रिया से जो समाधान निकलता है, वह अवश्य ही ठोस और सारपूर्ण होता है। यदि सारपूर्ण समाधान



निकाल पाने की क्षमता पैदा हो जाती है तो उस क्षमता के बल पर जीवन की कार्यविधि निर्द्वन्द्व एवं निर्विघ्न बनाई जा सकती है। ऐसा होने पर सफलता फिर दूर कहां रह सकती है?

### चिन्तन, भीतर के परदों को हटाता है

चिन्तन की पहली शर्त है, ध्यान को बाहर से हटाकर भीतर लगाना। भीतर ध्यान जाते ही विविध विचारों का क्रम उमड़ता है जो उस बिन्दु पर जाकर ठहरता है जहां हमें कोई तात्कालिक निर्णय लेना होता है। ऐसी तात्कालिकता के उपरान्त जिज्ञासा जागती है यह जानने की कि भीतर वह कैसी शक्ति होती है, उसका संचलन कैसे होता है तथा उसका प्रयोग किस हेतु, किस तरह किया जा सकता है? इसी जिज्ञासा की अवस्था में भांति-भांति की अनुभूतियाँ होती हैं, क्योंकि अन्तरावलोकन के चरण गहरे उतरते जाते हैं। अन्तरावलोकन के प्रसंग से ही भीतर के परदे हटते, उघड़ते जाते हैं। ये परदे होते हैं अज्ञान के, अनुभवहीनता के तथा अकर्मण्यता के। ज्ञान के बिना कर्म का पग कहां उठता है?

इस प्रकार ज्ञान-प्राप्ति की ओर गति चिन्तन की पहली उपलब्धि होती है। ज्ञान के इसी प्रकाश में अपनी वर्तमान स्थिति समझ में आती है—भीतर की भी और बाहर की भी। तब यह अनुभूति जगती है कि बाहर के पदार्थों को देखने, बाहर की समस्याओं को सुलझाने तथा बाहर के रहस्यों को खोजने-पहचानने की क्षमता भी मेरे भीतर ही है। उस क्षमता के परिणाम स्वरूप ही मैं अनेकानेक दृश्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता हूँ। बाहरी पदार्थों की तरह अपने भीतर के तत्त्वों को भी देखने व समझने की क्षमता भीतर ही है। उसकी सहायता से मैं भीतर की नानाविध-शक्तियों को समझकर पा सकता हूँ। अन्तरावलोकन से ही आत्मस्वरूप की प्रतीति हो सकती है। तभी मुझे अनुभव होता है कि भीतर के तत्त्वों का स्वरूप कितना भव्य और दिव्य है?

ज्यों-ज्यों चिन्तन का क्रम उन्नत होता जाता है, त्यों-त्यों मेरा अनुमान और अनुभव परिपक्व बनता जाता है कि मैं आत्म-शक्तियों को साक्षात् नहीं देख पा रहा हूँ लेकिन उनकी प्रतीति हो रही है। दिमाग में ऐसी बेचैनी महसूस हो रही है कि सोचते रहने को जी-चाहता है क्योंकि परिणाम जानने को मन मचल उठता है। चाहे विधि का ज्ञान न हुआ हो परन्तु चिन्तन का क्रम टूटता नहीं है—जिज्ञासा कड़ी से कड़ी जोड़े रखती है। उस चिन्तन में जीवन की सभी प्रकार की समस्याएँ सामने आती रहती हैं और अपना-अपना समाधान चाहती

हैं। एक बार ऐसा लगता है कि एक अजीब तरह की अशान्ति मन-मस्तिष्क में व्याप्त हो गई है, लेकिन वह अशान्ति अखरती नहीं। हकीकत में वह अधिक से अधिक जान लेने की अशान्ति होती है या यों मानूं कि शान्ति की खोज की ही अशान्ति होती है। वह चिन्तन उपयोगी तथा लाभप्रद मालूम देता है।

समस्याओं पर चिन्तन के ऐसे ही आवेग में परमात्मा के चरणों में पहुँचकर अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने, समस्याओं का दिशा-निर्देश पाने तथा आन्तरिक क्षमता को विकसित करने की सही विधि जानने का मन होता है। अन्तरावलोकन की तीव्र भावना के साथ जब परमात्मा की प्रार्थना की जाती है, तब सारी लगेन भीतर की ओर दौड़ती है। स्वाभाविक है कि उस समय बाहर के दृश्यों को देखने या कि बाहर के पदार्थों को पा लेने की लालसा मन्द पड़ जाती है, बाह्य दृष्टि मुंद जाती है और अन्तर्दृष्टि सजग बन जाती है। ऐसे समय में वह अन्तर्दृष्टि उन परदों पर पड़ती है जिनके नीचे आत्मस्वरूप छिपा है। वह दृष्टि तीखी बनकर उन परदों को भेदती है, उठाती है और उनके नीचे के तत्त्व को देखने का प्रयास करती है। अन्तरावलोकन का ऐसा पुरुषार्थ चिन्तन क्रम को अपनाने से ही सक्रिय होता है जो भीतर के परदों का उघाड़ता है।

### परमात्मा के चरणों में चिन्तन का उभार

मानव जब परमात्मा के चरणों में पहुँचता है, उनकी प्रार्थना सुनता और करता है, सत्संग में बैठता है, सन्तों के मुख से वीतराग वाणी का श्रवण करता है और भावाभिभूत होता है, तब उसे चिन्तन की विधि का भी ज्ञान होता है और वह चिन्तन के नये उभार का भी स्पर्श करता है। प्रारंभ में ऐसा उभार बड़ा अस्थायी रहता है। विचार उठते हैं, संकल्प बनते हैं लेकिन शीघ्र ही वे मन्द भी हो जाते हैं। इस कारण सत्संग का क्रम नियमित चलाना होता है। बार-बार प्रार्थना, प्रवचन और प्रेरणा के सम्बल से चिन्तन के प्रवाह में स्थायित्व आने लगता है और चिन्तन की गहराई भी बढ़ती जाती है। प्रवाह की निरन्तरता के पश्चात् तो आन्तरिक आह्लाद की अनुभूति भी अधिकाधिक आनन्द दायक बनती जाती है। इसे परमात्मा के चरणों में जाने का प्रसाद ही मानना चाहिये कि जिनका आदर्श मनस्वी बनने की सत्प्रेरणा प्रदान करता है।

मन के ऐसे मोड़ के बाद ही मन की गति चिन्तन की गहराइयों में उतरती जाती है तथा तत्त्वों के मोती खोजती रहती है। यह समझने की बात है कि मन की चल-विचल स्थिति में चिन्तन की स्थिरता और अन्तरावलोकन की अवस्था तो दूर की बात है, मामूली काम का भी चेता नहीं बैठता है। आप सन्तों के

प्रवचन सुनते हैं तब हाथ-पांव हिलते रहते हैं और मन चारों ओर दौड़ता रहता है। ऐसे में क्या आपकी एकाग्रता सधती है और आपकी बुद्धि प्रवचन के सारभूत तत्त्व को पकड़ पाती है? मन कुछ और सोच रहा हो तब आप जो सुन रहे हैं, वह पल्ले कैसे पड़ सकता है? इसलिये परमात्मा के चरणों में आकर, संत-सतियों के समागम में बैठकर और वीतराग वाणी को सुनकर आपको अपने मन की गति को सुधारने की कठिनतम चेष्टा करनी चाहिये। मन की गति को सुधार कर ही आप चिन्तन के क्रम को सफलता के साथ अपना सकते हैं।

जीवन बाह्य दृष्टि से तो जैसे जैसे चल रहा है और तदनुकूल शरीर भी अपनी बाह्य क्रियाएँ कर रहा है। साथ ही मन भी बेलगाम घोड़े की तरह जहां-तहां भटक रहा है। अपनी ऐसी अवस्था पर यदि एक क्षण के लिये भी सोचा जायेगा तो कट्टु अनुभव होगा कि जीवन में कैसी रिक्तता छायी है और अन्तःकरण हताशा, कुंठा और उदासी से भरा हुआ है कि कहीं चैन नहीं मिलता! भीतर तनिक भी पैठ नहीं होने से कहीं भी कुछ भी सार्थक कार्य कर लेने का अवसर नहीं आता। जीने में न प्रफुल्लता ही होती है और न शान्ति। इस अस्त-व्यस्त मानसिकता में कर्तव्यों का सम्यक् बोध कैसे हो सकता है? किंकर्तव्यविमूढ़ता की दशा बनी रहती है। मन कुछ निर्णय ले नहीं पाता, इस कारण जीवन में निश्चित गति या प्रगति के दर्शन नहीं होते। कोरी बाह्य दृष्टि में अन्तर्दृष्टि के विकास का तो प्रश्न ही नहीं उठता, बाह्य दृष्टि भी अधिकांशतः विफल ही रहती है।

सत्य वस्तुस्थिति यह है कि चिन्तन के अभाव में समूचा जीवन न घर का रहता है न घाट का। निर्णयहीनता उसे कहीं का नहीं रखती। समय बहता है, जीवन चलता है लेकिन वह दुःख, पीड़ा तथा अशान्ति से निरन्तर आकुल-व्याकुल बना रहता है। इससे मुक्त हुए बिना जीवन गति ही नहीं पकड़ता। अतः परमात्मा के चरणों में जायें जिसका अर्थ है सन्तों के सत्संग में बैठें और उनसे आत्म-विकास की विधि का ज्ञान लें। इसी ज्ञान से चिन्तन का क्रम आरंभ हो सकेगा, चिन्तन में नया उभार पैदा हो सकेगा, तथा अन्तरावलोकन के साथ आत्म-शक्तियों का परिचय भी मिल सकेगा।

### चिन्तनहीनता से उपजती है हीनता ?

मनुष्य जब अपने बारे में नहीं सोचता, दूसरों के बारे में नहीं सोचता, किसी कार्य सिद्धि के बारे में नहीं सोचता तो कहीं भी वह सफल कैसे हो सकता है? सफलता नहीं तो जीवन की सार्थकता ही क्या? फिर जैसे-तैसे जीना तो पशु जीवन से भी बदतर हो जाता है। न कोई विकासकारी लक्ष्य, न विशिष्ट

प्रयोजन और न कोई चिन्तन-मनन का क्रम! तब जीवन अक्षम और हीन हो जाता है। जीवन में चिन्तन का क्रम हो, तभी लक्ष्य का निर्धारण होता है या प्रयोजन की स्पष्टता समझ में आती है। तभी गति व प्रगति का उत्साह पैदा होता है। अतः चिन्तनहीनता समूचे जीवन को इस कदर निरर्थक बना देती है कि हीनता छाने लगती है और मनुष्य अपने आपको हीन मान लेता है। हीनता की धारणा जब मन में गहरे घुसकर जम जाती है तो फिर उसे मिटा पाना और प्रगति की उमंग जगाना दुष्कर हो जाता है। यह हीनमन्यता उसे असमर्थ ही नहीं बनाती, बल्कि उसके कर्तव्याकर्तव्य का विवेक भी खो जाता है और जीवन अकर्मण्य, पंगु बन जाता है।

कभी ऐसे लोग भी दिखलाई देते हैं जो भीतर से अस्थिर, अकर्मण्य और पंगु होते हैं लेकिन बाहर से ऐसा दर्शाते हैं जैसे उनके जैसा कर्मठ कोई नहीं है। ऐसे लोग किसी के साथ मित्रता करते हैं तो दिखाते हैं कि उनकी मित्रता इतनी गहरी है कि दो शरीर एक प्राण है। उनका यह गहरापन भीतर तो उतरता नहीं और एक दिन दर्शनी हुंडी की तरह नाकाम साबित हो जाता है। इस बारे में एक दृष्टान्त याद आ गया है।

सज्जन और दुर्जन दो घनिष्ठ मित्र थे जिनके मन को स्थिरता का अभ्यास नहीं था क्योंकि उनके जीवन में चिन्तन का कोई क्रम नहीं था। दोनों बाहर से तो एकरूप प्रतीत होते थे किन्तु उनकी आन्तरिक गतिविधियाँ विचित्र रूप से चल रही थीं। दोनों बचपन के साथी थे। दोनों ने सोच विचारकर योजना बनाई कि शहर में चलकर धन सम्पत्ति का अर्जन किया जाये और सभी समस्याओं का हल निकाल लिया जाये। दोनों शहर चले गये और मिलकर धनार्जन करने लगे। भाग्य ने साथ दिया और उन्हें दस हजार स्वर्णमुद्राओं का लाभ मिल गया। वे वापस अपने गांव के लिये चल दिये। पुराने समय में पैदल यात्राएँ होती थीं, सो वे चलते हुए जब गांव के समीप पहुँचे तो दुर्जन सज्जन से बोला—भाई, हम इतने गरीब थे कि हमारी सम्पत्ति देखकर गांव वाले विश्वास नहीं करेंगे कि हमने इतनी सम्पत्ति कमा ली है, सो अपन इसका बंटवारा कर लें। मेरा सुझाव है कि इनमें से सौ-सौ स्वर्णमुद्राएँ हम दोनों ले लें और बाकी स्वर्णमुद्राओं को किसी वृक्ष के नीचे गाड़ दें। सौ-सौ स्वर्णमुद्राएँ ही अपने पास होने के कारण कोई गांव वाला हमारे प्रति किसी तरह की आशंका नहीं करेगा और जब आवश्यकता होगी तो उसके अनुसार हम गड़ी हुई स्वर्णमुद्राओं में से निकाल लिया करेंगे। सज्जन को मित्र दुर्जन का सुझाव ठीक लगा और उसने इसे मान लिया। तदनुसार सौ-सौ स्वर्ण मुद्राएँ उन दोनों ने रखीं और बाकी एक वृक्ष के नीचे गाड़ दी।

फिर दोनों मित्र गांव में पहुँच कर रहने लगे। उन्होंने कुछ-कुछ व्यापार भी चालू किया। कुछ समय बाद सज्जन के पास की सौ स्वर्णमुद्राएँ खर्च हो गई तो उसने यह बात दुर्जन से कही तथा दोनों साथ-साथ उस वृक्ष के नीचे पहुँचे। निश्चित स्थान पर खुदाई की तो देखा कि स्वर्ण मुद्राओं के स्थान पर सिर्फ कोयले पड़े हुए हैं। सज्जन यह देखते ही चौंक उठा और सोचने लगा कि ऐसा कैसे हो गया? किन्तु दुर्जन तो जोर-जोर से रोने लगा—सिर पीटने लगा। यह देखकर सज्जन ने सरल भाव से कहा—भाई जो होना था सो हो गया—अब रोने से क्या लाभ है? हम फिर कमाई करेंगे। शायद यहां स्वर्णमुद्राओं को गाड़ते समय किसी ने देख लिया था। लेकिन दुर्जन की दुर्जनता उभर आई थी, वह क्रोध में लाल पीला होकर कहने लगा—ऐ दुष्ट, सारी स्वर्णमुद्राएँ तू ही निकाल कर ले गया है, इसीलिये तो तुझे तनिक भी दुःख नहीं हो रहा है। वह बुरी तरह चिल्लाने और झगड़ने लगा। फिर दुर्जन न्याय पाने के लिये राजा के पास पहुँचा और सज्जन पर आरोप लगाकर उनसे अपना हिस्सा दिलाने की मांग की। राजा ने सज्जन से उस बारे में पूछा तो उसने जो हकीकत थी, वह बता दी। राजा चतुर और मनोविज्ञान का ज्ञाता था। उसने दुर्जन की सारी हरकतों पर बारीकी से विचार किया और मन ही मन में वह वास्तविकता तक पहुँच गया।

राजा को विश्वास हो गया कि दुर्जन के जो हावभाव हैं, वे बनावटी हैं तथा असल में सारी स्वर्ण मुद्राएँ वही ले गया है। किन्तु प्रमाण का अभाव था। केवल अनुमान पर न्याय करना उचित नहीं था। राजा ने सज्जन से कहा—तुम्हारी बात का सबूत क्या है? इस पर सज्जन कुछ नहीं बोला, किन्तु दुर्जन बिना पूछे ही कहने लगा—महाराज! देखने-सुनने वाले तो रिश्वत लेकर बदल भी जाते हैं लेकिन मैं नैसर्गिक प्रमाण दे सकता हूँ। मैं उस वृक्ष से साक्षी दिलवाऊंगा। राजा मन ही मन आश्चर्यचकित हो गया कि ऐसा तो कभी देखा-सुना नहीं। दुर्जन ने कहा कि अगर मैं अपराधी होऊंगा तो वृक्ष कुछ भी नहीं बोलेगा और अगर मैं सच्चा होऊंगा तो वृक्ष अपने आप बोलने लगेगा। यह बात सारे नगर में फैल गई। दूसरे दिन सूर्योदय के बाद जब दोनों मित्र और राजा अपने अनुचरों सहित उस वृक्ष के पास पहुँचे तो कौतूहल वश बहुत बड़ा जन समुदाय भी वहां पहुँच गया। उस समय सच्चा होने के कारण सज्जन के मन में तो पूरी निर्भयता थी लेकिन दुःख यह था कि दुर्जन ने उस पर आरोप क्यों लगाया? तभी दुर्जन सबके सामने खड़ा होकर चिल्लाने लगा—सज्जन मेरा बचपन का मित्र है और मैंने सदा इसके साथ सचाई रखी है। मेरा नाम भले ही दुर्जन हो, लेकिन मेरी सज्जनता इससे भी बढ़कर है। फिर भी सज्जन मुझे धोखा देकर अकेला सारी

स्वर्ण मुद्राएँ ले गया। इसकी साक्षी यह वृक्ष भी दे रहा है। तभी वृक्ष के शिखर से आवाज आई सारी स्वर्ण मुद्राएँ सज्जन ले गया है और दुर्जन निर्दोष है। यह सुनकर राजा स्तंभित रह गया कि आज तक वृक्ष ने साक्षी दी हो—ऐसा नहीं हुआ तो मानना चाहिये कि दुर्जन ही सच्चा है। राजा चिन्तनशील नहीं था अतः आन्तरिकता में उतरकर कुछ देख पाना उसके वश में नहीं था। लेकिन, सज्जन चिन्तनशील था और उसका मन निश्चल था। पर, बोलने के लिये उसके पास कुछ नहीं था, सो वह चुप रहा। तब राजा ही बोला—सज्जन, तुम ही अपराधी हो, तुम्हें स्वर्ण मुद्राएँ दुर्जन को देनी होंगी। तुम अपने बचाव में क्या कहना चाहते हो? सज्जन कहने लगा, मुझे थोड़ा-सा समय चिन्तन और अन्तरावलोकन के लिये दीजिये, तब मैं आपको उत्तर देता हूँ। राजा ने स्वीकृति दे दी।

सज्जन सोचने लगा कि दुर्जन मेरा मित्र जरूर रहा है लेकिन प्रारंभ से ही उसकी बाह्य दृष्टि ही मुख्य थी, जबकि मेरी बाह्य पदार्थों पर कभी कोई लालसा नहीं रही। मैंने हमेशा अपने मन को ही सच्चा समझा है। तभी तो जब दुर्जन के साथ धनार्जन के लिये शहर जाने की योजना बनी तब मेरे मन ने मना किया था—फिर भी मैं सहज भाव से चला गया था। इसी कारण आज यह वेला आई है कि सचाई के साथ चलने वाले पर ही झूठा आरोप लग रहा है। यह वेला कठिन परीक्षा की है। चिन्तन और अन्तरावलोकन के उन क्षणों में जैसे उसके मन में तेज प्रकाश कौंधा और ऐसा बोध मिला कि उसने तत्क्षण अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया। उधर सज्जन की चुप्पी पर दुर्जन मन ही मन फूला नहीं समा रहा था।

तभी सज्जन ने राजा को उत्तर देना शुरू किया—महाराज, कुछ दिनों पहले की बात है, मैं इसी वृक्ष के पास से गुजर रहा था तो इसकी खोखल में एक काला नाग फुफकार रहा था। फिर मुझे सूचना मिली कि इसी वृक्ष के नीचे मेरी मृत्यु हो जायेगी। शायद वह अवसर आज आ गया है। मैं सोचता हूँ कि मरने से पहले इस वृक्ष की खोखल को साफ कर लूँ, ताकि किसी को काले नाग का भय न रहे। यह कहकर उसने घास-फूस एकत्रित किया और उसे खोखल में रखकर आग लगा दी। ज्यों ही आग तेज हुई, सबने देखा खोखल में से घबराया हुआ एक बुजुर्ग बाहर निकल आया। उसे देखकर राजा चौंका, पता लगाया तो मालूम हुआ कि वह व्यक्ति दुर्जन का पिता है। तब राजा को वृक्ष की गवाही का रहस्य ज्ञात हो गया और यह भी कि सारे मामले की असलियत क्या है। वह वृद्ध व्यक्ति राजा के पैरों में गिरकर गिड़गिड़ाने लगा—राजन्, मुझे माफ कर

दीजिये। वास्तव में अपराध मेरे बेटे ने किया है और सज्जन निर्दोष है। दुर्जन ने धमकी देकर ऐसा काम मुझे करने के लिये मजबूर कर दिया था। मैंने गलती की है—मुझे माफ कर दें। खैर, राजा ने दुर्जन को उचित दंड दिया और सज्जन की सचाई की भूरि-भूरि सराहना की। कहने का अभिप्राय यह है कि जो चिन्तन और अपना अन्तरावलोकन करता है, वह सत्य का साथ कभी नहीं छोड़ता है। अन्ततोगत्वा सत्य की विजय अवश्य होती है। इसके विपरीत जिसकी दृष्टि बाहर ही बाहर दौड़ती है, जो चिन्तन हीन होता है, निश्चय ही उसका सारा जीवन इतना हीन बन जाता है कि वह अपनी बाहरी लालसाओं की पूर्ति के लिये कुछ भी अनर्थ और अपराध कर सकता है। उसके सामने तब कोई भी सम्बन्ध—चाहे वह सच्ची मित्रता का ही हो सारपूर्ण नहीं रहता और वह अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये मायावी विद्रोही बन जाता है।

### आत्मावलोकन की महती आवश्यकता

सोचिये कि आप अपनी दृष्टि को कैसी बनाना चाहते हैं? क्या उसे आप बहिर्मुखी ही रखना चाहते हैं जो आप को बाहरी पदार्थों तथा दृश्यों में ही घुमाती रहे? आपके मन को मोह, माया, काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि विकारों से ग्रस्त बनाती रहे? या आप अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी बनाने के लिये भी उत्सुक हैं ताकि अपने वर्तमान जीवन तथा आत्मा के मूल स्वरूप पर तुलनात्मक दृष्टि डाल सकें और विकास की ऊँचाइयों पर चढ़ते रहने का पुरुषार्थ दिखा सकें? इन विकल्पों को समझने तथा सही विकल्प को अपनाने के लिये वास्तव में चिन्तन की आवश्यकता होगी। चिन्तन करके ही सही निर्णय लिया जा सकेगा, क्योंकि चिन्तन करने से ही भीतर प्रवेश हो सकता है और अन्तरावलोकन का अभ्यास बनाया जा सकता है।

इसलिये किसी भी अन्तर्पथ यात्री के लिये चिन्तन और अन्तरावलोकन की महती आवश्यकता मानी गई है। प्रत्येक साधक को अपनी आत्मा का अवलोकन करना चाहिये ताकि आलोचना की पद्धति से मलिन स्वरूप को परिमार्जित करके निर्मल बनाया जा सके। मैं चाहता हूँ कि आप में से अधिकाधिक व्यक्ति अपने आप को अन्तर्पथ के यात्री बनाने के लिये तैयार हों। मन की गहराइयों में उतरकर जब तक आत्मा को जागृत एवं स्वानुशासित बनाने की शक्ति प्राप्त नहीं होती है तब तक जीवन में फैले अंधकार को दूर नहीं किया जा सकता है। वहाँ प्रकाश की किरणें चिन्तन और मनन के निरन्तर अभ्यास से ही प्रकट हो सकेंगी, तभी अन्तरावलोकन में सफलता प्राप्त होगी।

अन्तरावलोकन से भीतर के दृश्यों को देखने का अवसर मिलेगा और यह अनुभूति मिलेगी कि उनमें रमण करते हुए कितने दिव्य आत्मिक आनन्द की उपलब्धि होती है।

अन्तरावलोकन के परिणाम स्वरूप जब एक बार आत्म-स्वरूप की जागृति एवं आत्मानन्द की अनुभूति हो जाती है, तब समझिये कि उसे आत्मबोध की सिद्धि भी मिल जाती है। फिर उसे प्रवचन की आवश्यकता नहीं रहती है। उसका ज्ञान तब विस्तृत होकर आत्मानुभाव में व्याप्त हो जाता है और निरन्तर चिन्तन के माध्यम से वह आलोड़ित होता रहता है। इससे अनुभूतियों के जो मोती निकलते हैं, वे ऐसे विचार कण होते हैं जिनका प्रकाश दीर्घकाल तक फैला हुआ रहता है तथा भव्य जनों को प्रतिबोधित करता रहता है।

किन्तु इस प्रकार के विकास की शर्त है और वह यह कि अपने आत्मस्वरूप का निरीक्षण एवं परीक्षण नित्य-प्रति नियमपूर्वक किया जाता रहना चाहिये। निरीक्षण से विदित होता रहेगा कि शिथिलता से कहीं विकारों का मल तो नहीं बढ़ने लगा है। सांसारिक संसर्ग से यदि ऐसा मल बढ़ने लगा हो तो उसका ज्ञान परीक्षण से हो जायेगा जिसे साधना, संयम व तप की आराधना से परिमार्जित करना होगा। तब स्वरूप में पुनः निर्मलता लायी जा सकेगी। वीतराग देवों के उपदेशों को अन्तःकरण में रमाकर और उनका जीवन के वर्तन में अनुकरण कर उस निर्मलता को बनाया रखा जा सकेगा। अन्तरावलोकन की इस प्रकार की प्रक्रिया चिन्तन के धरातल पर निरन्तर चलती रहनी चाहिये।

### चिन्तन के सात आध्यात्मिक फल

शास्त्रकारों ने चिन्तन को अतीव फलदायी बताते हुए चिन्तन के आध्यात्मिक स्वरूप एवं फल पर भी प्रकाश डाला है। उनका निर्देश है कि प्रातः काल के समय निद्रा से जागृत होते ही इस रूप में वीतराग भगवान् का स्मरण एवं चिन्तन करना चाहिये। संसार के प्राणियों में द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीव उत्कृष्ट हैं और उनमें भी पंचेन्द्रिय सर्व श्रेष्ठ हैं। पंचेन्द्रियों में मनुष्य तथा मनुष्यों में आर्य क्षेत्र प्रधान है। आर्य क्षेत्र में भी उत्तम कुल तथा उत्तम जाति दुष्प्राप्य है। ऐसे कुल तथा जाति में जन्म प्राप्त करके शरीर का पूर्णांग होना, उसमें भी धर्माचरण की क्षमता मिलना तथा क्षमता मिलने पर भी धर्म के प्रति उत्साह होना कठिन है। उत्साह होने पर भी तत्त्वों को जानना और जानकर भी सम्यक् श्रद्धा होना अति कठिन है। श्रद्धा होने पर भी शील, सुस्वभाव एवं सत्चरित्र की प्राप्ति दुर्लभ होती है। इसके उपरान्त भी क्षायिक भाव तथा उसमें भी केवल



ज्ञान सर्वाधिक दुर्लभ है। कैवल्य की प्राप्ति हो जाने पर अनन्त सुख स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। जन्म, जरा, मृत्यु जैसे दुःखों से भरे इस संसार में तनिक-सा भी सुख नहीं है, अतः मोक्ष के लिये ही पुरुषार्थ किया जाना चाहिये।

इस प्रकार आध्यात्मिक चिन्तन के सात फल शास्त्रों में बताये गये हैं—

1. वैराग्य—इस संसार से विरक्त होकर आत्माभिमुखी हो जाना।
2. कर्मों का नाश—शुभ चिन्तन से आत्मा द्वारा पूर्व संचित कर्मों का नाश होता है तथा आत्मस्वरूप में हलकापन आता है।
3. विशुद्धज्ञान—चिन्तन करते रहने से ज्ञान की गहराई और शुद्धता निरन्तर समृद्ध होती रहती है।
4. चारित्र्य की वृद्धि—ज्ञान की विशुद्धता के साथ आचरण की सुघड़ता बढ़ती है और चारित्र्य शक्ति कठोर बनती है जिस से आत्मीय निर्मलता का विकास होता रहता है।
5. धर्म में स्थिरता—ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की अभिवृद्धि के साथ स्वभाव में अवस्थिति बनती है तथा कर्तव्य पथ पर दृढ़ता एवं धर्म में स्थिरता प्राप्त होती है।
6. शुभ आयु का बंध—धर्माचरण से पुण्य कर्मों का उपार्जन होता है तथा उनके फलस्वरूप शुभ आयु का बंध होता है जिसमें मोक्ष प्राप्ति के लिये विशिष्ट पुरुषार्थ करने का शुभ अवसर मिलता है।
7. तत्त्व ज्ञान का बोध—चिन्तन का सर्वश्रेष्ठ फल यह मिलता है कि विचारों एवं भावनाओं में रमे हुए ज्ञान का इससे मंथन होता है—वह मंथन निरन्तर चलता रहता है और उसी मंथन से मक्खन रूप तत्त्व ज्ञान का बोध प्राप्त होता है।

चिन्तन की यह प्रक्रिया ही अन्ततोगत्वा मोक्ष-प्रदायिनी बनती है।

### चिन्तन की मथनी और तत्त्व ज्ञान का मक्खन

सच पूछें तो जितना भी ज्ञान प्राप्त किया जाता है, यदि उसे चिन्तन की मथनी से मथा न जाये तो उससे तत्त्व ज्ञान का मक्खन मिलना मुश्किल ही रहता है। चिन्तन के क्षणों में ही प्राप्त ज्ञान पर पुनर्विचार होता है और उसका विश्लेषण चलता रहता है। विश्लेषण से अनाज अलग और भूसा अलग होता रहता है जिससे यह लाभ होता है कि विशुद्ध ज्ञान ही अपने पास रह जाता है तथा अशुद्ध ज्ञान छूट जाता है। चिन्तन का मंथन फिर भी चलता रहता है जिससे तत्त्व ज्ञान का मक्खन मिलता है। यह तत्त्व ज्ञान ही आत्मा को उसके चरम लक्ष्य तक पहुँचाता है।

चिन्तन करने से संसार से विरक्ति हो जाती है। तत्त्व चिन्तन रूप तप से कर्मों का क्षय होता है तथा ज्ञान का घात करने वाले कर्मों के दूर हो जाने से विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति होती है। तब मोहनीय कर्म हलका होता है जिससे

चारित्र्य गुण की वृद्धि होती है। संसार को तुच्छ तथा पाप का कारण समझने से धर्म में स्थिरता बढ़ती है। इस तरह का चिन्तन करते समय यदि आयुष्य का बंध हो तो शुभ गति की प्राप्ति होती है। अतः तत्त्वों का पूर्ण मनोयोग पूर्वक अभ्यास करने से बोधि अर्थात् कल्याण की उपलब्धि हो जाती है। यह बोधि ही वह तत्त्व-ज्ञान होता है जिसके प्रभाव से श्रेयकारी उत्तम गुणों का सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वोच्च विकास सुलभ होता है।

इस प्रकार चिन्तन का अपूर्व महत्त्व होता है। इस प्रकार के क्रम को जो अपने जीवन में सुव्यवस्थित बना लेता है, वह आत्मावलोकन की सीढ़ियों पर आरूढ़ होता हुआ एक दिन मोक्ष के उच्च शिखर पर अवस्थित हो जाता है। अतः अपूर्व एवं अनन्त आत्मिक आनन्द को प्राप्त करना है तो चिन्तन की मथनी चलाइये और तत्त्व ज्ञान का मक्खन पाइये।

दिनांक 20.09.1986

(जलगांव)

## 21

## कहें आत्मा का अवलोकन

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

वीतराग देवों की अमृत वाणी का प्रवचन श्रवण किया जा रहा है, क्योंकि उसमें सारभूत एवं अति महत्त्वपूर्ण अर्थ समाया हुआ है। शब्द एक वर्णनात्मक रचना होती है किन्तु रचना-रचना में भी बड़ा अन्तर होता है। एक रचना ऐसी जिसमें अर्थ की न सुदृढ़ता होती है और न स्पष्टता तथा एक रचना ऐसी होती है जिसमें सारपूर्ण अर्थ का इस तरह नियोजन होता है जैसे कि गागर में सागर समाया हुआ हो। कम शब्दों में अधिक भावों का समावेश कर देना—यही तो ज्ञान गांभीर्य होता है। परम ज्ञानियों के मुख से जो शब्द निःसृत होते हैं वे सूत्र रूप में होते हैं। सूत्रों के प्रणेता परम ज्ञानी होते हैं तो उन सूत्रों के गूढार्थ को समझ सकने वाले भी विशिष्ट पुरुष ही होते हैं।

सोचिये कि शरीर भी शाब्दिक दृष्टि से एक शब्द-रचना है। इस एक शब्द के अन्तर्गत जिस अर्थ का समावेश है, उसका यदि सूक्ष्म रीति से अनुसंधान और परीक्षण किया जाय तो विदित हो सकेगा कि इस शरीर से समग्र संसार का अनुबोध होता है। विराट् विश्व का सार तथा इस विश्व में रहे हुए अनेक तत्त्वों का निष्कर्ष इस शरीर शब्द के अन्तर्गत आ जाता है। किन्तु इस शरीर का इस रूप में अर्थ समझने का उतना प्रयास नहीं किया जाता है जितना कि किया जाना चाहिये। अधिकांशतः मानव इस शरीर के बहुआयामी अर्थ का गंभीरता पूर्वक चिन्तन नहीं करता है। उसकी तो अपने शरीर के प्रति उतनी ही रुचि रहती है कि वह शरीर को बाहर से साफ रखता है, सजाता-संवारता है और उसकी सुरक्षा का हर समय पूरा ध्यान रखता है। शरीर के बारे में भी उसकी सार सम्हाल व परवाह बाहर के रूप में ही वह अधिक करता है। शरीर के भीतर ही कौन-कौन से अवयव हैं, कैसा नाड़ी तंत्र है, रंध्र स्थिति क्या है अथवा योग साधना में शरीर की भीतरी प्रक्रियाएँ किस प्रकार चलती हैं—इनके विषय

में बहुत कम व्यक्ति और वे भी बहुत कम ही जानते होंगे। पूरे शरीर पिंड का भीतरी स्वरूप क्या है, ऊर्जा के स्रोत कौन-से हैं तथा श्वासोच्छ्वास, पाचन, अथवा मस्तिष्क संस्थान की क्रियाओं पर किस विधि से नियंत्रण पाया जा सकता है? इस विषय का गहरा ज्ञान तो विरले योगियों को ही होगा।

शरीर तो जड़ तत्त्वों से निर्मित होता है और जब जड़ तत्त्वों के रहस्यों को समझने में भी इतना पिछड़ापन है तो शरीर की आन्तरिकता में बस रहे आत्मस्वरूप की सूक्ष्मता का ज्ञान करना व अनुभव लेना निश्चय ही दुस्साध्य माना जायेगा। इसके लिये मानव को अपना दृष्टि-विकास करना होगा कि वह शरीर पिंड को पूरी तरह से जाने, आत्मा के स्वरूप का अवलोकन करे तथा जीवन जीने की वास्तविक कला को सीखे। जीवन के अनेकानेक रहस्यों की पहचान उसे तभी हो सकती है जब वह आत्मस्वरूप का गहराई से अवलोकन करे तथा शरीर को धर्म का साधन बनावे।

### रत्नों की परख के बिना वे कांच के टुकड़े रहते हैं

कल्पना करें कि कई प्रकार के बहुमूल्य रत्न किसी ऐसे व्यक्ति के पास रखे हुए हों, जिनकी परख उसे नहीं है तो क्या वह उन रत्नों के मूल्य का ज्ञान करके उन्हें अपने लिये तदनुसार उपयोगी मान सकता है? वे रत्न उसके पास इतने से विचार के साथ ही पड़े रहते हैं, जैसे वे कांच के खूबसूरत टुकड़े मात्र हों। वह उस दशा में न तो उनका उपयुक्त लाभ उठा सकता है और न ही उनकी प्राप्ति को अपने लिये गौरव का विषय मान सकता है। ऐसी ही मनःस्थिति उस व्यक्ति की भी होती है जो अपने प्राप्त शरीर तथा अपनी अनेक शक्तियों की धनी आत्मा को नहीं पहचानता तथा उनका समुचित उपयोग करके अपनी विकास यात्रा को सफल नहीं बनाता। यह अज्ञान और चिन्तन के अभाव का दुष्परिणाम होता है।

रत्नों की परख के बिना वे कांच के टुकड़े ही रहते हैं तो बिना ज्ञान एवं चिन्तन के रहस्यमय शक्तियों से परिपूरित यह मानव देह तथा समस्त विश्व को आन्दोलित कर सकने वाली अनन्त शक्तिशालिनी आत्मा श्री-हीन और प्राणहीन ही बनी रह जाती है। साधन न हो और कोई उपयुक्त कार्य न कर सके—यह दूसरी बात है किन्तु अपने पास समर्थ साधन होते हुए उनकी पहचान न कर सकें, उनका प्रयोग न कर सकें तथा उनकी छिपी हुई शक्तियों को प्रभावकारी ढंग से सक्रिय न बना सकें तो यह कितनी लज्जा की बात होगी। ये शक्तियाँ एक प्रकार से शरीर की तिजोरी में भरे हुए अमूल्य रत्नों के समान

हैं। ये अपने ही पास हैं, इनका कहीं बाहर से उपार्जन नहीं करना है। मानव को इतना मात्र ही करना है कि वह इस बन्द तिजोरी को खोलना सीख ले तथा भीतर पड़े हुए रत्नों की भली-भांति परख करले, ताकि यथा समय उपयुक्त रत्न का प्रयोग करके अपने कार्य की सिद्धि कर सके। इसके विपरीत यदि वह तिजोरी को भी न समझे और रत्नों के अस्तित्व को भी न जाने तो यह उसकी नादानी ही होगी। क्या ऐसी नादानी आज का मानव भी कहीं कर तो नहीं रहा है? यह सबके सोचने की बात है। लगता तो ऐसा ही है कि वह अज्ञानवश उन रत्नों का विसर्जन कर रहा है—उनको कांच के टुकड़े मानकर चल रहा है।

आप इस पर कहना चाहेंगे कि इतनी तीव्र बुद्धि का धनी आज का मानव ऐसी मूर्खता कदापि नहीं कर सकता है। मुकुट में जड़ने लायक रत्नों से यदि वह कौड़ियों का खेल खेले और रत्नों की बेकद्री करे तो वह बुद्धिमानी कभी नहीं कहलायेगी। आज का मानव अपने आत्मस्वरूप को उजागर करने वाली शक्तियों को मात्र भौतिक पदार्थों की उपलब्धि में व्यय करके क्या उनका घोर दुरुपयोग नहीं कर रहा है? यह रत्नों को कौड़ियों के मोल देना ही तो हुआ। भौतिक धन सम्पदा को प्राप्त कर लेने के कामों पर ही आज उसका सारा ध्यान केन्द्रित बना हुआ है। वह यह भी नहीं सोचता कि एक दिन मृत्यु आ जाने पर उसे अर्जित सारी धन सम्पदा को छोड़कर यहां से चले जाना होगा। तब उसके सारे जीवन का सारा परिश्रम उसके लिये निरर्थक हो जायेगा। जब परलोक की यात्रा शुरू होगी, उस समय मोह के वशीभूत बने रहकर कितना भीषण कष्ट भोगना पड़ेगा—इसका भी वह विचार नहीं करता है। इसलिये यह ज्ञान प्राप्त करना आज के मानव के लिये अनिवार्य है कि वह शरीर पिंड तथा आत्मस्वरूप के अपार रहस्यों तथा तत्त्वों का सूक्ष्मता से ज्ञान करे और रत्नों के मूल्य को जाने ताकि वह उनसे कांच की टुकड़ों की तरह खिलवाड़ न करे और उनका दुरुपयोग या कि अपव्यय करने से बचे।

### विनश्वर शरीर का मूल्यांकन क्या ?

यह सुनिश्चित है कि एक दिन इस प्राप्त शरीर को छोड़कर परलोक में जाना होता है। जिस समय परलोक की यात्रा प्रारंभ होती है, उसके पहले आत्मा को कितना कष्ट होता है—उसकी कोई परिसीमा नहीं है। उस शरीर में रहते हुए कोई नहीं चाहता कि उसे इस शरीर से सम्बन्ध तोड़ना है और उसे छोड़ना पड़ेगा। परिणाम स्वरूप अधिकांश लोगों की अन्त तक भी इस शरीर में आसक्ति बनी रहती है। अन्तिम समय तक ऐसी आसक्ति के कारण उस समय

वह उसी शरीर में कीट कृमि के रूप में जन्म ले सकता है। इस तरह पहले के जीवन की तुलना में उसे अत्यन्त निकृष्ट गति प्राप्त हो जाती है।

इसी पक्ष को स्पष्ट करते हुए भगवान् महावीर स्वामी ने अपने शिष्य गौतम गणधर को बड़ा ही सारपूर्ण उपदेश दिया जिससे प्रत्येक भव्य आत्मा सावधानी ले सकती है। गौतम गणधर वीर प्रभु की सेवा में तन्मय बनने वाले प्रथम शिष्य थे। भगवान् ने चतुर्विध संघ की स्थापना की थी जिसके सदस्य अपनी जिज्ञासाओं के समाधान भगवान् के मुख से सुनना चाहते थे किन्तु संकोचवश स्वयं प्रश्न नहीं कर पाते थे। अतः वे अपने मन की शंकाएँ गौतम स्वामी से निवेदन करते थे और गौतम स्वामी भगवान् से प्रश्न किया करते थे। गौतम स्वामी ये प्रश्न व्यापक हित की दृष्टि से पूछा करते थे। ऐसे अनेक प्रश्नों तथा समाधानों का उल्लेख शास्त्रकारों ने किया है। ऐसे ही एक प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया कि हे गौतम, तुम अपने इस वर्तमान जीवन तथा शरीर का जो अर्थ समझ रहे हो, वह अर्थ प्रतिक्षण बदल रहा है। प्रतिक्षण इस शरीर के सूक्ष्म स्कंध निकल रहे हैं तथा शरीर जीर्णता को प्राप्त होता जा रहा है। जब तक इस सत्य का ज्ञान नहीं किया जाता है, तब तक शरीर का यथार्थ स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता है। जब तुम कैवल्यज्ञान को प्राप्त कर लोगे, तब स्वयं ही सम्पूर्ण सत्य को हस्तामलकवत् जान लोगे।

इस शरीर को विनश्वर माना गया है तथा इसकी तुलना कर्पूर की टिकिया से की गई है। कर्पूर की टिकिया को हथेली पर रखें या तिजोरी में सुरक्षित रख दें, उसके परमाणु निरन्तर वायु प्रवाह में विलीन होते हुए चले जाते हैं। देखते-देखते वह टिकिया हवा में उड़ जाती है। क्या ऐसी ही घटती हुई शरीर की अवस्था को आप नहीं देखते हैं या कि अनुभव नहीं करते हैं? शरीर की विनश्वरता को समझना ही तो शरीर को भली-भाँति जानना है। यह शरीर प्रतिक्षण प्रतिदिन जीर्ण होते हुए एक न एक दिन नष्ट होने वाला है। आप देखते हैं कि युवावस्था ढलने पर शरीर के अवयव शिथिल होते चले जाते हैं। बाल सफेद हो जाते हैं, दांत टूट जाते हैं और गर्दन हिलने व देह लड़खड़ाने लग जाती है। शरीर की ऐसी बाह्य दशा का कुप्रभाव भीतर की अवस्था पर भी पड़े बिना नहीं रहता है। तब आन्तरिकता में प्रवेश पाना तथा वहां रमण करना भी दुःसाध्य हो जाता है। शरीर के प्रति आसक्ति जब तक बनी रहती है, तब तक न तो शरीर के सामर्थ्य का सही मूल्यांकन हो पाता है और न ही उस विपुल सामर्थ्य का सदुपयोग। यह आसक्ति उसके इस सामर्थ्य को बर्बाद कर देती है तथा बिना सही उपयोग के जीवन को निरर्थक बनाते हुए यह शरीर विनष्ट हो जाता है।

## आसक्ति से हटकर ही शरीर का सच्चा मूल्यांकन

इस कारण यदि शरीर का सच्चा मूल्यांकन करना है तो शरीर की आसक्ति से हटकर तथा शरीर के जीर्ण होने से पहले ही कुछ करना चाहिये। शरीर के पूर्ण समर्थ होने के समय यदि शरीर के प्रति रहने वाली आसक्ति को हटा दें तो भोग हेतु शरीर को पुष्ट बनाने वाली झूठी धारणा समाप्त हो जायेगी तथा शरीर को धर्माचरण का सशक्त साधन बना देने की भावना साकार रूप ग्रहण करने लगेगी। जब तक शरीर में कुछ कर-गुजरने का सामर्थ्य होता है, उस समय में यदि आत्मस्वरूप की पहचान कर ली जाये तथा उसके सम्यक् विकास हेतु उस सामर्थ्य को नियोजित बना दिया जाये तो शारीरिक एवं आत्मिक, दोनों प्रकार की शक्तियों का उद्घाटन एवं प्रकटीकरण प्रभावकता के साथ किया जा सकता है। शरीर में कार्य शक्ति की विद्यमानता तथा परिपूर्णता के साथ जब आत्मावलोकन का अभ्यास साधा जाता है तो यही विनश्वर शरीर धर्म-साधना का प्रमुख सम्बल एवं आधार बन जाता है। सच पूछें तो इस मानव-शरीर का यही सच्चा मूल्यांकन है।

इस यथार्थ मूल्यांकन का ही स्वरूप समझना तथा हृदयंगम करना चाहिये। जब शरीर की शक्ति का भी हास हो जाये और भीतर की शक्तियां भी शिथिल पड़ जायें—तब उस मूल्यांकन का कोई अर्थ नहीं रहता है। इस मूल्यांकन की सार्थकता इसमें है कि शक्ति सम्पन्नता की स्थिति में आसक्ति मिटाई जाये तथा आत्मसाधना की सफलता के लिये इस सशक्त शरीर का भरपूर सदुपयोग किया जाये। जब तक आपके हाथ में पुण्य पुंज का सामर्थ्य है तब तक उसकी पूंजी से शरीर का सद्व्यापार कर लो। पूंजी के प्रयोग से नई पूंजी भी उपार्जित की जा सकेगी लेकिन जब पास की पूंजी पूरी तरह खत्म हो जायेगी तो फिर शुभ कर्मों के अर्जन के द्वार बन्द हो जायेंगे।

आत्मा की भाव पूंजी के रूप में मन और बुद्धि की शक्ति विशेष की गणना की जाती है। इसी संदर्भ में आत्मा के दो प्रकार के स्वरूप माने गये हैं—रूपी स्वरूप तथा अरूपी स्वरूप। आत्मा का रूपी स्वरूप होता है—मन और बुद्धि के रूप में। अतः मन और उसके साथ रहने वाली बुद्धि का आत्म-विकास के भगीरथ कार्य में अपार महत्त्व माना गया है तथा यदि मन और बुद्धि की गति अनुकूल बन जाती है तो यह शरीर भी इस विकास पथ पर अतीव महत्त्वपूर्ण बन जाता है।

यदि आप अपनी आत्मा का शुद्धीकरण करना चाहते हैं तथा धर्मवीर एवं कर्मवीर बनना चाहते हैं तो सबसे पहले आपको अपनी बुद्धि का परिमार्जन

करना होगा। मन को तदनुरूप बनाकर बुद्धि का पूर्णतः सदुपयोग तथा मन के विग्रह से ही कर्मों को नष्ट किया जा सकता है तथा आत्मा जागृत बनायी जा सकती है। याद रखिये कि एक जागृत आत्मा सर्वत्र सफलता ही सफलता प्राप्त करती है। इस जागृति की बाधक होती है मन और बुद्धि की चंचलता, क्योंकि चंचलता से ही इनका सदुपयोग संभव नहीं होता है। इसी से पवित्र स्वरूपी शान्ति मलिन बनी रहती है तथा आन्तरिक दृष्टि धूमिल। इनके बिना सांगोपांग ज्ञान का प्रयोग वस्तु स्वरूप के दर्शन में नहीं किया जा सकता है। इस हेतु शरीर के प्रति आसक्ति की समाप्ति आवश्यक है और तभी यह ज्ञात हो सकता है कि आत्मावलोकन के लक्ष्य को प्राप्त करने में शरीर की शक्तियों का भी कितना मूल्यवान योगदान हो सकता है।

### आत्मावलोकन की दिशा में प्रयाण

इस कारण शरीर का सही रीति से मूल्यांकन करो, विधिपूर्वक आचरण-निष्ठ बनो तथा अपनी गतिविधियों का परीक्षण करते रहो—तब विदित हो सकेगा कि आत्मावलोकन की दिशा में प्रयाण किया जा सका है अथवा नहीं। जीवन में निरीक्षण-परीक्षण का क्रम चलता रहना चाहिये। इसमें सम्बल मिलता है परमात्मा का ध्यान लगाने की प्रक्रिया से, किन्तु उसे अधिकांश भाई समझ नहीं पाते हैं। कई शास्त्रों का अध्ययन भी करते हैं, उन्हें कंठस्थ भी कर लेते हैं तथा त्याग तप भी आराधते हैं, लेकिन उनसे पूछा जाय कि अपनी इस आत्मा को देखने की विधि क्या है या कि वीतराग प्रभु का ध्यान लगाने की प्रक्रिया क्या है, तो वे इसका शायद ही सन्तोषजनक उत्तर दे पायेंगे। समझें कि उत्तर दे भी दें, लेकिन अधिकांश व्यक्ति अपने भीतर में प्रवेश करने या कि अपनी आत्मा को देखने का प्रयत्न करते हुए प्रतीत नहीं होते हैं।

कोई भी समुद्र की सतह पर कितना ही तैरता रहे, किन्तु जब तक वह समुद्र के भीतर उतरने और गोते लगाने का अभ्यास नहीं करता, तब तक वह मोती प्राप्त नहीं कर सकता है। समुद्र की गहराई से भी अधिक गहरा होता है आन्तरिकता का आत्मिक स्वरूप और उसमें डुबकियां लगाये बिना तत्त्व ज्ञान के मोती भी नहीं मिलते हैं। गहराई में उतरकर जिसकी दृष्टि सफलता पूर्वक वहां का दृश्य देख लेती है, वही इस शरीर की शक्तियों का भी अनुभव करती है तो आत्मिक शक्तियों को भी जागृत बनाकर जीवन-विकास का मार्ग प्रशस्त बना लेती है। ऐसा अन्तरावलोकन अपनी ही बुद्धि की निर्मलता तथा सचेष्टता पर निर्भर करता है। इसलिये भव्य जन ऐसी बुद्धि के ही माध्यम से आत्मा के



भीतर समस्वभाव के साथ अवलोकन करने का प्रयास करते हैं। जो आत्मा को देखने का प्रयास करता है, वह उसको धर्म में स्थिर करने का भी प्रयास करता है और तभी वह शरीर के स्वभाव को भी समझता है तो आत्मा के स्वभाव की भी परख कर लेता है।

अतः मैं कहता हूँ कि आत्मावलोकन की दिशा में आगे बढ़ो, अपने शरीर व आत्मा के स्वभाव को समझो। संसार के विभिन्न क्षेत्रों के धर्म को देखो तथा इस प्रकार धर्म के माध्यम से सारे विश्व को समभाव की दृष्टि से देखने की सम्यक् विधि को अपनाओ। इस अन्तर्मुखी दृष्टि से धर्म का स्वरूप भी स्पष्टतर होता जायेगा। तब आप धर्म के नाम पर चलने वाले संघर्षों तथा स्वार्थसिद्धि के प्रयत्नों से सावधान बन जायेंगे एवं अपनी बुद्धि का राग-द्वेष की गंदी गलियों में दुष्प्रयोग करने से बच सकेंगे। ऐसी जागृत दशा में ही जीवन के विभिन्न तत्त्वों के यथार्थ मूल्यांकन में तब जड़ तत्त्वों का असर नहीं दिखाई देगा क्योंकि भौतिक पदार्थों की अपार लालसाएँ ही ऐसे यथार्थ मूल्यांकन का अवमूल्यन कर देती हैं। तब परमात्मा का ध्यान एवं अन्तरावलोकन भी धुंधला बना नहीं रहेगा। इसलिये भगवती सूत्र में कहा गया है कि अपनी बुद्धि के अनुसार सम्यक् भाव से स्वयं की आत्मा को देखते रहने की चेष्टा करते रहो।

निरन्तर आत्मावलोकन की वृत्ति का विकास समीक्षण ध्यान विधि को अपनाकर कुशलता पूर्वक किया जा सकता है। यह समीक्षण ध्यान मनोयोग पूर्वक आत्मा की पहचान कराता है। शास्त्रों को पढ़ लेना या कि उन्हें स्मृति में जमा लेना ही पर्याप्त नहीं है, उनमें उल्लिखित विधि के अनुसार अपने चारित्र्य को ढालना तथा आत्मस्वरूप की अनुभूति कर लेना आवश्यक है वरना इसी कहावत का प्रयोग करना होगा कि 'भण्या पण गुण्या नहीं'। पढ़ाई करो और पढ़ाई से काम लो—उसके अनुसार गुणों को धारण करो, तभी पढ़ाई की कामयाबी मानी जाती है। इसी प्रकार शास्त्रों को आत्मा की करणी में उतारे बिना आत्म विकास साधा नहीं जा सकता है। इसके बिना परम सुख और शान्ति को प्राप्त करने का मार्ग भी खोजा नहीं जा सकता है। जीवन के रहस्यों एवं तत्त्वों का जब तक ज्ञान न हो, परम सुख और शान्ति नहीं मिलती है। ऐसा ज्ञान अन्तरावलोकन की दिशा में आगे से आगे बढ़ते रहने की अवस्था में ही प्राप्त हो सकता है।

### समता भाव के साथ बुद्धि के जागरण की जरूरत

इसलिये वीतराग देवों के उपदेशों को जानने एवं आत्मसात् करने के लिये समता भाव के साथ बुद्धि के जागरण की आवश्यकता होती है। जागृत बुद्धि

के द्वारा ही आत्मावलोकन होता है तथा आत्मस्वरूप की प्रतीति होती है। आत्मावलोकन के साथ शरीर की भीतरी शक्तियों का जागरण किया जाता है, तभी स्पष्ट होता है कि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' की उक्ति कितनी सार्थक है। मनुष्य का शरीर हड्डी, मांस, मज्जा युक्त होता है लेकिन इस शरीर का व्यवहार आत्मावलोकन की प्रक्रिया के साथ पूर्ण रूप से धर्मसाधना में किया जा सकता है। इस शरीर के प्रत्येक अवयव में यह क्षमता रही हुई है जो धर्मसाधना में सुदृढ़ सिद्ध हो सकती है। इस दृष्टि से समता भाव के साथ बुद्धि का जागरण किया जाये तो जीवन में शरीर एवं आत्मा की शक्तियों का अनुसंधान करके अनन्त सिद्धियों की उपलब्धि की जा सकती है। यह सब अनुसंधान की उत्कृष्टता पर निर्भर करता है।

इसलिये बुद्धि के सुनियोजन करने का यहां पर संकेत दिया जा रहा है। आपको भी परामर्श लेने एवं संशोधन करने का अवसर मिला है। अपनी आत्मा का परीक्षण करने के लिये अधिक समय न मिले तो कम से कम जितने समय तक धर्मस्थानक में सामायिक लेकर बैठते हो तब तक तो मन और आत्मा का परीक्षण करने का अभ्यास करो तथा बुद्धि का इस रूप में प्रयोग करना सीखो। मन और आत्मा के निरीक्षण एवं परीक्षण का अर्थ है कि आप अपनी वृत्तियों की जांच पड़ताल करो तथा प्रवृत्तियों के रूप पर सोचो। इससे यह निर्णय निकालो कि बुद्धि का आपके द्वारा सुनियोजन हो रहा है अथवा कुनियोजन। मन और आत्मा के भीतर कितना मैल फैला हुआ है तथा कितना अंधेरा छाया हुआ है और उसे दूर करने में आपको किस कदर कामयाबी मिल रही है। इसी अंकन पर आप आगे का पथ निश्चय कर सकेंगे कि आन्तरिक स्वच्छता के बाद किस प्रकार की गुणशालिनी वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों से आन्तरिकता को सुसज्जित बना सकते हैं।

आन्तरिकता की स्वच्छता एवं सुख सज्जा के लिये शरीर के लिए महत्वपूर्ण आत्मा के द्वार को खोल लेने की अपेक्षा होती है और समीक्षण ध्यान लेने की अपेक्षा होती है जिसमें समीक्षण ध्यान तथा समीक्षण दृष्टि का योग कार्यकारी सिद्ध होता है। यह योग सामायिक की साधना से प्राप्त होता है। सामायिक में यह प्रयत्न रहना चाहिये कि मन, वचन तथा काया के योग व्यापार की मलिनता को दूर करने का सफल अभ्यास किया जाये। योग व्यापार की मलिनता ही राग-द्वेष, मान, माया, क्रोध और लोभ आदि वृत्तियों के कुप्रभाव से पैदा होती है अतः इन वृत्तियों को समता भाव के अभ्यास से दूर की जाये तथा समता भाव के साथ बुद्धि का इस रीति से सुनियोजन किया जाये

कि समूचा योग व्यापार आत्मस्वरूप को निर्मल बनाने में जुट जाये। सामायिक को इस दृष्टि से योग व्यापार को परिमार्जित एवं संशोधित करने का ही सफल अभ्यास मानिये जो योग व्यापार की शुद्धि के साथ मन और बुद्धि के प्रयोगों को भी शुद्ध बना देता है। परम सुख एवं सच्ची शान्ति प्राप्त करने का यही राजमार्ग है।

### मन के द्वार खोलो, उसे निर्मल बनाओ

धर्मस्थानक में आकर मात्र सामायिक की धार्मिक क्रिया करके ही सन्तोष मान लिया जाता है और अपने आपको चारित्र्यशील कह दिया जाता है—यह एक प्रकार की अहंकार युक्त मान्यता है क्योंकि जब तक चिन्तन-मनन के साथ मन का द्वार खोला नहीं जाता, आत्मावलोकन नहीं किया जाता तथा मन को निर्मल बनाने का प्रयास प्रारंभ नहीं कर लिया जाता, तब तक सामायिक के गूढार्थ की पूर्ति नहीं हो सकेगी—यह स्पष्ट समझ लें। मन का द्वार तभी खुलेगा जब मन के इर्द-गिर्द और भीतर में फैली हुई दुष्टवृत्तियों की गंदगी कम हो और इस गंदगी में कमी आत्मावलोकन तथा आत्मालोचन से ही आ सकती है कि नित्य प्रति अपनी भूलों की तरफ देखें। उनकी शुद्ध मन से आलोचना करें तथा उन्हें दोहराने से बचें। ऐसा अभ्यास सामायिक साधना के माध्यम से निरन्तर चालू रहेगा तो आपके जीवन में अवश्य ही रूपान्तर हो सकेगा तथा आप यह जान सकेंगे कि कहां किस का मन दुःखा कर आपने भूल की है और किस प्रकार सब को शान्ति उपजा कर वह भूल सुधारी जा सकती है। इसी तरह मन का द्वार खुलता है।

मन का द्वार जब खुल जाता है तो भीतर से उसे निर्मल बनाने की प्रक्रिया भी प्रारंभ हो जाती है। मन की निर्मलता में ही भूलों की प्रतीति होती है, आलोचना होती है तथा शुद्धि भी होती है। तभी कर्तव्य बोध भी होता है तथा अपने आत्मस्वरूप की सुखद अनुभूति भी होती है। एक बार मगध सम्राट् श्रेणिक अपने अमात्य अभयकुमार के साथ परिभ्रमण करने निकले। रास्ते में एक जन समुदाय को खड़ा देखकर सम्राट् ने कारण जानना चाहा। अमात्य ने कहा—ये लोग अपने-अपने धर्म को बताने के लिये खड़े हैं। सम्राट् को आश्चर्य हुआ कि इस तरह धर्म का प्रदर्शन कैसे किया जा सकता है! अभयकुमार ने उनकी उत्सुकता को शान्त करने का प्रबंध किया। सम्राट् रथ में बैठे रहे, तब अभयकुमार ने कहा कि वह एक-एक धर्म के धर्मात्मा को आपके पास भेजता रहेगा, आप उसकी परीक्षा लेते रहें। पहले आने वाले धर्मात्मा से पूछा गया कि

उसका क्या धर्म है? उसने उत्तर दिया—जो धर्म मैं करता हूँ, वह कोई दूसरा नहीं कर सकता। यों तो मैं चींटी की टांग भी नहीं तोड़ता हूँ लेकिन रात में बड़े-बड़े घरों के बड़े-बड़े ताले तोड़ लेता हूँ और धन सामग्री उठा लेता हूँ व आनन्द पूर्वक रहता हूँ। दूसरे ने कहा—मैं सच्चा धर्मी हूँ। मैं चुपचाप धन सामग्री उठाकर नहीं लाता हूँ। पहले उसके स्वामी की अच्छी पिटाई करके मेहनत करता हूँ तब लाता हूँ। तीसरी आने वाली धर्मी वेश्या थी, वह बोली—मेरे जैसा धर्म तो कहीं नहीं है—मुझे पतियों की कमी नहीं और विधवापन का कष्ट नहीं।

तब अभयकुमार ने रथ को दूसरी ओर मुड़वा लिया। वहां एक काले तंबू में एक तरुण और एक वृद्ध बैठा हुआ था। उन्हें वहां बैठने का कारण पूछा गया तो उन्होंने बताया कि राज्य की घोषणा के अनुसार धर्मी लोग सफेद तंबू में इकट्ठे हुए तो अपने को पापी मानने वाले हम काले तंबू में बैठ गये। अमात्य ने कहा—आप तो नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं—धर्मात्मा कहलाते हैं, फिर काले तंबू में क्यों? वे बोले—हम बाहर से धर्मात्मा जरूर दिखते हैं लेकिन अन्दर से कैसे हैं—यह हकीकत जानने से ही मालूम होगा। सम्राट आश्चर्य से सबकुछ देख-सुन रहे थे। तरुण ने हकीकत बताई कि उसने जैसा पाप किया है, उससे छुटकारा मिलना भी कठिन है। वह बोला—मैंने अपनी बुद्धि का दुरुपयोग किया और वह भी अपनी माता के कहने से। पिता के कम उम्र में मर जाने के बाद मेहनत मजदूरी करके मां ने ही मेरा पालन पोषण किया किन्तु मां के शरीर की शक्ति नहीं रहने पर हमें भूखों मरना पड़ा। छोटा मोटा व्यापार भी करने की सोची मगर पूंजी कहां से लाता? सो मां के कहने के अनुसार धर्मस्थानक में गया जहां एक करोड़पति सेठ अपना कंठा व जेवर उतार कर सामायिक में बैठते थे। वे सामायिक में बैठे थे तो मैंने कंठा उठाया और उन्हें बताकर ले गया। फिर मां के ही कहने से उसे उनकी पेटी पर उन्हीं के पास गिरवी रखकर दस हजार रुपये लाने को गया। सेठ कुछ नहीं बोले, कंठा रखकर वह राशि मुझे दे दी। मैंने उस राशि से अपनी बुद्धि का प्रयोग करके व्यापार किया। मैंने काफी कमाई कर ली तो ब्याज सहित दस हजार रुपये चुकाने के लिये वापस सेठ के पास पहुंचा। वे राशि लेकर कंठा मुझे लौटाने लगे तो मैंने कहा—यह कंठा तो आपका ही है। फिर सारी बात बता दी और उनका आभार माना। सेठ ने कहा—यह मेरी ही गलती है कि तुम्हें चोरी करनी पड़ी। यदि मैं अपने स्वधर्मियों का ध्यान रखता तो ऐसा अवसर ही क्यों आता? उन्होंने कंठा भी नहीं लिया और वह राशि भी लौटा दी। अब मैं उस पश्चाताप से रो रहा हूँ कि मैंने चोरी का पाप किया। इसी कारण मैं काले तंबू में हूँ।

सम्राट् ने उस वृद्ध से भी कारण जानना चाहा। वृद्ध ने कहा—राजन्, तरुण ने जो हकीकत बताई उसमें जिस सेठ का जिक्र आया है, वही मैं हूँ। मेरे कारण इसने चोरी की, इसमें इसका नहीं, मेरा दोष है। इसलिये मैं भी काले तंबू में आया हूँ। तब सम्राट् अभयकुमार की बुद्धि की सराहना करने लगे कि किस कौशल से राजाज्ञा प्रसारित करके उसने उन्हें धर्म और पाप की आन्तरिकता से परिचित कराया। धर्मी समझने वाले कैसे लोग थे और अपने को पापी मानने वाले मन से कैसे थे। इस दृश्य से सम्राट् ने यह अनुभव किया कि बाहर से नहीं, भीतर प्रवेश करके ही धर्म और पाप की परीक्षा की जा सकती है। इसके लिये बुद्धि निर्मल चाहिये तथा मन का द्वार खुला हुआ। कौन धर्मी है और कौन पापी है—इसका परीक्षण आत्मावलोकन के माध्यम से ही सफलता पूर्वक किया जा सकता है।

### आत्मावलोकन से जीवन का रूपान्तरण

समत्व योग की साधना करते हुए यदि आत्मा का अवलोकन किया जाता रहे तो अपने योग व्यापार में क्रान्ति की जा सकती है तथा आत्म विकास की दिशा में जीवन का सफल रूपान्तरण किया जा सकता है। तब अंधकार से निकलकर सम्यक् ज्ञान के प्रकाश में चारित्र्य की कठिन आराधना के पथ पर निरन्तर गतिशील रहा जा सकेगा।

किन्तु इसके लिये बाहरी दृश्यों से अपनी दृष्टि को हटाकर उसे अन्तर्मुखी बनाना होगा तभी तो वह भीतर के स्वरूप को जांच परख सकेगी और उसे निर्मल बना सकेगी। दृष्टि का यह मोड़ बनेगा मन और बुद्धि के सदुपयोग से जो इस मानव जीवन तथा शरीर की अनमोल उपलब्धि और शक्ति होती है। आत्मावलोकन से आत्मा का निरन्तर निरीक्षण, परीक्षण और संशोधन होता रहेगा तथा कुवृत्तियों एवं कुप्रवृत्तियों का मैल छंटता जायेगा व आत्मस्वरूप निखरता जायेगा। निखरते और दमकते हुए आत्मस्वरूप के साथ ही कोई अपने आपको धर्मात्मा मान सकता है, अन्यथा नहीं।

## सबमें भरे जीवन की सुवास

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

वीतराग देवों के पतितपावन उपदेशों की सुवासित एवं सौरभयुक्त वाटिका में भव्य जन अपने जीवन को सुरभित बना रहे हैं। चिन्तन मनन एवं आत्मावलोकन के समतामय प्रयोगों से वे अपने जीवन के विचार एवं व्यवहार में सद्गुणों की सुवास भरते हैं और अपने जीवन एवं आत्म विकास को कृतकृत्य बनाते हैं। इतना ही नहीं, वे साथ-साथ सुषुप्त प्राणियों में जागृति के नये प्राण फूंकते हैं तथा विश्व के समूचे वातावरण में विकास की नई सुगन्ध को व्याप्त बनाते हैं। स्व-पर कल्याण के लक्ष्य को सामने रखकर वे अपने जीवन की सुवास सब प्राणियों के अन्तःकरण में भरने की प्राणपण से चेष्टा करते हैं। वे आत्म कल्याण एवं लोक-कल्याण का सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत करते हैं और इस प्रकार 'एक में सब तथा सबमें एक' की एकात्मीयता का उद्घोष गुंजाते हैं। 'सबमें भरे जीवन की सुवास'—यह उनका सर्वोच्च लक्ष्य बन जाता है और यही समष्टि के हित में व्यष्टि के विसर्जन का आदर्श कहलाता है।

अध्यात्मवाद एवं भावनाओं के सूक्ष्म जगत् में 'जीओ और जीने दो' का सिद्धान्त कई ऊँची सीढ़ियाँ चढ़कर इस रूप में ढल जाता है कि 'तुम स्वयं जी सको या न जी सको, दूसरों को जीवन दान देते रहो' और यही नहीं, बल्कि यह भी कि 'दूसरों को जीवन दान देने में अपने सर्वस्व का बलिदान भी देना पड़े तो आत्म-विसर्जन के रूप में ये उसे देने में भी हिचकिचाहट न रखो'। यह है सबमें भरे जीवन की सुवास का उच्चादर्श।

### वीतरागता के उपदेशों की सुवासित वाटिका

सांसारिकता के बीज रूप राग-द्वेष की कुवृत्तियों से रहित होकर जो समतामय अवस्था प्राप्त होती है, वही वीतरागता कहलाती है। वीतरागी विभूतियों के मुख से जो उपदेश निःसृत होते हैं, वे भव्य जनों के जीवन

विकास के मूलमंत्र बन जाते हैं। इन उपदेशों को ऐसी वाटिका के रूप में देख सकते हैं, जिसमें आत्म विकास की उच्चता के प्रतीक विशाल वृक्ष लहरा रहे हैं तो सत्यमय वृत्तियों की लतिकाएँ झूम रही हैं। इन वृक्षों और लतिकाओं पर आत्मीय सदगुणों के पुष्प खिल रहे हैं—गुणगरिमा के फल परिपक्व बन रहे हैं। सम्पूर्ण वाटिका का वातावरण प्रफुल्लतादायिनी सुवास से परिपूरित है—ऐसी सुवास जो आत्मानुभावों से आनन्द-विभोर बना देती है।

इस वाटिका को दो प्रकार के दृष्टिकोणों से भी देख सकते हैं। जहां जन समुदाय के माध्यम से वाटिका का निर्माण होता है, वहां उस वाटिका में स्वाभाविक रूप से सौरभयुक्त पुष्प विकसित होते हैं और अपने आप में सुगंध भर लेते हैं। इस सुगंध में विशेष प्रकार की शक्ति होती है। इस शक्ति से मानव के प्राणों को स्फूर्ति दायक नया सम्बल प्राप्त होता है। प्राणों का निवास मानव के शरीर में होता है और इस मानव शरीर को मुख्य रूप से प्राण रक्षा के निमित्त से तीन तत्त्वों की आवश्यकता होती है जो हैं—वायु, जल और अन्न। मनुष्य अन्न के अभाव में या कि बिना अन्न ग्रहण किये कई दिनों ही नहीं, महीनों का समय भी व्यतीत कर सकता है, घोर तपस्वी आत्माएँ अपने संगठित आत्म-बल के आधार पर बिना अन्न ग्रहण किये भी अधिक समय तक निराहार रहकर अपने जीवन का पवित्र संशोधन करती रहती हैं। किन्तु जल के अभाव में जीवन अधिक दिनों तक नहीं चल सकता है। ग्रीष्म ऋतु में तो पानी के बिना कुछ समय तक भी रह पाना मुश्किल हो जाता है। वायु पर तो जीवन की सर्वाधिक निर्भरता रहती है। योग आदि की क्रियाओं में भले ही कुछ समय तक श्वासोच्छ्वास का निरोध कर लिया जाये, लेकिन सामान्य जन बिना हवा के तनिक-सा समय भी नहीं निकाल सकता है।

जीवन के अस्तित्व के लिये हवा की सबसे बड़ी और पहली आवश्यकता होती है। शारीरिक स्वास्थ्य के बिगड़ने या दुर्बल होने पर चिकित्सक रोगी को बाहर घूमने तथा स्वच्छ वायु सेवन करने की सलाह देते हैं। विशेष रूप से वे वाटिकाओं, उद्यानों या बाग बगीचों में घूमने का संकेत देते हैं। वे समझते हैं कि सुवासयुक्त ऐसे स्थानों पर भ्रमण करने से शान्ति का अनुभव हो सकेगा। क्या आप जानते हैं कि बाग बगीचों में ऐसी कौन-सी शान्ति है? वहां प्रधान रूप से ऑक्सीजन यानी प्राणवायु का संचार अधिक होता है। इसका प्राणवायु नाम इसी कारण है कि यह वायु मनुष्य के प्राणों की रक्षा करने वाली होती है। अगर यह प्राणवायु मनुष्य को बराबर नहीं मिले तो कुछ क्षणों में ही वह तड़प-तड़प कर मृत्यु को प्राप्त हो सकता है। वैज्ञानिकों द्वारा भौतिक परीक्षणों से भी यह तथ्य सिद्ध हुआ है।

## वाटिका में फैली प्राणवायु का सेवन

प्राणवायु मानव जीवन की सुरक्षा हेतु किस रूप में अनिवार्य है—उस सम्बन्ध में वैज्ञानिकों ने पहले एक प्रयोग किया था और सिद्ध किया था कि किसी अपराधी को फांसी की सजा देनी हो तो प्राणवायु का निरोध करके उसका जीवनान्त किया जा सकता है। एक आरोपी को न्यायालय ने मृत्यु दंड सुनाया तब कुछ वैज्ञानिकों ने मानव जाति के हित में कुछ प्रयोग करने के लिये इस दंडित व्यक्ति की मांग की क्योंकि उसके जीवन का अन्त तो होना ही है फिर प्रयोग सिद्धि का अवसर क्यों न लिया जाय? उनकी मांग स्वीकार कर ली गई। तब वैज्ञानिकों ने उस दंडित व्यक्ति को एक बन्द कमरे में रखा। उसे कहा गया कि उसके जीवन का अन्त तो फैसले मुताबिक किया ही जायेगा लेकिन उसके तरीके में थोड़ा फर्क होगा। सूली पर तो उसे भारी कष्ट भुगतना पड़ेगा पर नये तरीके से शान्ति के साथ वह मृत्यु का सामना कर सकेगा। फिर कमरे को बन्द करके यंत्रों की सहायता से उस कमरे की पूरी की पूरी ऑक्सीजन बाहर निकाल ली गई। वह कमरा पूरी तरह से प्राणवायु से रहित बना दिया गया। कुछ ही क्षणों में उस दंडित व्यक्ति की मृत्यु हो गई। तब यह मान लिया गया कि मानव जीवन के अस्तित्व एवं उसकी रक्षा के लिये प्राणवायु का संचार अनिवार्य है।

अब वाटिका में फैली प्राणवायु के सेवन के सम्बन्ध में शोधित वैज्ञानिक तथ्य को भी जान लीजिये। पेड़-पौधे और वनस्पति अपने भीतर से प्राणवायु छोड़ते हैं, इस कारण जहां पर पेड़-पौधों, फल फूलों आदि वनस्पति की अधिकता होती है, वहां पर शुद्ध प्राणवायु की भी अधिकता होती है। यह तो जान ही चुके हैं कि मानव जीवन के लिये प्राणवायु की किस सीमा तक आवश्यकता होती है। अतः स्वाभाविक रूप से इस मानव शरीर को उस स्थान पर अधिक सुख और शान्ति का अनुभव हो सकेगा, जहां शुद्ध प्राणवायु की अधिकता हो। इसके कारण शारीरिक स्वास्थ्य की दुर्बलता दूर होती है तो स्वास्थ्य की सुघड़ता भी बनी रहती है। इस प्रकार मानव जाति के लिये वाटिकाएँ उसके स्वास्थ्य-निर्वहन की दृष्टि से उपकार-स्थल के रूप में देखी जा सकती हैं।

यह कहना प्रासंगिक होगा कि आज वही मनुष्य व्यक्तिगत स्वार्थों को पूरा करने के लिये किस बेरहमी से जंगलों को उजाड़ रहा है और वनस्पति को तहस-नहस कर रहा है। इस तरह वह अपनी ही जाति के पांवों पर कुल्हाड़ी ही नहीं चला रहा है, बल्कि असहाय पशु-पक्षियों के आवास व विश्राम स्थलों को



भी नष्ट भ्रष्ट कर रहा है। इस वन विनाश से वर्षा, पर्यावरण एवं जल संसाधनों की विकट समस्याएँ उपस्थित हो गई हैं, जिनके समाधान ढूंढने में आज अपने देश में भी भारी हलचल मची हुई है। जो भी हो, वनस्पति विनाश के दुष्परिणाम आज सारी जनता को भोगने पड़ रहे हैं।

### वाटिका बाहर की और वाटिका भीतर की

वाटिका को दो दृष्टिकोणों से इस प्रकार देख सकते हैं कि एक वाटिका तो बाहर की होती है जिसे सभी जानते हैं, किन्तु एक वाटिका भीतर की भी होती है जिसे भी सबको जानना चाहिये। बाहरी वाटिका का यह विस्तृत रूपक इसी दृष्टि से अंकित किया गया है कि तदनुसार भीतर की वाटिका के दृश्यों का अनुमान लगाया जा सके। बाहर की वाटिका के जो रम्य दृश्य होते हैं तथा जैसा सुवासित वातावरण होता है, उससे भी भव्य रमणीयता तथा सुवासितता होती है भीतर की वाटिका में। जैसे बाहर की वाटिका में शुद्ध प्राणवायु का पूर्ण संचरण होता है, जिससे मानव शरीर के सुस्वास्थ्य की सुरक्षा रहती है, उससे भी अधिक प्रभावपूर्ण होती है भीतर की वाटिका की प्राणवायु, जो आत्मानुभावों की सुरक्षा ही नहीं करती, बल्कि सम्पूर्ण आत्म विकास को प्रोत्साहित एवं परिपोषित भी करती है।

भीतर की वाटिका के भी दो रूप कहे जा सकते हैं। आत्मा की आन्तरिकता को सुवासित बनाने वाले ये रूप बाहर भी देखे जा सकते हैं और भीतर भी महसूस किये जा सकते हैं। आत्मस्वरूप को विकसित करने तथा धर्माचरण को पुष्ट बनाने वाली इस बाहर से दिखाई देने वाली वाटिका का रूप वीतराग देवों के कथनानुसार चतुर्विध संघ के स्वरूप में देखा जाना चाहिये। चतुर्विध संघ के साधु, साध्वी तथा श्रावक-श्राविका रूप हिस्सों को वीतराग देवों ने 'तीर्थ' की संज्ञा दी है। तीर्थ, आप जानते होंगे कि उस स्थान को कहते हैं जो तरण-तारण होता है। चतुर्विध संघ ऐसा तीर्थ माना गया है जो आत्मा के तरण-तारण का संस्थान होता है। यह तीर्थ एक प्रकार से वाटिका है, जो संसार के सभी प्राणियों को संसार के दूषित वायुमंडल से मुक्त करके सबके लिये सद्गुणों की प्राणवायु का संचार सुलभ बनाकर उनके जीवन विकास का मार्ग प्रशस्त बनाती है। इस वाटिका की प्राणवायु को आध्यात्मिक ऑक्सीजन कह सकते हैं।

यह अभी बताया जा चुका है कि मानव शरीर के सुस्वास्थ्य के लिये ही नहीं बल्कि सभी प्रकार के प्राणियों की प्राण रक्षा के लिये बाहरी वाटिका की

प्राणवायु किस प्रकार लाभदायक होती है। उसे जीवन रक्षक ही कहा जा सकता है। इस प्राणवायु के अभाव में तो शारीरिक स्वास्थ्य बिगड़ता है तथा शरीर क्षीण या नष्ट हो जाता है किन्तु आध्यात्मिक ऑक्सीजन के अभाव में सभी प्राणियों का और विशेष रूप से मन व बुद्धि को धारण करने वाली मानव जाति का आत्म-स्वरूप कितना अधिक विकारों से कलंकित बनता है तथा अपनी आन्तरिक शक्तियों से विस्मृत हो जाता है, उसे ज्ञानीजन ही देखते हैं क्योंकि स्वयं संज्ञा शून्य बनी हुई आत्माएँ तो अपने पतन को भी भलीभांति नहीं देख पाती हैं। ऐसी आत्माओं को आत्मीय स्वस्थता प्राप्त करने के लिये इस आध्यात्मिक ऑक्सीजन की कितनी प्रबल आवश्यकता है—यह विचारणीय है।

सत्य वस्तुस्थिति तो यह है कि इस आध्यात्मिक प्राणवायु के अभाव में आज अधिकांश रूप से मानव जीवन ही निरर्थक बनता जा रहा है। आप महसूस करते होंगे कि चिन्ता, तनाव आदि के विचार मन-मस्तिष्क को असन्तुलित बनाये रखते हैं। फिर कहां इतनी गहराई बची है कि मनुष्य चिन्तन और मनन में तल्लीन बन सके या कि एकाग्रता धारण करके आत्मा की आन्तरिकता में अवलोकन और रमण करे? अन्तर्वृत्ति के बिना तीर्थ का चिन्तन कैसे हो और कैसे संघ-तीर्थ से आत्म-तीर्थ की ओर प्रयाण किया जा सके?

### एक वाटिका खिले, विकसे अन्तस्तल में

बाहर की वाटिका से बढ़कर प्राणवायु से भरपूर एक वाटिका अन्तस्तल में खिले और विकसित हो तभी आत्मा का अलंकरण हो सकता है क्योंकि वैसी वाटिका के सुवासित वातावरण से आत्मस्वरूप को वह सुवास मिलेगी कि वह निर्मलता तथा गुणवत्ता से शोभायमान हो उठेगी। वह शोभा भीतर ही भीतर अभिवृद्ध होगी किन्तु उसकी सुवास सभी साथियों और वातावरण को भी प्रभावित बना देगी।

इस वाटिका के सम्यक् विकास के लिये वीतराग देवों ने नाना सत्सिद्धान्तों के उपदेश दिये हैं जिनमें प्रधान है अहिंसा का बोध। अन्य प्राणों को किसी भी उद्देश्य के लिये किसी भी प्रकार से कष्टित न करे—इसमें श्रेष्ठ जीवन का सम्पूर्ण सार समा जाता है। अहिंसा का ऑक्सीजन मानव जाति में फैली हुई स्वार्थवादिता और भेदभाव की दूषित वायु तत्काल नष्ट कर देने में समर्थ है। इसी प्रकार एक-एक सिद्धान्त तथा एक-एक उपदेश आत्म विकास के लिये प्राणवायु से आत्म वाटिका परिपूर्ण बन जाती है तब वहां की भाव-रमणीयता अनुभव

करते ही बनती है। बाहर की प्राणवायु शरीर को स्वस्थ रख सकती है किन्तु उसे अमर नहीं बना सकती है। वहां आत्म वाटिका की प्राणवायु आत्मस्वरूप की निर्मलता को अमर भी बना सकती है। यही नहीं, वह प्राणवायु इस आत्मा को जड़ग्रस्तता, सांसारिकता तथा जन्म, जरा, मृत्यु की पीड़ा से सदा के लिये मुक्ति दिलाकर अजर अमर पद पर अवस्थित भी बना सकती है।

लेकिन इस वाटिका का विज्ञान तथा उसे खिलाने-विकसाने का विधि-विधान चतुर्विध संघ की शरण में जाने पर ही ज्ञात हो सकता है। इस तीर्थ की शीतल छाया में बैठकर ही सांसारिकता की उष्णता से विराम लिया जा सकता है और कर्मों का विनाश करते हुए आत्मस्वरूप में नया निखार लाया जा सकता है। निजात्मा का स्वरूप आलोकित और सुरभित बनता है तो उसके आलोक और सुरभि का सुप्रभाव दूसरों पर भी अवश्यमेव पड़ेगा। जैसे एक दीप से अगणित दीप जलाये जा सकते हैं, उसी प्रकार एक जीवन की सुवास अनेक जीवनो को सुवासित बना सकती है।

आपने सुना होगा कि तीर्थकर भगवान् के समवसरण में सभी प्रकार के प्राणी, पशु-पक्षी, देव-दानव, मानव आदि पहुंचते हैं, जहां भगवान् के तेजस्वी जीवन की सुवास सबको इस प्रकार आत्मविभोर बना देती है तथा सबमें ऐसी सुवास भर देती है कि शेर और बकरी भी अपना प्राकृतिक वैमनस्य भूल जाते हैं और साथ-साथ बैठकर भगवान् की देशना का श्रवण करते हैं। जब उस अद्भुत सुवास में जन्म जात वैर भी विस्मृत हो जाता है, तब सामान्य राग-द्वेष की दुर्भावनाएँ उनके सान्निध्य में टिकी हुई रहे-यह शक्य ही नहीं होता है। तीर्थकर भगवान् भी मानव जीवन और तन लेकर ही जन्म लेते हैं और वे उत्कृष्टतम रूप से अपना जीवन विकास साधते हैं, किन्तु यह सभी भव्य मानवों के लिये भी सुसाध्य है, असाध्य नहीं। यदि आत्म-स्वभाव एवं प्राणी वात्सल्य की उत्कृष्टता प्राप्त कर ली जाय तो कोई भी मानव आत्म कल्याण के साथ-साथ लोक कल्याण की भी सराहनीय ऊँचाइयों का स्पर्श कर सकता है। ऐसी समुन्नत आत्माओं के अनुभाव में सदा शान्ति का प्रवाह प्रवाहित होता रहता है, फलस्वरूप वह प्रवाह दूसरों में शान्ति का संचार करता है। समवसरण में तीर्थकर देव के जीवन में प्रवाहित होने वाला ऐसा ही शान्ति का प्रवाह वहां उपस्थित प्रत्येक प्राणी को सुखद रूप में प्रभावित करता है और समग्र वातावरण को शान्त प्रशान्त बना देता है।

इस अमोघ शान्ति का बीज चतुर्विध संघ की उर्वरा धरती में अंकुरित होकर जब आत्म वाटिका को पल्लवित, पुष्पित एवं फलित बनाता है, तब

उस आत्मा के अन्तस्तल से अनन्त शक्तियों का प्रस्फुटन होता है और सुख व शान्ति का अनूठा आनन्द भरता है। जो भी इस तीर्थ की छाया में जाता है, उसकी आत्म वाटिका के खिलने व विकसित बनने की संभावनाएँ तेजी से मुखर हो उठती हैं। इस रूप से चतुर्विध संघ भी बाहर से दिखाई देने वाली एक आध्यात्मिक वाटिका है, आत्मोन्मुखी प्राणवायु का भंडार है और तरण-तारण का त्वरित साधन है—तभी तो उसे एक पतितपावन तीर्थ माना गया है।

### आत्म वाटिका की सुवास जब सब ओर फैलती है

तीर्थ एक प्रकार से शान्ति स्थल होता है जहां प्रत्येक स्वभाव के व्यक्ति को शान्ति मिलती है, क्योंकि वहां पर आत्म वाटिका की सुवास सब ओर फैली हुई रहती है। चाहे कितना ही क्रोधी स्वभाव का कोई व्यक्ति हो, लेकिन वह तीर्थ के समीप में जायेगा तो यत्किंचित् मात्रा में ही सही, उसका रोष अवश्य शान्त होगा। यह शान्ति उस तृप्ति के समान सुखद प्रतीत होती है, जैसी कि किसी प्यासे व्यक्ति को सरोवर के पास पहुंचकर स्वच्छ-शीतल जल का पान करने से मिलती है। यह जो साधु-साध्वी, श्रावक एवं श्राविकाओं का चतुर्विध संघ है, वह इसी कारण तीर्थ है कि वहां सबके बीच में आध्यात्मिक प्राणवायु का मुक्त संचरण होता रहता है। इस तीर्थ को एक विस्तृत आत्म वाटिका के रूप में मान सकते हैं, जहां विशाल वृक्ष भी हैं तो अंकुरित होते और बढ़ते हुए छोटे-छोटे पौधे भी। भांति-भांति के पुष्प भी जो कहीं कली के रूप में हैं तो कहीं पूरी तरह से खिले हुए। पल्लवित, पुष्पित एवं फलित अवस्थाओं में सबके बीच न्यूनाधिकता हो सकती है किन्तु विकास की दिशा सबके लिये एक होती है तथा साधना का क्रम भी एक समान। आत्मीय एकता एवं सद्भाव का शीतल, मन्द, सुवासित पवन वहां अहर्निश प्रवाहित होता रहता है—आत्म-संयम, अनुशासन एवं आत्म निरीक्षण-परीक्षण के निर्झर का बहाव कहीं भी कभी रुकता नहीं। ऐसे समतामय वातावरण में भला कौन पातकी हो सकता है जो पावन न होना चाहे—स्वयं तैरकर दूसरों को तैराना न चाहे या कि अपने जीवन को सुवासित बनाकर सब प्राणियों में उस प्रेरणादायी सुवास को न भरना चाहे?

इस सत्य को हृदय में उतार लीजिये कि आध्यात्मिक सुवास या कि प्राणवायु कभी भी धन-सम्पत्ति, पद या प्रभुता के बल पर प्राप्त नहीं की जा सकती है। यों यह धूप, हवा और बरसात की तरह सबको समान रूप से सुलभ हो सकती है किन्तु उसे प्राप्त करने की अभिलाषा जागनी चाहिये तथा तदनु रूप

साधना क्रम का अभ्यास किया जाना चाहिये। चतुर्विध संघ के तीर्थ में किसी भी भौतिक उपलब्धि का कोई प्रभाव नहीं होता है। जो व्यक्ति सभी प्राणियों के प्रति समभाव रखते हुए एक में सब और सबमें एक को देखने का प्रयास करते हैं तथा स्वभाव में स्थित होकर आत्म-विसर्जन के रहस्य को पा जाते हैं, वे ही वस्तुतः तीर्थ के रूप में माननीय और पूजनीय बन जाते हैं।

तीर्थ रूप में ढलने से पूर्व और तीर्थ के समीप जाते हुए भी निश्चल मन और स्थिर बुद्धि का निर्माण आवश्यक है। ऐसा नहीं हो कि मन में कुछ और हो तथा बाहर से दूसरे ही रूप को दिखाने का ढोंग किया जाता है—कारण, यह द्वैध की दशा और भी खराब व धोखेभरी होती है। यह अतीर्थ की दशा है अर्थात् वह तीर्थ के समीप जाने के लिये भी योग्य पात्र नहीं माना जाता है। ऐसा व्यक्ति भीतर से तो जड़ तत्वों एवं बाहरी दृश्यों के प्रति आकर्षित होता है किंतु बाहर क्रिया कांडों का ऐसा आडम्बर रचता है कि सब उसे धर्मात्मा मान लेते हैं। ऐसे लोग तीर्थ में भी विकार फैलाने की कुचेष्टा करते हैं। अपने आचरण को तीर्थ के अनुरूप पूरी तरह से न ढाल पाएं—वह दूसरी बात, किन्तु तीर्थ के समीप जाने वाले प्रत्येक व्यक्ति की आन्तरिक भावना एवं चेष्टा तो यही होनी चाहिये कि वह अपने आचरण का तदनुसार संशोधन निष्ठा पूर्वक कर रहा है। तीर्थ से जुड़ जाने के बाद यह भी उसका पवित्र कर्तव्य हो जाता है कि वह गृहस्थ जीवन के अन्य सांसारिक कार्यों में आध्यात्मिक जीवन की सुवास बिखरे और अपने प्रबुद्ध आचरण से दूसरों में भी जागृति की प्रेरणा फूँके। आत्म वाटिका की सुवास जब सब ओर फैलने लगती है तो निश्चित है कि समूचा वातावरण सुवासित हो एवं आत्म विकास की निष्ठा सबमें सुदृढ़ बन जाये।

### सुवास स्वयं में होगी तभी बाहर बिखरेगी

सबके जीवन में सुवास भरें—यह बाद का कार्य है क्योंकि पहला कार्य यह होता है कि वह सुवास स्वयं के जीवन में पैदा हो और अपने जीवन को सुवासित बना दे। सुवास पहले स्वयं में होगी, तभी तो बाहर बिखर सकेगी तथा सबके जीवन को सुवासित बना सकेगी। यह आप जान चुके हैं कि जीवन में ऐसी सुवास चिन्तन-मनन तथा आत्मावलोकन के सुव्यवस्थित क्रम के बाद समभाव की साधना से पैदा होती है और वह आध्यात्मिक प्राणवायु से लबालब भरी होती है। तभी तो सभी प्राणियों को प्रभावित बनाती है, उनमें आत्मीय स्वस्थता की प्रेरणा जगाती है तथा उनकी आत्म वाटिका को पल्लवित एवं पुष्पित बनाकर सुवासित स्वरूप प्रदान करती है।

सुवासित जीवन का धनी व्यक्ति कभी किसी भी प्राणी के किसी भी प्राण को अपनी ओर से कोई कष्ट नहीं पहुंचाता है चाहे सामने कोई बच्चा ही क्यों न हो। वह स्वयं के हितों का भी दूसरों के लिये बलिदान करते हुए कभी झिझकता नहीं है। वह व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठ जाता है तथा परिवार, समाज, राष्ट्र एवं सकल विश्व की सेवा पूर्णतया निःस्वार्थ भाव से करता है। वह स्वयं सुख और शान्ति का सदा अनुभव करता है तथा दूसरों को भी सुखी और शान्त बनाने के सत्कर्म में जुटा रहता है।

आप इस तथ्य से परिचित होंगे कि एक सुविकसित एवं सुरभित पुष्प कभी किसी को भी अपने पास बुलाता नहीं या कि अपनी सुगंध का प्रचार करता नहीं। वे व्यक्ति जो उसकी सुगंध से प्रभावित होते हैं—स्वयमेव ही उसके समीप चले जाते हैं तथा उसकी सुवास का आनन्द उठाते हैं। उसी प्रकार एक सुवासित जीवन जीने वाले व्यक्ति को कभी भी आत्म-प्रचार की आवश्यकता नहीं होती है। वह तो अपने सुवासित जीवन की चारों ओर फैलती हुई सुवास के असर से स्वतः ही प्रभावकता का केन्द्र बन जाता है। जिस प्रकार एक भंवरा खुद ही पुष्प के अन्दर की भाषा को समझ लेता है और उसी के चारों ओर मंडराने लगता है, उसी प्रकार आत्म विकास का अभिलाषी पुरुष स्वयं ही सुवासित जीवन के प्रति आकर्षित होता है तथा उसे अपनी आस्था का केन्द्र बना लेता है। यही नहीं, वह तब अपने जीवन में सुवास भरकर उस सुवास को अपनी बपौती नहीं बनाता, बल्कि उसे नये-नये भंवरो में बिखेरना शुरू कर देता है।

सुवासित जीवन की यही विशेषता होती है कि वह प्राप्त सुवास का केन्द्रीकरण नहीं करता, आरंभ से ही उसे विकेंद्रित करना ही अपना लक्ष्य बना लेता है। सुवास के निरन्तर प्रसार की ऐसी ही उत्सर्गपूर्ण भावना चतुर्विध संघ में सतत कार्यरत होनी चाहिये। जहां स्पष्ट रूप से सुवास को फैलाने की क्षमता और भावना आ जाती है तो अपने आप शान्ति का भी संचार होने लगता है। जैसे शरीर चलता है, बोलता है या कि नानाविध क्रियाएँ करता है—उसका यही अर्थ लिया जाता है कि उसमें आत्मा विद्यमान है, उसी प्रकार जब चतुर्विध संघ में भी आत्मीय समानता व एकरूपता ढलती है, सहयोगी गतिविधियाँ बनती हैं तथा शान्ति फैलती है, तब यही माना जायेगा कि उसमें तीर्थ की गुणवत्ता विद्यमान है। साधु-साध्वी के जीवन में पांच महाव्रतों का शुद्ध पालन, त्रिरत्नमय आचरण तथा समिति गुप्ति का अनुसरण वर्तमान हो एवं श्रावक-श्राविका वर्ग में बारह अणुव्रतों के आचरण के साथ सरलता, सदाशयता एवं समता

की स्थितियाँ बन रही हो तो वैसा संघ नवजीवन के प्राण जगाने वाला सच्चा तीर्थ बन जाता है। साधुता की उत्कृष्टता हो और गृहस्थ जीवन के आदर्शों की अभिव्यक्ति, वैसे जीवन की सुवास सब ओर बाहर फैलेगी ही तथा सबमें जीवन की सुवास भरेगी ही।

### चतुर्विध संघ का सुवासित जीवन कैसा हो ?

चतुर्विध संघ के मुख्य दोनों पक्ष साधु-साध्वी तथा श्रावक-श्राविका जब आचरण निष्ठ एवं कर्तव्य निष्ठ हो जाय तब उनके जीवन की सुवास ही पूरे संघ की सुवास बन जाती है। पंच महाव्रतधारी साधु-साध्वी के प्रत्येक व्यवहार में आत्मोन्नयन की सुगंध भरी हुई रहती है। वह अमृत के समान वचन बोलता है और सब को दया पालने का सन्देश देता है। अहिंसा का सर्वत्र प्रसार उसके जीवन का सबसे बड़ा मिशन बन जाता है क्योंकि वह छहों काया के प्राणियों का संरक्षक होता है। वह जागते हुए तो जागता ही है, सोते हुए भी जागता है—उसका विवेक कभी भी सोता नहीं है। उसके मौन में भी जागरण की मुखरता प्रतीत होती है। मानें कि मिट्टी के चार घड़े हैं। जल से एक पूरा भरा है, दूसरा आधा, तीसरा पाव तो चौथे में एक बूंद भी पानी नहीं। चारों घड़ों के ऊपर ढक्कन लगा दिया जाय, फिर भी क्या आप अनुमान लगा लेते हैं या नहीं कि किस घड़े में कितना पानी है? उसी प्रकार आप श्रावक-श्राविकाओं को भी साधुता की पहचान करनी चाहिये कि पंच महाव्रतों का कौन कितनी निष्ठा से पालन कर रहा है और उस पहचान के अनुसार साधुता का सम्मान करना चाहिये। इसी कारण तो भगवान् ने श्रावक-श्राविकाओं को साधु-साध्वियों का माता-पिता तक कहा है।

इसी प्रकार श्रावक-श्राविकाओं के लिये भी श्रावक-धर्म का प्रावधान किया गया है। इस वर्ग के लिये पालनीय बारह अणुव्रत होते हैं तो इसके लिये इक्कीस गुणों, चार विश्रामों, चौदह नियमों, तीन मनोरथों, दस लक्षणों, पांच अभिगमों आदि का भी उल्लेख किया गया है। श्रावक-श्राविका का मन शुद्ध और निश्छल हो, वचन हित, मित, इष्ट और मिष्ट हो तथा आचरण सदाशयी व सहयोगी हो। व्यवहार कार्य और धंधे में नीति का पालन हो तथा दूसरों के लिये हृदय की उदारता सदा सक्रिय बनी रहे। किसी के दिल को वह कभी नहीं तोड़े, बल्कि दिलों को जोड़ने में वह विवेकी और कुशल हो। आशय यह कि पूरे संघ के जीवन में आध्यात्मिक ऑक्सीजन का पूरी तरह प्रसार और विस्तार हो जाये।

### समूचा वातावरण सुवासमय हो जाये

यह सुवास एक जीवन में फैले, अनेक जीवनों में फैले, प्राणियों के प्राणों में फैले और इस प्रकार समूचे वातावरण में फैल जाये। वह इस रूप में फैल जाये कि कोई कभी भी सांस तक ले तो उसे वातावरण से सुवास की ही सांस मिले—सांस—सांस में सुवास फैल जाये।

ऐसे सुवासित जीवन को पाने के लिये जब तक आप में गहरी निष्ठा और एकाग्र लगन नहीं लगेगी, तब तक न स्वयं को सुवास मिलेगी और न संघ को। तब दूसरों को सुवासित बनाने का शुभ कार्य भी सम्पन्न नहीं हो सकेगा। अतः चतुर्विध संघ के सभी वर्ग अपने-अपने आचारों का सम्यक् रीति से पालन करें एवं साम्ययोग की साधना करें, ताकि एकात्मियता की सुवास घनीभूत बनती जाये और सब जीवनों को सुवासित बनाती जाये।

दिनांक 22.09.1986

(जलगांव)



## 23

## ज्ञानालोक में दृमण कदें

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

भगवान् शान्ति नाथ की प्रार्थना की इन पंक्तियों का पुनः-पुनः उच्चारण किया जा रहा है। मैं भी कर रहा हूँ और आप भी ऐसा कर रहे हैं। क्या आप जानते हैं कि ऐसा क्यों किया जा रहा है? बार-बार किस बात का स्मरण किया जाता है? फिर इस प्रकार पुनः-पुनः उच्चारण करते हुए परमात्मा का ही स्मरण क्यों किया जा रहा है? बार-बार शान्ति की ही प्रार्थना क्यों की जा रही है? शान्ति की ऐसी प्रबल चाह कब जागती है? क्यों जागती है? क्या ऐसी चाह आपके अन्तःकरण में जाग रही है? क्या आप अपने भीतर शान्ति की अभिलाषा का अनुभव करते हैं?

मन और मस्तिष्क में जिस प्रकार की गतिविधियाँ चलती हैं, उनकी पहचान करनी चाहिये तथा अनुभव लेना चाहिये कि वहाँ किस प्रकार की अभिलाषा या चाह पल रही है तथा उसकी एकाग्रता किस रूप में है?

सोचिये कि जिस व्यक्ति को तीव्र प्यास लगी हो, वह क्या सोचगा और क्या चाहेगा? वह तो सिर्फ पानी के बारे में ही सोचेगा, पानी की ही इच्छा करेगा तथा पानी को प्राप्त करने का ही उपाय करेगा। वह बाकी सारी बातें एक तरह से भूल जायेगा और 'पानी-पानी' शब्द का ही पुनः-पुनः उच्चारण करता रहेगा। वह पानी को ही याद रखेगा, अन्य किसी चीज को नहीं। वह इसका संकोच भी नहीं करेगा कि बार-बार उसके मुँह से सिर्फ पानी-पानी का शब्द ही क्यों निकल रहा है? वह तो एक ही धुन में रहता है कि कब उस की प्यास बुझे? जब तक प्यास नहीं बुझती, उसकी अभिलाषा और चाह में मात्र पानी ही रहता है।

जिस प्रकार प्यास की पीड़ा से आकुल-व्याकुल व्यक्ति का सारा ध्यान पानी पर केन्द्रित हो जाता है और उसे दूसरी कोई भी बात याद तक नहीं आती

है, वैसे ही परमात्मा की प्रार्थना की पंक्तियों का उच्चारण—एक बार नहीं, बार-बार किया जा रहा हो तब वैसे एक लगन और एकाग्र निष्ठा जाग जानी चाहिये कि भगवान् शान्तिनाथ की शान्ति के लिये सारा ध्यान केन्द्रीभूत हो जाये। पुनः-पुनः उच्चारण का यही अभिप्राय है कि तीर्थकर शान्तिनाथ स्मृति पटल पर बराबर उभरते रहें और हम शान्ति के सिवाय सारी बातें भूल जायें।

### शान्ति मिलेगी कहां, किसकी गोद में?

जिस प्रकार प्यास की तीव्र पीड़ा का अनुभव किया जाता है, उससे भी अधिक पीड़ा का अनुभव होना चाहिये जीवन में रात-दिन फैली हुई अशान्ति से। जैसे प्यास सहन नहीं होती, उससे आकुलता-व्याकुलता बढ़ जाती है और तुरन्त पानी की ही रट लग जाती है, वैसे ही अशान्ति असह्य लगनी चाहिये और एकमात्र शान्ति की धुन लग जानी चाहिये। जब तक शान्ति नहीं मिले, उसके लिये कठिन प्रयास जारी रहना चाहिये। शान्ति की तीव्र प्यास के साथ जो अशान्ति से छुटकारा पाना चाहेगा, उसे केवल शान्ति का ही स्मरण रह जायेगा। शान्ति की अभिलाषा होगी तो भगवान् शान्तिनाथ को स्मृति पटल पर उभारने की ही बात सूझेगी और उनकी प्रार्थना की पंक्तियों का पुनः-पुनः उच्चारण होगा ही। तो शान्ति मिलेगी एकनिष्ठ प्रयासों से तथा मिलेगी भगवान् शान्तिनाथ की पावन गोद में।

वैसे तो सभी तीर्थकर देव शान्ति स्वरूप ही हैं और सभी के तेजोमय जीवन से शान्ति प्राप्ति की समान रूप से प्रेरणा मिलती है। फिर भी जब मन-मस्तिष्क में शान्ति की तीव्र चाह पल रही हो और भगवान् शान्तिनाथ का पावन नाम सामने आवे तो वह नाम उस शान्ति के अभिलाषी को अतीव प्रियकर अनुभव होता है। वह सोचने लगता है कि उसकी जिह्वा पर शान्ति का शब्द बना रहे, उसे एक पल के लिये भी विस्मरण न करे। वह एकाग्रता बन जाती है कि शान्ति उसके रोम-रोम में समा जाये और शान्त-प्रशान्त बनकर वह अपूर्व आनन्द का अनुभव करे।

यह एक हकीकत होती है कि जो शान्ति का आनन्द प्राप्त करेगा, वही शान्ति का आनन्द दूसरों में पैदा करने की क्षमता भी रखेगा। किसी व्यक्ति को किसी जीमणवार में भोजन की परोसगारी करने के लिये कहा जाये, लेकिन यदि वह खुद बेहद भूखा हो तो क्या वह परोसगारी कर सकेगा? वह कहेगा कि पहले उसे तो भोजन कराओ—उसकी भूख मिटाओ, तब परोसगारी करने के लिये कहो। वैसे ही जिसकी आत्मा खुद भूखी हो, उस आत्मा से यह अपेक्षा

कैसे रखी जाये कि वह दूसरों की भूख मिटा सकेगी? जो पहले अपनी आत्मा को उसकी खुराक दे पायेगा, वही दूसरी आत्माओं को भी उनकी खुराक देने की क्षमता रख सकेगा। मैं स्वयं शान्ति के स्वरूप को समझूँ—शान्ति की अपनी प्यास बुझाने का पुरुषार्थ करूँ तब आप में शान्ति की अभिलाषा जगाऊँ और शान्ति के स्वरूप का चिन्तन करने की प्रेरणा दूँ। इस अभिप्राय को इस रूप में समझिये कि शान्ति की प्रबल अभिलाषा के साथ किस मार्ग से शान्ति की खोज की जाये—यह भी जान लेना चाहिये।

### शान्ति की खोज करें ज्ञान के प्रकाश में

आप अनुभव करते होंगे कि आज प्रत्येक प्राणी और मानव के भीतर चल-विचल की अवस्था बनी रहती है और उसके कारण अशान्ति छाया हुई रहती है। वह मनःकल्पित मार्ग से चलना चाहता है किन्तु उससे भी जब उसे शान्ति नहीं मिलती है तब वह शान्ति की खोज करता है—शान्ति को प्राप्त करने का मार्ग ढूँढ़ता है—ऐसा मार्ग जो ज्ञानी जनों ने दिखाया हो और जिस पर चलने से शान्ति को प्राप्त करने का लक्ष्य अवश्यमेव पूरा किया जा सकता हो। ऐसे ही मार्ग का उल्लेख किया है वीतराग देवों ने, किन्तु उस मार्ग को समझने एवं पकड़ने के लिये भी अन्तःकरण में प्रकाश का उदय होना चाहिये क्योंकि अच्छे से अच्छा मार्ग भी अंधेरे में पकड़ा जाये तो उससे भटक जाने की आशंका बराबर बनी रहती है। यह प्रकाश होना चाहिये ज्ञान का प्रकाश, सम्यक् ज्ञान का प्रकाश कि जिसके आलोक में वीतराग देवों द्वारा दिखाया हुआ शान्ति प्राप्ति का मार्ग कभी छूटे नहीं और अपूर्व शान्ति मिलकर ही रहे। ज्ञान के प्रकाश में ही शान्ति की सफल खोज की जा सकती है।

तीर्थंकर जन्म लेते हैं, दीक्षा लेते हैं और अनन्त शान्ति की उपलब्धि करते हैं तो वैसा वे ज्ञान के प्रकाश में ही करते हैं। जिस जन्म में उनके तीर्थंकर गोत्र का कर्मबंध होता है, वह ज्ञान के प्रकाश में की गई भव्य साधना के फल स्वरूप ही होता है। तभी उनको तीर्थंकर के जन्म में गर्भ से ही तीन ज्ञानों की पूर्ण प्राप्ति रही हुई होती है। वे ज्ञान होते हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान एवं अवधिज्ञान। गर्भ में ही उन्हें त्रिकाल ज्ञान प्राप्त होता है, इसी कारण जब वे दीक्षा लेते हैं तो वे किसी पूर्व तीर्थंकर का ज्ञान प्राप्त नहीं करते या कि किसी गुरु की सेवा में नहीं पहुँचते। वे सिद्ध भगवान् को नमस्कार करते हुए स्वयं ही दीक्षा का प्रत्याख्यान ले लेते हैं तथा ग्रामानुग्राम विचरण करने लग जाते हैं। वे अपने जीवन में परम सुख और परम शान्ति को व्याप्त बनाने के लिये सिद्ध स्वरूप

को अपना लक्ष्य बनाकर स्वयं के ही पराक्रम का परिचय देते हैं। तीर्थंकर नाम कर्म का बंध पूर्व जन्मों की करणी के आधार पर होता है जिसकी वजह से उनके जीवन में आन्तरिकता की ऐसी प्रगाढ़ता स्थान पा जाती है कि उसको किसी दिशा निर्देश की अपेक्षा नहीं रहती। ज्ञान के अमित प्रकाश में चारित्र्य की सर्वोत्कृष्टता के कारण ही तीर्थंकरों की आत्मा उसी जन्म में मोक्षगामी बनती है। उनके मोक्ष का आधार उनके सम्यक् ज्ञान का प्रकाश ही होता है।

### सम्यक् ज्ञान की उपलब्धि का मार्ग

शान्ति साध्य है तो उसके साधनों में प्रमुख स्थान माना गया है, सम्यक् ज्ञान का। इसे आधारशिला भी कह सकते हैं जिस पर शान्ति सदन का निर्माण होता है। अतः पहला पुरुषार्थ सम्यक् ज्ञान की उपलब्धि का होना चाहिये। यह उपलब्धि कैसे हो सकती है, उसका कौन-सा मार्ग है—इस पर गंभीरता पूर्वक चिन्तन-मनन होना चाहिये—जांच परख की जानी चाहिये ताकि सच्चा मार्ग मिले और भ्रामक रास्तों में फंसने से बच जाये। यह मार्ग निश्चित रूप से वीतराग देवों द्वारा दर्शाया हुआ मार्ग ही हो सकता है।

सामायिक के पाठ में इस मार्ग का बोध स्पष्ट रीति से होता है। सिद्धाः सिद्धिं मम दीसन्तु की प्रार्थना के लोगस्स के पाठ में सिद्ध कैसे होते हैं, सिद्धि किस प्रकार की मिलती है तथा उस मार्ग पर कैसे चला जाता है—यह सब प्रतीकात्मक रूप से अंकित किया हुआ है। सिद्ध भगवान् सिद्धि का उपहार देंगे नहीं, उसे तो किसी भी साधक आत्मा को अपनी उच्चतम साधना के बल पर उपलब्ध करना होगा। प्रार्थना प्रेरणा पाने के लिये होती है—निष्क्रिय याचना के लिये नहीं। जो निष्ठा पूर्वक साधना के मार्ग पर निश्चल गति से चलते हैं, वे एक न एक दिन सिद्ध गति को प्राप्त करके ही रहते हैं। सिद्ध होने के पहले भी वीतरागता की अवस्था में वे परम शान्ति एवं अपूर्व सुख का अनुभव करते हैं तथा अपने अनुभवों का ज्ञानपूर्ण निचोड़ अपने उपदेशों के रूप में वे सम्पूर्ण विश्व की कल्याण कामना से सबके समक्ष प्रस्तुत करते हैं। उनके वे सारभूत उपदेश ही आज और सदा के लिये सम्यक् ज्ञान के ज्योतिर्स्तंभ के समान सबका मार्गदर्शन कर रहे हैं और करते रहेंगे।

उन वीतराग एवं तीर्थंकर देवों का ही प्रतिनिधित्व करने वाले पंच महाव्रतधारी साधु-साध्वी तीन करण तीन योग से सावद्य क्रियाओं का पूर्णतया त्याग करके सम्यक् ज्ञान के प्रकाश में ही शान्ति का अनुसंधान करते हुए विचरण करते हैं। श्रावक-श्राविकाओं के लिये भी सावद्य क्रियाओं के त्याग

का विधान दो करण तीन योग से किया गया है। सम्यक् ज्ञान का यथाशक्य प्रकाश उन्हें भी प्राप्त करना चाहिये। कारण, शान्ति प्राप्त करने का राजमार्ग सम्यक् ज्ञान का मार्ग ही होता है, अतः इस मार्ग की उपलब्धि में पुरुषार्थ के प्रथम चरण सक्रिय बनने ही चाहिये। इस मार्ग पर जो चलता है, उसे अवश्य ही शान्ति मिलती है। किन्तु कोई इस तरह सोचते हैं कि आज के मोहग्रस्त एवं जड़तामय वातावरण में सम्यक् ज्ञान पाना भी कठिन है और शान्ति का मार्ग खोज लेना भी कठिन रहता है। बाहरी दृश्यों के आकर्षण से छुटकारा पाना आसान नहीं है। भले ही कोई एकान्त गुफा में जाकर साधना करने बैठ जाय, तब भी उसके मन की हलचल उसे वहाँ भी शान्ति का अनुभव नहीं करने देगी फिर इस वातावरण में रहकर कैसे साधना हो और कैसे शान्ति मिले?

सम्यक् ज्ञान के अभाव में कई व्यक्ति सोचते हैं कि साधना शुरू करने के पहले इन्द्रियों के सारे व्यापार को भीतर से रोकना आवश्यक है। इन्द्रियों के व्यापार का संचालनकर्ता उसका मन होता है। उसे भी वे जानने की कोशिश करते हैं लेकिन वे यह नहीं सोच पाते हैं कि बाहर और भीतर की वैचारिकता कोई अलग-अलग नहीं होती है—दोनों एक दूसरे पर आधारित रहती हैं। दोनों एक ही तत्त्व के दो पक्ष के समान हैं। शान्ति प्राप्ति के लिये जो भी उपाय अपनाया जाये—इन दोनों पक्षों के बीच सन्तुलन जरूरी होता है। जिस प्रकार पक्षी अपने दोनों पंखों को सन्तुलित रूप से चलाये बिना उड़ नहीं सकता है, वैसे ही भीतर और बाहर की वैचारिकता को आपस में सम्बन्धित, सन्तुलित तथा एकरूप बनाये बिना शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती है। भीतर और बाहर के ऐसे पारस्परिक सम्बन्ध, सन्तुलन तथा एकरूपता के लिये ही सम्यक् ज्ञान की अपेक्षा रहती है। अतः सम्यक् ज्ञान की उपलब्धि का मार्ग यह है कि मन व इन्द्रियों के व्यापार का निरोध नहीं, उसका सुनियोजन होना चाहिये। वह अशुभ दिशाओं से मुड़कर शुभ दिशाओं में गतिमान बने। गति निरोध न शक्य है, न वांछनीय। केवल गति की दिशा में परिवर्तन किया जाना ही ज्ञानमय है तथा पुरुषार्थ योग्य है।

### सम्यक् ज्ञान के साथ ही तपाचरण की महत्ता

सम्यक् ज्ञान के सुप्रयोग से ही तपाचरण भी सफल बनता है। तप भी दो प्रकार से किया जाता है—बाह्य तप और आभ्यन्तर तप। कभी-कभी बाहरी क्रिया और भीतरी प्रक्रिया में मनुष्य उलझ जाता है किन्तु दोनों प्रकार की क्रिया प्रक्रिया का संचालन एक दूसरे के सहयोग के बिना संभव नहीं होता है। दोनों एक दूसरे की पूरक बननी ही चाहिये। जब किसी का मन भीतर से मजबूत होगा

तभी वह शरीर को कष्ट देने वाली बाहर की तपोमयी क्रियाओं की आराधना शान्तिपूर्वक कर सकेगा। आभ्यन्तर तप अर्थात् भीतर का तप भी दृढ़तापूर्वक वही कर सकेगा जिसका शरीर सक्षम और निरोग हो। शारीरिक तथा मानसिक क्षमताओं का आपस में तालमेल बैठने पर ही सुन्दर रीति से तपाचरण किया जा सकता है तथा यह तालमेल सम्यक् ज्ञान की सहायता से ही बिठाया जा सकता है। ज्ञान स्पष्ट न हो और शुद्ध न हो यानी कि सम्यक् न हो तो भ्रान्तियों के जाल में मनुष्य उलझ सकता है। यह स्पष्ट सुलझन के साथ शुद्ध रीति से तपाचरण कर सके—इसके लिये वीतराग देवों द्वारा प्रदर्शित सम्यक् ज्ञान के पथ पर ही गति की जानी चाहिये।

मन में भी दो प्रकार के विचार चलते रहते हैं। उस विचार संघर्ष में मनुष्य चाहता है कि वह अशान्ति के चक्र में न गिरे। किन्तु विचारों का संघर्ष जब तक चलता रहता है और निर्णयात्मक स्थिति पर नहीं पहुँचा जाता है तब तक शान्ति की प्राप्ति कठिन ही रहती है। विचारों के संघर्ष में भी वही मनुष्य शान्ति प्राप्त कर सकता है जो वीतराग देवों द्वारा बताये गये सिद्धान्तों की कसौटी पर अपने विचारों को कस कर खरेपन का निर्णय ले लेता है। सम्यक् ज्ञान के आलोक में ही यदि विवेकशील पुरुष विचरण करता रहता है तो वह कभी भी भ्रान्ति, भटकाव या अंधकार में नहीं पड़ता। उसके सामने या कि उसके सम्यक् ज्ञान के सामने गंतव्य मार्ग सदा स्पष्ट बना रहता है।

### सम्यक् ज्ञान सद्गुरु से प्राप्त करें

कहा है कि गुरु के बिना ज्ञान नहीं मिलता। वास्तव में एक सद्गुरु ही सम्यक् ज्ञान के आलोक में रमण करने योग्य बना सकते हैं। गुरु की इसी प्रमुख महिमा के कारण ही तो गुरु को गोविन्द (ईश्वर) के समकक्ष ही नहीं बताया गया है बल्कि गोविन्द से भी पहले गुरु का स्थान बता दिया गया है—गुरु गोविन्द दोनों खड़े, किस के लागू पांय। गुरु के बिना गोविन्द नहीं दिखाई देता तो गोविन्द को दिखाने वाला ज्ञान भी गुरु से ही ज्ञात होगा। यह सुनिश्चित तथ्य है कि मनुष्य चाहे कितना भी अध्ययन करे—शास्त्रों का वाचन कर ले लेकिन उसका अर्थ गांभीर्य बिना गुरु के जान नहीं पावेगा। गुरु के बिना ज्ञान अधूरा ही रहता है। अधिकतर ऐसा अधूरा ज्ञान ही जीवन में अशान्ति उत्पन्न करता है और उससे समाज व राष्ट्र में शान्ति उत्पन्न होती है।

अतः सम्यक् ज्ञान सद्गुरु से ही प्राप्त करना चाहिये। आज के युग में कई पुरुष शान्ति पाने के लिये बाहर से प्रयत्न करते हैं और अपने बाहरी ज्ञान

के गरूर में सद्गुरु के पास नहीं पहुंचते हैं, परिणाम स्वरूप उन्हें सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती तथा वे अशान्त ही बने रहते हैं। कई व्यक्ति अज्ञान या प्रमादवश भी गुरु की सेवा में नहीं जाते हैं जिससे उन्हें सही ज्ञान और सही मार्ग नहीं मिलता और वे बुरी आदतों में फंसे रहकर अपना अहित करते जाते हैं। उन बुरी आदतों की वजह से मुसीबतें भी झेलते हैं लेकिन ज्ञान के अभाव में वे अपनी बुरी आदतों को भी नहीं छोड़ पाते हैं। सिगरेट, बीड़ी या किसी भी प्रकार के नशे का उपयोग नहीं करने की सीख बराबर गुरु देते रहते हैं, लेकिन गुरु के पास नहीं जाने वाला व्यक्ति उस सत्शिक्षा से वंचित रह जाता है। तम्बाकू आदि के सेवन से जब उसे कैंसर जैसा रोग हो जाता है और डॉक्टर उसे उस रोग का खतरा समझाते हैं तब उसे पश्चात्ताप होता है कि वह गुरु की सेवा में क्यों नहीं गया तथा क्यों उनकी सत्शिक्षा मानकर अपनी बुरी आदतों को छोड़ नहीं पाया? ऐसा व्यक्ति कई बार सावचेत हो जाता है और गुरु के पास पहुंच कर सच्चा ज्ञान प्राप्त करने का संकल्प ले लेता है। कई व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो सच्चे मन से शान्ति की चाह रखते हैं किन्तु सम्यक् ज्ञान व सच्ची विधि जानने के लिये सद्गुरु के पास नहीं पहुंचते, बल्कि बस्ती छोड़कर वन प्रदेश में चले जाते हैं और एकान्त गुफा तक में चले जाते हैं कि उन्हें शान्ति का अनुभव हो जाये, लेकिन वहां भी किसी वन्य प्राणी की आवाज सुनाई देती है तो भय से मन में चल-विचल भाव आ जाते हैं और वे अशान्त हो जाते हैं। अशान्त मन को शान्ति में रमण किस प्रकार कराया जा सकता है—इसका ज्ञान गुरु से ही मिल सकता है तथा उसका अभ्यास भी विधि पूर्वक गुरु ही करा सकते हैं। गुरु के सहयोग के बिना शान्ति पाने की सच्ची इच्छा भी निरर्थक हो जाती है।

कहने का आशय यह है कि भीतरी और बाहरी वातावरण तथा उनके सम्बन्ध में दोनों प्रकार की विचारणा का जब तक गुरु की सेवा में बैठ कर सन्तुलन करने की विधि नहीं सीखी जाती है तब तक शान्ति का अनुभव ले पाना कठिन ही रहता है। कोरे बाहर के वातावरण में शान्ति नहीं मिलती तथा अविधि एवं अज्ञान पूर्वक भीतर के वातावरण में भी शान्ति नहीं मिलती क्योंकि वैसी मानसिकता में स्थिरता की अवस्था नहीं आती। शान्ति प्राप्त करने के लिये मनःकल्पित मार्ग काम नहीं आता है, उसके लिये तो सम्यक् ज्ञान की आवश्यकता होती है जो वीतराग देवों द्वारा उपदेशित होता है तथा सद्गुरुओं द्वारा निर्देशित। अतः शान्ति की खोज गुरु की सेवा में जाकर करनी चाहिये जिनकी कृपा से सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति होती है।

## भीतर और बाहर की विचारणा का सन्तुलन

मनुष्य अपने चर्म चक्षुओं से बाहर के दृश्य देखता है और तब उसकी अन्य इन्द्रियाँ और मन भी उन दृश्यों में सक्रिय बनते हैं। उन दृश्यों में सुनने के, सूँघने के, खाने के या कि स्पर्श करने के आकर्षणों के प्रति कान, नाक, मुँह, शरीर आदि झुकते हैं तो सारी इन्द्रियों को उस ओर प्रवृत्त कराने वाला मन होता है। क्योंकि मन ही बाहरी दृश्यों में मनुष्य को बांधने वाला प्रमुख साधन होता है। बाहर के ही दृश्यों में फंसने से सुख का आभास कम किन्तु दुःख का अनुभव बहुत होता है तब उस मन में अशान्ति का तीखा ज्वार उठता है। उस अशान्ति से आकुल-व्याकुल होकर मनुष्य शान्ति पाने की चाह करने लगता है।

ऐसी मनःस्थिति में उसके सामने दो विकल्प रहते हैं। एक तो अधूरे ज्ञान के बल से सोचे गये मनःकल्पित मार्ग पर खुद ही चल पड़ना और शान्ति की खोज करना। दूसरा विकल्प यह कि वह वीतराग धर्म के अनुयायी सद्गुरु के पास पहुँचे, उन्हें अपनी मनोदशा से परिचित करावे तथा शान्ति की खोज करने के लिये सम्यक् ज्ञान एवं विधि बताने की प्रार्थना करे। गुरु की सेवा में क्यों जावें—इसके लिये शास्त्रकार कहते हैं कि जो पहले स्वयं के अज्ञानान्धकार को नष्ट करता है और स्वयं को प्राप्त सम्यक् ज्ञान का दूसरों को उपदेश देता है, वही सच्चा गुरु होता है। वह ऐसा सच्चा गुरु होता है कि किसी भी अज्ञानी के अंधकार को मिटाने तथा उसे ज्ञान के आलोक में रमण करने योग्य बनाने में पूर्ण समर्थ होता है। अतः मनःकल्पित मार्ग पर चलने से खतरे ही खतरे रहते हैं और प्रतिक्षण भ्रान्तियों में भटक जाने का भय सामने आता रहता है। वैसी दशा में मन का यथार्थ निग्रह एवं दिशा परिवर्तन नहीं हो पाता है। अतः दूसरा विकल्प ही आत्म कल्याण की संभावना को सुनिश्चित बनाता है।

विचारणीय वस्तुस्थिति यह है कि भीतर और बाहर के एकदम जुदा-जुदा क्षेत्र नहीं हैं जैसे कि एक क्षेत्र में से किसी भी तरह निकलकर दूसरे क्षेत्र में एक बार पहुँच गये तो निश्चित हो गये। भीतर और बाहर के क्षेत्र ऐसे नहीं हैं बल्कि इस कदर जुड़े हुए हैं कि पल-पल में मन और इन्द्रियाँ इधर से उधर और उधर से इधर आते जाते रहते हैं। कल्पना करें कि आंख ने अपने सामने एक सुन्दर वस्तु देखी। पल भर के लिये मन उस पर मोहित हो गया किन्तु दूसरे ही पल मन ने सोचा कि यह मोह मेरे पतन का कारण बन सकता है इसलिये उसने अपना आकर्षण उस वस्तु से हटा लिया और आंख की नजर भी उस पर से दूर करा दी। मन उस वस्तु के आकर्षण से दूर होकर समतामय विचारों



में डूब गया। तो क्या हुआ? पहले पल मन बाहर के क्षेत्र में था और दूसरे ही पल भीतर के क्षेत्र में चला गया। पुनः ऐसा भी हो सकता है कि उस सुन्दर वस्तु का आकर्षण मन को फिर से बाहर के क्षेत्र की ओर मोड़ ले। इस रूप में मन की तीन प्रकार की स्थितियाँ बनती हैं। पहली, तो यह कि मन बाहर के क्षेत्र में ही मोहग्रस्त बना रहे और भीतर के क्षेत्र के बारे में सोचे भी नहीं। वैसा तो पूरी तरह जड़ग्रस्त मन हुआ। दूसरी मन की स्थिति ऐसी होती है कि वह बाहर से भीतर तथा भीतर से बाहर के क्षेत्रों में बार-बार आवागमन करता रहता है किन्तु दोनों क्षेत्रों का सन्तुलन नहीं बिठा पाता है तथा भीतर के क्षेत्र में स्थिरता ग्रहण नहीं कर पाता है। यह स्थिति फिर भी आशाजनक होती है कि कभी मन जड़ग्रस्तता से उबरकर अपनी सत्चेतना को स्थिर कर पायेगा। मन की तीसरी स्थिति ही वास्तविक स्थिति होती है। वह बाहर के क्षेत्र की असलियत जान लेता है और वहाँ के आकर्षणों के खोखलेपन को भी पहचान जाता है। तदनन्तर वह भीतर के क्षेत्र का चिन्तन-मनन व आत्मावलोकन से आनन्द दायक परिचय पाता है और ज्ञान के आलोक में वहाँ रमण करने का अभिलाषी बन जाता है। इस सम्यक् ज्ञान के आधार पर ही तब वह सन्तुलन स्थापित करता है। इस तरह के सांसारिक कर्तव्यों का वह निर्वाह करता है किन्तु सांसारिकता में मोहग्रस्त नहीं होता और भीतर के क्षेत्र में वह स्थिरता ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार भीतर एवं बाहर की विचारणा का जब श्रेष्ठ सन्तुलन स्थापित हो जाता है तब स्थायी शान्ति का संचरण भी संभव बन जाता है। वैसा मन फिर अशान्त नहीं होता है और अशान्ति के कारणों के सामने आने पर भी स्थिर चित्त बना रहता है। सन्तुलन का ऐसा ज्ञान और अभ्यास गुरु कृपा से ही प्राप्त होता है।

### मन ज्ञान के आलोक में रमण करे

मन की सन्तुलनमय तीसरी स्थिति तभी बन सकती है, जब वह सदा सम्यक् ज्ञान के आलोक में रमण करने का अभ्यस्त हो जाये। सदा आलोक रहेगा तो अंधकार नहीं आ पायेगा और अंधकार नहीं आयेगा तो कभी भी पथ विभ्रम नहीं हो सकेगा। मार्ग स्पष्ट हो और मन शुभ दिशाओं में गतिशील तो फिर ऐसी कोई भी बाधा नहीं हो सकती जो मन को विजेता बनने से रोक सके। वैसा कर्मठ मन सभी बाहरी विपदाओं से भी सफल संघर्ष कर लेता है तो अपने कर्म रूपी आत्म शत्रुओं को भी परास्त कर देने में पीछे नहीं रहता। वह सर्व विजेता होते हैं जिनकी आत्मा की अनन्त शक्तियाँ प्रकट होकर लोक कल्याण में सुनियोजित हो जाती हैं।

सम्यक् ज्ञान के आधार पर सन्तुलन साधने पर ही मन का गति परिवर्तन संभव होता है। सन्तुलन साध लेने से पहले जब मन दूसरी प्रकार की स्थिति में होता है तथा भीतर बाहर में चल-विचल रहता है तब गुरु की कृपा और साधना का बल मन को साधने में महत्त्वपूर्ण योग देते हैं। उस स्थिति में जागृत आत्मा निरन्तर मन का परीक्षण करती रहती है कि कब वह फिसल कर भीतर के क्षेत्र से बाहर भाग जाता है और किस मोह में फंस जाता है। उसी समय यह प्रयत्न वह प्रारंभ करती है कि मन को वहां से खींचे और पुनः भीतर के क्षेत्र में ले आवे। फिर सम्यक् ज्ञान से उसकी विचार गति को शुभ दिशाओं में दौड़ने के लिये वह प्रेरित करती है। बार-बार की ऐसी परीक्षा और प्रेरणा से मन का चंचल स्वभाव भी बदलता है और वह भीतर के क्षेत्र में स्थिर होने लगता है। इस अभ्यास से वह सन्तुलित बन जाता है। तब जागृत आत्मा के साथ पूर्णतया जागृत होकर मन भी जुड़ जाता है। उसके बाद तो शरीर और इन्द्रियाँ पूरी तरह से आत्मानुगामी बन जाती हैं। फिर जड़-मोह की कड़ियाँ टूटती ही हैं और ज्ञानालोक में रमण करने की अवस्था स्थायित्व ग्रहण करती ही है।

इसलिये चिन्तन एवं मनन के साथ आत्मावलोकन करो। अपनी आन्तरिकता की गहराई में उतरने के लिये सचेष्ट बनो। सद्गुरु की सेवा में जाओ, सम्यक् ज्ञान एवं सच्ची विधि की शिक्षा लो, फिर निरन्तर मन का परीक्षण करते रहो तथा उसे सन्तुलित बनाकर अपना सारा पुरुषार्थ ऊर्ध्वगामिता की ओर आगे बढ़ने में लगा दो। इस प्रक्रिया के साथ जब गतिशीलता बनेगी तो वैसी आत्मा एक दिन अपने गंतव्य तक भी अवश्य पहुंचेगी। इस हेतु सदा ज्ञानालोक में रमण करें।

दिनांक 23.09.1986

(जलगांव)

## 24

## अनुसरण कर्तव्य सत्य का

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

किसी भी विषय को जानने का समुचित प्रयास तभी प्रारंभ हो सकता है जब उसे जानने की अभिलाषा प्रबल हो जाये। तीव्र उत्कंठा या इच्छा ही ज्ञानार्जन का मूल बनती है। इसी से एक निष्ठा बनती है और लगन लग जाती है। बिना धुन और लगन के कोई भी उपलब्धि संभव नहीं बनती है। फिर जीवन के श्रेष्ठ विकास से सम्बन्ध रखने वाली आध्यात्मिक उपलब्धियों के लिये तो सामान्य पुरुषार्थ के साथ साधना के पराक्रम की भी आवश्यकता होती है। साधना में शरीर, मन और आत्मा की एकरूपता एवं जागरूकता साधनी चाहिये तथा सम्पूर्ण अभिलाषा एवं शक्तियाँ एक ही दिशा में कार्यरत बन जानी चाहिये।

इसके साथ सर्वाधिक ध्यान जिस विषय में केन्द्रीभूत होना चाहिये वह होता है सत्य का अनुसरण। ज्यों-ज्यों असत्य के अंश नष्ट होते जाते हैं वहां सत्य की देदीप्यमान आभा प्रकाशित होती जाती है। वास्तविकता तो यह होती है कि सभी प्रकार की साधनाओं, योग-प्रक्रियाओं और तपस्याओं का अन्तिम लक्ष्य सत्य का साक्षात्कार करना ही होता है। तभी तो सत्य को श्रेष्ठतम दार्शनिकों ने भगवान् की ही संज्ञा दी है। सत्य के प्रकाश में ही साधना बलवती बनती है और साधना के सम्पूर्ण बल का सारभूत परिणाम प्रकट होता है—सत्य की ही अनुभूति में। सत्य का संचरण आरंभ से अन्त तक होना चाहिये बल्कि जीवन विकास के सारे लक्ष्य सत्य में ही पुंजीभूत रहते हैं। इस दृष्टि से सदा सर्वदा सत्य का अनुसरण एक अत्यावश्यक कर्म माना गया है।

जो पुरुष सत्य का अनुसरण करते हुए ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की आराधना करता है, वही अति विशिष्ट पुरुष बनता है और उसकी आत्मा का अणु-अणु सत्य की धवलता से निर्मलतम एवं उज्ज्वलतम बन जाता है

सत्य का अनुसरण करते हुए ही ज्ञान पिपासा एवं जिज्ञासा तीव्र बनती है और सत्यानुगामी सम्यक् ज्ञान के धरातल पर आत्म विकास की यात्रा में अनन्त आन्तरिक शक्तियों तथा उपलब्धियों का स्वामी बनता है। सत्य का अनुसरण प्रमुख साधना है तो सत्य का साक्षात्कार सर्वोच्च साध्य। अतः सम्पूर्ण आस्था, निष्ठा एवं क्रियाशीलता के केन्द्र में सत्य को ही प्रमुख स्थान दिया जाना चाहिये।

### असत्य के अंधेरे में भटकते हुए संसार के प्राणी

इस संसार की अवस्था एकदम विपरीत चल रही है। अधिकतर प्राणी असत्य के अंधेरे में ही भटक रहे हैं। असत्य की इसी काली छाया में अज्ञान बढ़ रहा है तो मोहग्रस्तता जटिल बन रही है। जिसके कुप्रभाव से भौतिक सुखों की चाहत, सत्ता और सम्पत्ति की लालसा तथा संघर्ष और तनाव की उत्तेजना आज मनुष्य के मन और मस्तिष्क में उफन रही है—उबल रही है। वर्तमान युग में मनुष्य तरह-तरह की बुराइयों का पुतला बनता जा रहा है। उसकी वृत्तियाँ जड़ लिप्सा से भरपूर है तो उसकी प्रवृत्तियाँ तदनुसार लोलुप, राग द्वेष युक्त तथा कुटिल बनी हुई है। इतना ही नहीं, आस-पास का वातावरण तथा समाज, राष्ट्र या विश्व के क्रिया-कलाप भी इतने विषैले हो गये हैं कि जन्म के साथ ही भांति-भांति की बुरी आदतें जीवन के पीछे लग जाती हैं। आज उसकी जन्मजात बुराइयाँ भी हैं तो सम्पर्कगत बुराइयाँ भी कम पैदा नहीं हो रही है। वातावरण व सम्पर्क बुरा, संगति बुरी और गतिविधि बुरी—फिर मनुष्य अपने जन्म से, बचपन से और अपनी शिक्षा-दीक्षा से अच्छाई का सूत्र पकड़ने की भी चेष्टा करे तो कैसे करे? यह नहीं है कि वह अच्छाई का सूत्र पकड़ ही नहीं सकता है किन्तु बुराई से लड़ने का साहस उसे जुटाना पड़ेगा, सत्संग साधकर सच्चे धर्म का परिचय पाना होगा तथा कठिन पुरुषार्थ करते हुए असत्य से दूर होना व सत्य का अनुसरण करना होगा। अच्छाई के मार्ग पर आगे से आगे बढ़ते रहने के लिये सतत सावधानी, निरन्तर सक्रियता तथा सत्य के प्रति अटूट निष्ठा सदा बनी रहनी चाहिये।

आज के विषमताओं से भरे हुए और असत्य के अंधकार में भटकते हुए युग में सत्य का अनुसरण करना सामान्य बात नहीं है, क्योंकि जीवन में विविध क्रियाओं को करते हुए पग-पग पर घोर असत्य का सामना करना पड़ता है तथा असत्य के झटके सहन करने पड़ते हैं। कभी-कभी असत्य की यातनाएँ इतनी कठोर हो जाती हैं कि सत्य के पथ पर पैरों को मजबूती से जमाकर चलना

दूभर बन जाता है। कदम-कदम पर पैर लड़खड़ाने लगते हैं और आस्थाएँ टूटने लगती हैं। क्योंकि मन और मस्तिष्क को सांसारिक प्रलोभन एवं भौतिक आकर्षण भ्रमित बनाने लगते हैं। फिर सारे संसर्ग और सम्पर्क भी किसी को सत्य के पथ से डिगाने को ही आतुर रहते हैं। परिणाम स्वरूप सधे हुए जीवन में भी बिखराव आने लगता है और कार्यशक्ति शिथिल होने लगती है। इस मनोदशा में कोई उपलब्धि प्राप्त करना तो दूर-श्रेष्ठ उपलब्धियों के मार्ग पर गति करना भी अति कठिन हो जाता है।

इसीलिये कवि ने संकेत दिया है कि हे आत्मा, तुझे धन्यवाद है। यह धन्यवाद सत्यानुगामिता का धन्यवाद है, जिसे प्राप्त करने के लिये भव्य आत्माएँ अपनी तीव्र अभिलाषा बनाती हैं और उस दिशा में प्रयत्नशील बनती हैं। आप जानते हैं कि धन्यवाद का शब्द बड़ा प्रभावक होता है जिसे सुनते ही कोई भी अपने को बड़ा महसूस करने लगता है। धन्यवाद का शब्द वास्तव में उसे बड़ा बनने की प्रेरणा देता है कि वह अपने जीवन के विकास की वैसी चाहत बनाकर उसके योग्य पुरुषार्थ में जुट जाये। तभी वह परमात्मा के स्वरूप को समझता है, निजात्मा के स्वरूप को परखता है तथा आत्म विकास की दिशा में अग्रगामी बनकर शान्ति की अनुभूति प्राप्त करता है। वास्तव में कवि द्वारा आत्मा को दिया गया धन्यवाद ऐसी ही समुन्नत आत्मा के लिये है जो समुन्नति का प्रेरणास्रोत बनती है।

### सत्य का स्वरूप एवं सत्यनिष्ठा का फल

शास्त्रकारों ने सत्य को भगवान् एवं लोक का सारभूत तत्त्व माना है। प्रश्न व्याकरण सूत्र में उल्लेख है कि सत्य लोक में सारभूत है। सत्य महासमुद्र से भी अधिक गंभीर, सुमेरु पर्वत से भी अधिक स्थिर, चन्द्रमंडल से भी अधिक सौम्य, सूर्यमंडल से भी अधिक प्रदीप्त, शरदकालीन आकाश से अधिक निर्मल तथा गंधमादन पर्वत से भी अधिक सुगन्धित होता है। इस लोक में जितने भी मंत्र, योग, जप, तप, विद्या, जृम्भका, अस्त्र-शस्त्र, शिक्षा और आगम हैं, वे सभी सत्य पर स्थिति हैं। महासागर के बीच में दिशा और मार्ग भूले हुए जहाज सत्य के प्रभाव से स्थिर रहते हैं और डूबते नहीं हैं। सत्य के प्रभाव से जल का उपद्रव होने पर भी मनुष्य न बहते हैं और न मरते हैं बल्कि जल की थाह पा लेते हैं। सत्य का ही प्रभाव होता है कि मनुष्य अग्नि की लपलपाती ज्वालाओं में भी जलते नहीं हैं। सरल सत्यवादी मनुष्य सहज रूप में तपे हुए तेल, कथीर, लोहे और सीसे को छू लेते हैं—अपनी हथेली पर रख लेते हैं किन्तु उनका कुछ

नहीं बिगड़ता है। सत्य का अनुसरण करने वाले पर्वत पर से गिराये जाने पर भी अनाहत रहते हैं। सत्यधारी महापुरुष युद्ध में तलवारों हाथ में लिये हुए शत्रुओं से धिर जाने पर भी अक्षत बाहर निकल आते हैं। घोर वध, बन्ध, अभियोग और शत्रुता से भी वे सत्य के प्रभाव से मुक्त हो जाते हैं, क्योंकि सत्य से प्रभावित होकर देवता सत्यवादियों के समीप बने रहते हैं।

इसी दृष्टि से आचारांग सूत्र में प्रेरणा की गई है कि सत्य में दृढ़ रहो क्योंकि सत्य का अनुसरण करने वाला बुद्धिमान् व्यक्ति अपने सभी पाप कर्मों का क्षय कर देता है। कहा गया है कि सत्य का ही सेवन करो। कारण, सत्य की आराधना करने वाला मेधावी पुरुष मृत्यु को तैर जाता है। असत्य की भर्त्सना करते हुए दशवैकालिक सूत्र में शास्त्रकारों ने स्पष्ट किया है कि संसार में साधु पुरुषों ने असत्य यानी मृषावाद की निन्दा की है, क्योंकि असत्यवादी का कोई विश्वास नहीं करता। इसलिये असत्य का त्याग आवश्यक है। जो मनुष्य भूल से भी, ऊपर से सत्य मालूम होने वाली किन्तु मूलतः असत्य भाषा बोलता है उससे भी वह पाप का भागी बनता है, तब भला जान-बूझकर जो असत्य भाषण करता है, उसके पाप बंध का तो कहना ही क्या? अपने स्वार्थ के लिये या दूसरों के लिये, क्रोध से अथवा भय से, दूसरों को दुःख पहुंचाने वाला असत्य वचन न स्वयं कहे और न दूसरों से कहलावे। एक साधक को पाप का अनुमोदन करने वाली निश्चयकारी तथा दूसरों को दुःख पहुंचाने वाली वाणी नहीं बोलनी चाहिये। उसे क्रोध, लोभ, भय और हास्य के वश में होकर भी पापकारी शब्द नहीं कहना चाहिये। सूयगङ्गा सूत्र में भी बताया गया है कि सदा सत्य से सम्पन्न होकर जगत् के सभी प्राणियों के साथ मैत्री भाव रखो। सत्य वचनों में भी निरवघ्न अर्थात् पापरहित वचन प्रधान माना गया है।

शास्त्रकारों ने स्पष्ट कहा है कि सत्य यश का मूल कारण होता है तथा सत्य ही विश्वास प्राप्ति का मुख्य साधन। सत्य स्वर्ग का द्वार है एवं मुक्ति का सोपान। असत्य भाषण के फलस्वरूप प्राणी यहीं पर जिह्वाछेद, वध और बंध रूप कठोर दुःख भोगते हैं। उनका लोक में अपयश होता है तथा धन का नाश होता है। सत्यवादी पुरुष माता की तरह लोगों का विश्वास पात्र होता है एवं गुरु की तरह पूज्य होता है। स्वजन की तरह वह सभी को प्रिय लगता है।

### सत्य के अनुसरण का दिशा निर्देश

सत्य का अनुसरण आरंभ करने वाले पुरुष को असत्य का त्याग करना भी आरंभ कर देना चाहिये। इसमें पहले वह स्थूल असत्य या मृषावाद का त्याग

करे। क्या होता है स्थूल असत्य? दुष्ट अध्यवसाय पूर्वक तथा स्थूल वस्तु के विषय में जो असत्य भाषण किया जाता है, वह असत्य का स्थूल रूप होता है। अविश्वास आदि के कारण इस स्थूल मृषावाद का दो करण तीन योग से त्याग करना यह श्रावक-श्राविकाओं का मृषावाद त्याग रूप दूसरा अणुव्रत होता है जिसके पांच प्रकार कहे गये हैं—1. कन्या और वर सम्बन्धी झूठ। 2. गाय, भैंस आदि पशु सम्बन्धी झूठ। 3. भूमि सम्बन्धी झूठ। 4. किसी की धरोहर दबाना या उसके सम्बन्ध में झूठ बोलना। तथा 5. झूठी गवाही देना।

साधु के लिये इसी मृषावाद का सूक्ष्म रूप से भी त्याग करने का विधान है जो दूसरे महाव्रत के रूप में बताया गया है। इस महाव्रत की पांच भावनाएँ कही गई हैं—1. सत्यवादी साधु को हास्य का भी त्याग करना चाहिये क्योंकि हास्य वश भी झूठ बोला जा सकता है। 2. साधु को सम्यक् ज्ञान पूर्वक विचार करके बोलना चाहिये, कारण, बिना विचारे बोलने वाला कभी झूठ भी कह सकता है। 3. क्रोध के कुफल को जानकर साधु को उसे त्यागना चाहिये क्योंकि क्रोधान्ध व्यक्ति का चित्त अशान्त हो जाता है और वह स्व-पर का भान भूल कर जो मन में आवे वही कह देता है जिसके अनुसार उसके झूठ बोलने की बहुत संभावना रहती है। 4. साधु को लोभ का त्याग करना चाहिये। कारण, लोभी व्यक्ति धन आदि की इच्छा से झूठी साक्षी आदि देकर झूठ बोल सकता है। 5. साधु को भय का भी परिहार करना चाहिये। भयभीत व्यक्ति प्राण आदि को बचाने की इच्छा से सत्य व्रत को दूषित बना कर असत्य में प्रवृत्ति कर सकता है।

इस दिशा-निर्देश के अनुसार ही किसी भी सद्गृहस्थ एवं सत्साधु को सत्य का अनुसरण करना चाहिये। ऐसा सत्यवादी, सत्यधारी तथा सत्यानुगामी ही शान्ति के स्वरूप की खोज कर सकता है तथा उसे आत्मसात् भी कर सकता है। इसी आधार पर शान्ति की जिज्ञासा का निर्माण होना चाहिये। शान्ति की खोज में धैर्य की भी अभित आवश्यकता रहती है क्योंकि सत्य के मार्ग में बड़ी-बड़ी बाधाएँ आती हैं जो मन में अस्थिरता उत्पन्न करती रहती हैं। अस्थिर मन में स्थिरता लाने के प्रयासों के साथ धीरज की जरूरत होती है, वरना मनुष्य जल्दी ही निराश हो सकता है। सत्य का मार्ग तलवार की धार के समान तीक्ष्णता तथा कांटों की तरह चुभन देने वाला होता है जिस पर चलने के लिये कठोर साहस और अपार धैर्य होना ही चाहिये। धैर्यशील सत्यानुगामी ही वीतराग देवों द्वारा प्रदर्शित धर्म मार्ग पर दृढ़ता से चल सकता है तथा अपनी बाधाओं को पार करते हुए गंतव्य स्थल तक पहुंच सकता है। ऐसा सत्यानुगामी

प्रभावशाली होता है तथा समाज एवं राष्ट्र को असत्य के विरुद्ध संघर्ष करने के लिये तत्पर बनाता है।

### सत्यवादिता के प्रारंभिक पाठ

समाज और राष्ट्र में कई लोग दोहरी जिन्दगी जीते हैं। बाहर से तो वे यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि वे अच्छाइयाँ रखने वाले हैं ताकि जनता उसका सम्मान करे। किन्तु परदे के पीछे उनकी दूसरी ही प्रकार की जिन्दगी होती है जहां वे तरह-तरह की बुराइयों में उलझे हुए रहते हैं, जिससे सामान्य जनता अनभिज्ञ रहती है। उनका गोपनीय व्यवहार सीमित जानकारी में ही रहता है। ऐसा जीवन जीने वाले असत्य का ही सेवन करते हैं। सत्यवादी के जीवन में कोई दोहरापन नहीं होता—वे जैसे भीतर होते हैं वैसे ही बाहर। और उनके विषय में जो कुछ सब जानते हैं, वह एक भी जानता है। वहां गोपनीय कुछ भी नहीं होता। अतः असत्य छोड़कर सत्य का अनुसरण करने के लिये पहले स्थूल यानी बड़े असत्य को छोड़ने का प्रयास किया जाना चाहिये। इसी दृष्टि से सत्यवादिता के प्रारंभिक पाठ के रूप में श्रावक धर्म का निरूपण किया गया है कि पहले स्थूल मृषावाद का त्याग किया जाये। वर-कन्या से लेकर मनुष्य के साथ व्यवहार में वह कई प्रकार के झूठ नहीं बोले जिनमें पशु-पक्षी, भूमि आदि अनेक क्षेत्रों का समावेश हो जाता है। किसी व्यक्ति ने श्रावक के पास अगर कोई अमानत रखी हो तो उसका भी वह अपहरण नहीं करे या कि उसके बारे में किसी तरह का झूठ नहीं बोले।

कोई किसी के पास अमानत या न्यास रखता है, वह मुख्य रूप से विश्वास के आधार पर ही रखता है इसलिये अपने पास रखी हुई अमानत हड़पने के लिये झूठ बोलना बड़ा ही जघन्य अपराध माना गया है, क्योंकि वह एक प्रकार से विश्वासघात का मामला बनता है। समझें कि कोई अपनी बहुमूल्य वस्तु विश्वास के साथ किसी के पास अमानत के तौर पर रखकर परदेश चला गया। वहां से काफी अरसे बाद वापस लौटकर वह अपनी अमानत मांगता है। उस समय सामने वाला आदमी झूठ बोल जाये कि उसने तो उसके पास कोई वस्तु रखी ही नहीं थी तो इसे संसार की भाषा में अमानत में खयानत कहते हैं। और धार्मिक भाषा में विश्वासघात असत्य का सेवन कहा जाता है जो अति निकृष्ट पाप कार्य होता है। दूसरे अणुव्रत के पाठ में इस कृत्य को 'णासावहारो' कहा गया है। यह असत्य व्यवहार का बहुत बड़ा दोष होता है। ज्ञानीजनों ने कहा है कि ऐसा धोखा देने वाला विश्वासघाती व्यवहार जो भी करता है, वह दुनिया में प्रकट न



भी हो तब भी निकृष्ट पाप की श्रेणी में आता है। असली-नकली वस्तुओं की मिलावट या कि खोटे सोने को खरा कहकर बेचना आदि कार्य इसी प्रकार के होते हैं। जहां भी किसी भी रूप में किसी का विश्वास तोड़ा जाता है या कि ठगी या धोखा किया जाता है, वह असत्य व्यवहार 'णासावहारो' के वर्ग में आता है। जो चोरी करता है उसे तो चोर कह देते हैं लेकिन धोखा देने का काम चोरी से भी बदतर होता है। अतः सत्यवादिता के प्रारंभिक पाठ में उन पांच प्रकार के झूठ को छोड़ना आवश्यक बताया गया है जिनमें किसी की धरोहर दबाना या कि उसके लिये झूठ बोलना भी शामिल है। ये पांच प्रकार के बड़े झूठ त्यागे बिना सत्यवादिता के प्रारंभिक पाठ पूरे नहीं होते हैं तथा सत्यानुगामिता के क्षेत्र में विशेष प्रगति नहीं होती है। स्थूल मृषावाद का त्याग करने के बाद ही उसके सूक्ष्म प्रकारों का त्याग करने की क्षमता उत्पन्न होती है। अतः सत्यानुसरण के प्रारंभिक पाठों का अभ्यास सर्वप्रथम कर लिया जाना चाहिये।

### असत्य व्यवहार के नानाविध रूप

असत्य व्यवहार के नानाविध रूपों को और मुख्य रूप से प्रवंचक रूपों को देखना है तो उन्हें आज की व्यापार की दुनिया में देख सकते हैं। कोई अनजान व्यक्ति मूल्यवान वस्तु बेचने आवे तो उसका कम मूल्य बताया जाता है और अपनी घटिया वस्तु का ऊँचा मूल्य बताकर उसका झूठा बखान किया जाता है। नादान विक्रेताओं को और ग्राहकों को बुरी तरह से ठगा जाता है। झूठी साक्षी देकर और सौगंध खाकर दूसरों के असत्य व्यवहार में भी व्यर्थ भागीदारी की जाती है। चोरों की मदद की जाती है, चोरी का माल चुपके-चुपके खरीदा जाता है और ऊँचे दामों पर बेचा जाता है। आजकल तो तस्करी का धोखेभरा और झूठा धंधा भी पूरी तरह से फैल रहा है। बाहर से प्रतिष्ठित माने जाने वाले बड़े-बड़े व्यापारी तो एक नहीं, अनेक प्रकार के नम्बर दो के धंधे करते रहते हैं तथा राज्य शासन को धोखा देकर करों की चोरी भी आम तौर पर करते हैं।

अच्छे माल का नमूना बताकर घटिया माल बेच देना, वस्तुओं में हानिकारक पदार्थों की मिलावट कर देना या कि स्वदेशी को विदेशी वस्तु बताकर निकालना तो जैसे आम बात बनी हुई है। मूल्यों में हेराफेरी का भी कोई हिसाब नहीं है। आप लोगों के ऐसा देखने में आता होगा कि एक कपड़े का व्यापारी अधिकतर ग्राहक की शक्ल देखकर कपड़े के भाव बताता है क्योंकि इस जमाने में इतने प्रकार के धागे निकल गये हैं जिसके कारण अच्छे-अच्छे पारखी भी कपड़े की परख नहीं कर पाते हैं व मूल्य नहीं समझ पाते हैं, फिर साधारण

ग्राहक तो अपनी समझ से उसकी परख कर ही कैसे सकता है? असत्य व्यवहार करते हुए कुटिल व्यापारी इस नासमझी का पूरा-पूरा फायदा उठाता है—ग्राहक के विश्वास को घिस-घोलकर पी जाता है।

ग्राहक को पटाना भी आज के व्यापार जगत् में एक कला हो गई है। तरह-तरह की किस्मों के माल में उसे उलझाना और ऐसी पैरवी करना कि ग्राहक व्यापारी के चुंगल से निकल ही नहीं सके—ऐसी कलाबाजी भी अकसर की जाने लगी है। निर्धारित मूल्यों की व्यवस्था को भी व्यापारियों ने धोखे के साथ अपनाया हुआ है। अपने घटिया माल को बेचने में ऐसी-ऐसी दलीलों के साथ ग्राहक को समझाया जाता है कि वह हर हालत में चक्कर खा ही जाता है। पुरानी वस्तु पर पॉलिश आदि लगाकर उसे नई बता देते हैं और ग्राहक से नई वस्तु के दाम ले लेते हैं। कई जगह वस्तुओं की गिरवी का धंधा चलाया जाता है, उसमें तो इतना धोखा होता है कि असल में वह धंधा नहीं, लूट जैसा बर्ताव हो जाता है। आज के व्यापार में यह जो धोखा-देही की लत बुरी तरह से फैल रही है, उसमें सच्चे व्यापारियों की प्रतिष्ठा भी खतरे में पड़ गई है और ग्राहक उनमें भी अविश्वास धारण कर लेता है। सच पूछें तो आज सभी प्रकार के व्यापार में विश्वास का भयंकर संकट उपस्थित हो गया है।

विश्वासहीनता या कि विश्वासघात की यह स्थिति वास्तव में गंभीर चारित्र्यहीनता की स्थिति है जिसे अपनाकर एक श्रावक तो कतई श्रावक माना ही नहीं जा सकता है। यह सब 'णासावहारो' का गंभीर दोष है और दूसरे अणुव्रत का घोर उल्लंघन है। एक कथा याद आ गई है। एक बार एक व्यक्ति ने एक सेठ से दस हजार की राशि उधार ली और ब्याज व अदायगी आदि शर्तों के साथ उसकी लिखा-पढ़ी कर दी। जिस अवधि में ब्याज की राशि चुकाई जानी थी, उस अवधि में जब राशि नहीं मिली तो सेठ ने उसके लिये तकादा किया। तब उस व्यक्ति ने अपना रवैया एकदम बदल लिया और निर्लज्जता के साथ यह तर्क दिया कि आपसे दस हजार रुपये लेने वाला और लिखा-पढ़ी करने वाला वह नहीं है, कोई और होगा। उसने उस 'और' की भी अजीब सफाई पेश की। उसने कहा—मनुष्य तो क्षण-क्षण में बदलता है। जिस क्षण में मैंने रुपये लिये थे और लिखा-पढ़ी की थी वह 'मैं' अब नहीं रहा है। अब तो दूसरा 'मैं' है जो आपकी राशि का भुगतान करने के लिये जिम्मेदार नहीं है। सेठ निराश होकर चला गया और न्यायाधीश के पास पहुंच कर उसने वह सारी बात बतायी। न्यायाधीश ने उस व्यक्ति को बुलवाया और उसका बयान लिया। उसने वही तर्क दोहराया। तब न्यायाधीश ने उसके सामने ही

आदेश दिया कि उस व्यक्ति की हवेली उससे खाली करवा कर सेठ को सुपर्द कर दो। वह व्यक्ति जोरों से चिल्ला पड़ा कि आप ऐसा आदेश कैसे दे रहे हैं? न्यायाधीश ने सहज स्वर में कहा—आपका उस हवेली से क्या सम्बन्ध? वह हवेली तो उस व्यक्ति ने बनायी जब जो कोई और था और आज आप कोई और हैं, जो अपने आपको उस हवेली का स्वामी नहीं कह सकते हैं क्योंकि आपके तर्क के अनुसार ही मनुष्य तो क्षण-क्षण में बदलता रहता है। अब उस व्यक्ति को काटो तो खून नहीं। उसका कुतर्क जब उसी के माथे पटका गया तो उसकी अकल गुम हो गई तथा उसके धोखे की कलई खुल गई। हकीकत में किसी भी धोखेबाज को तभी पक्का सबक मिलता है जब उसी की भाषा में उसको उत्तर दिया जाये।

इस प्रकार असत्य व्यवहार के भांति-भांति के रूप इस दुनिया में दिखाई देते हैं तथा विश्वासघाती व्यक्ति भांति-भांति के छलपूर्ण प्रयोगों से दूसरों को धोखा देते हैं और कई बार अपने असत्य व्यवहार की कलई भी नहीं खुलने देते हैं। लेकिन यह दोष ऐसा है जो छिपाये भी छिपता नहीं है और आखिर उसका भांडा फूटकर ही रहता है। सत्य का अनुसरण करने से पहले असत्य व्यवहार के प्रत्येक स्थूल रूप का त्याग अनिवार्य है।

### ट्रस्ट में धोखा करना घोर असत्याचरण

कभी-कभी धार्मिक या सामाजिक उद्देश्यों के लिये ट्रस्ट निर्माण किया जाता है। ऐसे ट्रस्ट के मामलों में धोखा करने को घोर असत्याचरण कहा जाना चाहिये। जिस उद्देश्य से जो ट्रस्ट बनाया जाता है उसके प्रतिकूल उसकी सम्पत्ति का उपयोग करना, उसकी सम्पत्ति हड़पने के षड्यंत्र रचना अथवा कि उस उद्देश्य की पूर्ति में पूरा प्रयास नहीं करना 'णासावहारो' का ही दोष होता है। ट्रस्ट के उद्देश्यों के विपरीत कार्य करने को घोर विश्वासघात ही तो माना जायेगा। ट्रस्ट छोड़िये लेकिन कोई दान राशि जिस उद्देश्य के लिये हो काम न लेना भी असत्याचरण ही होगा। जिसने जो दान जिस प्रवृत्ति के लिये दिया है, उस दान की राशि उसी प्रवृत्ति में नियोजित की जानी चाहिये। ट्रस्ट की सम्पत्ति का गलत या धोखेभरा उपयोग तो नैतिकता की निम्नतम कसौटी पर भी उचित नहीं माना जायेगा। असत्य अविश्वास से भरा हुआ होता है और कोई भी व्यक्ति नहीं चाहता कि उसका विश्वास टूटे या कि वह किसी के अविश्वास का शिकार बने। इसलिये वास्तव में असत्य को कोई चाहता नहीं है—या तो अज्ञानी उसके चक्कर में रहता है या फिर कुटिल-स्वार्थी उसका आचरण करता

है। इसके लिये सत्य का स्वरूप सबको समझाया जाना चाहिये तथा सत्य के आदर्श उनके सामने रखने चाहिये ताकि सत्य का अनुसरण करने की वृत्ति का विकास और विस्तार हो सके।

शायद आप में से कई जानते होंगे कि पहले मुम्बई में पशुधन को बचाने के लिये व गोरक्षा के उद्देश्य से एक ट्रस्ट बना था। इसमें जीवदया की दृष्टि से स्वर्गीय युगदृष्टा जवाहिराचार्य श्री की प्रेरणा रही थी। इस ट्रस्ट की एक जमीन भी थी जिसे बाद में अन्य कार्य के लिये बेचने का प्रयत्न किया गया था। वह उचित नहीं था, क्योंकि जिन दानदाताओं ने गोरक्षा के उद्देश्य से जमीन दी थी, उस उद्देश्य को भूलकर उस जमीन को बेचना चाहे उसकी कीमत की राशि ये अन्य धार्मिक कार्यों में ही लगाई जाये—दानदाताओं की इच्छा के विरुद्ध होगा और इस रूप में उसे भी असत्याचरण ही कहा जायेगा। इस जमीन को बेचने की खबर मुझे नासिक में लगी थी। दोपहर के समय में प्रीतिसुधा जी म.सा. का मिलन हुआ। उन्होंने मुझे उसकी जानकारी देते हुए कहा कि आप मुम्बई जा रहे हैं सो ट्रस्टीज को सत्याचरण का परामर्श दें। मैंने मुम्बई पहुंचकर साधु धर्म की मर्यादा के अनुसार ट्रस्टीज को उपदेश दिया। मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि मेरे समझाने के अनुसार यदि वे सत्य का अनुसरण करेंगे तो उनके जीवन का विकास भी होगा तथा ट्रस्ट के उद्देश्य का भी विकास होगा।

जिनके पास धर्म कार्य के पैसे जमा होते हैं और जो उस पैसे को रखते हैं, उनका सम्बन्ध ट्रस्ट और ट्रस्टी का होता है। ट्रस्टी उस पैसे का मालिक नहीं होता है जो उसका मन माना खर्च किया जा सके। यह मनमानी विभिन्न धार्मिक कार्यों के बारे में भी नहीं चल सकती है। जिस उद्देश्य व जिस प्रवृत्ति के लिये दानदाता दान देता है और जिसकी पूर्ति के लिये ट्रस्ट बनाया जाता है—उस ट्रस्ट का सामान्य ही नहीं, विधि सम्मत कर्तव्य भी यही होता है कि उसी प्रवृत्ति में पैसा लगाया जाकर उसी उद्देश्य की पूर्ति की जाये तथा ट्रस्टीज का वैसा आचरण ही सत्याचरण कहला सकेगा।

### सत्य का अनुसरण प्रतिफल प्रतिपग हो

जीवन में सच्चे विकास को प्राप्त करना है तो प्रतिपल तथा प्रतिपग पर सत्य का अनुसरण किया जाना चाहिये और वह भी दोहरेपन के साथ नहीं, शुद्ध निश्छल हृदय से किया जाना चाहिये। यह सतर्कता बरतनी चाहिये कि जीवन का कोई भी पल या पग कभी असत्य की ओर नहीं मुड़े। सदा भाषा का विवेक जागृत रहना चाहिये और विश्वास का दीपक प्रदीप्त होना चाहिये।

सत्यानुसरण में अनुरक्त बना पुरुष धर्मानुरागी भी बनता है तथा सम्यक् ज्ञान के पथ पर चलता हुआ वह शान्ति का आनन्दानुभव भी करता है। इसके लिये अन्तःकरण में शुभ निष्ठा, सक्रिय साहस तथा अमित धैर्य का समावेश होना चाहिये। तथा 'णासावहारो' के दोष से तो दूर ही रहना चाहिये। क्योंकि एक बार जो अपनी विश्वसनीयता खो देता है, वह अपनी अर्जित प्रतिष्ठा को भी खो देता है तथा खोयी हुई प्रतिष्ठा एवं विश्वसनीयता को फिर से प्राप्त कर लेना सहज कार्य नहीं होता है। 'णासावहारो' के भी चार भेद बताये गये हैं और श्रावक को इन सभी भेदों से अपने आपको बचाना चाहिये। यों समझिये कि जो श्रावक स्थूल मृषावाद के सभी प्रकारों से व दोषों या अतिचारों से दूर रहता है तथा सत्यानुसरण में निरत रहता है, उसे ही कवि के शब्दों में उस शुभ धन्यवाद की प्राप्ति होती है, जिसे महत्ता का लक्षण माना जाता है।

मानव के मन में विचारों का चक्र तो अहर्निश अविरल गति से चलता ही रहता है, किन्तु उसमें भी सत्य के अनुसरण की जितनी तीव्र अभिलाषा और चेष्टा बनती है, उसके अनुसार मानसिक स्थिरता भी आती है। ज्ञान पूर्वक धर्मारधना की उच्चता के साथ स्थायी शान्ति का लाभ भी मिलता है। सत्य के पथ पर चलने के लिये अपूर्व दृढ़ता होनी चाहिये जिससे किसी भी बाधा के सामने सत्यानुगामी पुरुष झुके नहीं। सत्य का अनुसरण किस रूप में होता है और किस रूप में नहीं—इसकी दैनिक रूप से आत्मालोचना भी करते रहना चाहिये।

## 25

## आस्थावान अहिंसक बनें

शान्ति जिन एक मुद्ग विनति सुनो...

मूल रूप से संसार की सभी आत्माएँ अपने वर्तमान जीवन को सुव्यवस्थित रखना चाहती हैं और अभिलाषा रखती हैं कि उनका जीवन उन्नति के उच्च सोपानों पर आरूढ़ हो। इच्छा और अभिलाषा रखना ठीक है किन्तु जब तक उस इच्छा या अभिलाषा का सदा स्मरण न रखा जाय और उस दिशा में सतत् प्रयत्नों का निरन्तर क्रम न बनाया जाय, तब तक अभिलाषा केवल अभिलाषा ही बनी रहती है बल्कि वह भी धूमिल और शिथिल हो जाती है। कई बार शिथिलता की ऐसी संज्ञा हीन परत चढ़ जाती है कि उस अभिलाषा का भी एक प्रकार से लोप जैसा हो जाता है। अधिकांश आत्माओं की मूर्च्छायुक्त ऐसी ही दुर्दशा हो जाती है, जिसको दूर करने के लिये तथा व्यवस्था के पुनर्गठन के लिये प्रबुद्ध आत्माओं को जागरण का बिगुल बजाते ही रहना चाहिये।

इस प्रकार की भाव-शिथिलता अथवा जागृति का रहस्य क्या होता है—यह अवश्य बारीकी से समझ लेना चाहिये। वर्तमान समय में मुख्य रूप से मानव एकाकी नहीं रहते। वे अधिकतर समूह में रहते हैं। ये ही छोटे-बड़े समूह गांवों, नगरों, वर्गों, समाज या राष्ट्रों के रूप में देखे जा सकते हैं। फिर ये समूह भी परस्पर असम्बद्ध या कटे फटे नहीं होते हैं। भौतिक विज्ञान की प्रगति ने इन सभी समूहों को घनिष्ठतापूर्वक जोड़ दिया है, बल्कि यों कहें कि आज का सम्पूर्ण ज्ञात विश्व एक बड़े नगर की तरह हो गया है जिसमें रहने वाले एक दूसरे से सरलता पूर्वक मिल जुल सकते हैं। नये वैज्ञानिक साधनों ने समय और दूरी को जीत लिया है तथा सम्पर्क को घनीभूत बना दिया है। इस दृष्टि से सभी आत्माओं के जीवन में परस्पर एक सूत्रता हो तथा सहयोगी व्यवस्था बने—यह वांछनीय ही नहीं, अनिवार्य हो गया है।

## क्या है सर्व जीवन की सुव्यवस्था का रहस्य ?

संसार में सर्वजीवन की सुव्यवस्था की कामना इसी कारण की जाती है, क्योंकि वर्तमान में ऐसी सुव्यवस्था का अभाव है। वस्तुस्थिति तो यह है कि आज सबके बीच सामान्य व्यवस्था भी दुर्बल बनी हुई है। इस प्रकार की स्थिति सहज नहीं मानी जा सकती है कि जीवन में श्रेष्ठ उद्देश्यों का निर्धारण न हो, सबके बीच में सहयोगपूर्ण गतिविधियाँ संचालित न की जा सके या कि अव्यवस्थापूर्ण इस जीवन को सुव्यवस्था के ढांचे में न ढाला जा सके। जिस तरह जन्म लिया, उसी तरह बड़े हो गये और पशु की तरह सांसारिक प्रवृत्तियों में डूबते उतराते ही मृत्यु को प्राप्त हो गये—क्या इसको किसी भी रूप में मानवीय जीवन की संज्ञा दी जा सकती है? आहार, निद्रा, भय और मैथुन के घेरों में ही बेभान पड़े रहे, बल्कि पशु से भी अधिक निकृष्ट दशा में गिर कर चंद्र चांदी के टुकड़ों के पीछे अपने अमूल्य मानव जीवन को नष्ट भ्रष्ट करते रहे तो क्या यह धार्मिक या आध्यात्मिक दृष्टि से भयंकर भूल नहीं कहलायेगी? यह तो जीवन्त जीवन क्या हुआ—एक बेजान मशीन बन गई कि मोह और मूर्च्छा से भरे एक ही रास्ते पर भागते रहो और अपने तन व जीवन को लहलुहान करते रहो। क्या ऐसे दिशाहीन और गतिहीन जीवन को कभी किसी भी शुभ व्यवस्था से सरलतापूर्वक जोड़ने का उपक्रम सफल भी बनाया जा सकता है? बहुत कठिन है यह काम, किन्तु असंभव नहीं है। निरन्तर जागरण की ललकारों से सुप्त-प्रसुप्त आत्माओं की मूर्च्छा भी खुलती है और वे भी जागकर सुव्यवस्था की दिशा में आगे बढ़ती हैं। अतः आवश्यकता होती है कि सर्वजन जागृति के कठिन प्रयास जारी रहने चाहिये।

तो क्या है सर्व जीवन की सुव्यवस्था का रहस्य? एक छोटे से दृष्टान्त से इसे समझना शुरू करें। मुम्बई, दिल्ली या कोलकाता जैसे महानगरों के किसी भी व्यस्त बस स्टैण्ड पर कई बार तो सैकड़ों-हजारों की भीड़ बस के इन्तजार में खड़ी रहती है। सोचिये कि बस आती है और सारी भीड़ अव्यवस्था पूर्वक उस पर टूट पड़े तो सौ-पचास यात्रियों का समावेश कर सकने वाली उस बस में उस भीड़ से किस प्रकार के लोग चढ़ सकेंगे? जो पशुबल से धक्के मारकर और पहले आये लोगों को भी दूर हटाकर बस तक पहुंचने में कामयाब होंगे, वे ही सवार हो सकेंगे। और हर बार ऐसा ही होगा तो क्या सभ्य, शिष्ट या दुर्बल व्यक्ति कभी भी बस पर सवार हो सकेगा? इस परिस्थिति में क्या वैसी व्यवस्था चल भी सकेगी? इस अव्यवस्था को न होने देने के लिये तथा न्याय पूर्वक सबको बस में सवार होने का अवसर देने के लिये ही पंक्तिबद्धता की प्रणाली

(क्यू सिस्टम) चलाई गई हैं। बस स्टैण्ड, रेलवे स्टेशन, एयर पोर्ट पर लोहे के पाइपों से घुमावदार लाइनें बनाई गई हैं ताकि ज्यों-ज्यों लोग आते जायें, एक के पीछे एक लाइन में खड़े होते जायें। वह पंक्ति चाहे सैकड़ों हजारों की हो जाये लेकिन कोई भगदड़ नहीं मचती। बस आती है तो जितने यात्रियों का उसमें समावेश होता है, उतने लोग पंक्तिबद्ध ही भीतर पहुंचते हैं। बाकी लोग इन्तजार में खड़े रहते हैं। जो पहले आता है, वही पहले जाता है—व्यवस्था का यह क्रम का जरा सा भी उल्लंघन होता है तो सुव्यवस्था बिगड़ जाती है और अधिक उल्लंघन हो तो अव्यवस्था हो जाती है।

यही रहस्य है सामूहिक जीवन में भी सुव्यवस्था का। इसे अहिंसा की सुव्यवस्था कह सकते हैं। बस की पंक्ति में खड़े हुए लोग जैसे अपने स्वार्थ के लिये आगे वाले का हित नहीं कुचल सकते हैं, वैसे ही समूह या समाज में रहते हुए लोग स्थापित व्यवस्था का ईमानदारी से पालन करें तथा जीवन निर्वाह के साधन प्राप्त करने में या कि जीवन को विविध क्षेत्रों में समुन्नत बनाने में कोई किसी को धक्का मार कर आगे बढ़ने की चेष्टा न करे। संक्षेप में यह कहें कि कोई भी मानव किसी दूसरे प्राणी के एक भी प्राण को अपनी ओर से अपने स्वार्थ के लिये या कि परमार्थ के लिये भी कष्ट नहीं पहुंचावे—यह अहिंसामय जीवन पद्धति का सामान्य नियम है जिसे 'जीओ और जीने दो' की उक्ति में स्पष्ट रूप से दर्शाया गया है।

किन्तु अहिंसा का क्रम उससे भी ऊपर उठना चाहिये, क्योंकि सभी मनुष्य एक समान प्रकृति के नहीं होते हैं। कोई अधिक सहनशील और शिष्ट होते हैं तो कोई कम! कोई हृदय से अधिक उदार होते हैं तो कोई कम या अनुदार भी। इसी प्रकार योग्यता, क्षमता या सभी प्रकार के बल में भी न्यूनाधिकता रहती है। अतः 'जीओ और जीने दो' की व्यापक सफलता के लिये प्रबुद्ध मनुष्यों को अपना अधिक बलिदान करने की तैयारी रखनी होती है। वे अपने जीवन की सुविधाओं को गौण तथा दूसरों के अभाव-अभियोगों को प्राथमिकता देते हैं। वे चाहे कष्ट सहन कर लें किन्तु दूसरे के दुःखों को दूर करने के काम में आगे रहते हैं। खुद भलीभांति जी सकें या नहीं किन्तु दूसरों के जी सकने की सुविधाओं को जुटाने में अपने साधन ही नहीं, अपना जीवन भी होम कर देते हैं। यह उनके अहिंसा धर्म की उत्कृष्टता का मानवीय प्रदर्शन होता है।

सामान्य से लेकर उत्कृष्ट स्थितियों तक अहिंसा धर्म का आस्था पूर्वक पालन ही सुव्यवस्थित जीवन का रहस्य है जो सुव्यवस्थित समाज के माध्यम से प्रत्येक जीवन को व्यक्तिगत सुव्यवस्था से सम्बद्ध बनाता है।



## अहिंसा वीरों का, प्रबुद्धों का धर्म पहले है

अहिंसा का धर्म सम्पूर्ण मानव जाति ही नहीं, सम्पूर्ण प्राणी समाज के लिये अमृत तुल्य है जिसे पी कर स्वर्गोपम सुव्यवस्था सर्वत्र स्थापित की जा सकती है। किन्तु सब इस अमृत का पान कर सके ऐसी योग्यता एवं क्षमता का निर्माण पहले करना आवश्यक होता है। यह कार्य समाज के वीर और प्रबुद्ध पुरुष ही अपने सशक्त हाथों में लेकर सफलता पूर्वक सम्पन्न कर सकते हैं। इसलिये यह कहना सर्वथा उचित होगा कि अहिंसा का धर्म सबसे पहले वीरों और प्रबुद्धों के लिये है। सोचिये कि बस में अव्यवस्थित भीड़ जब चढ़ने की चेष्टा कर रही हो और उसमें कमजोर लोग कुचले जा रहे हों, तब यदि उस भीड़ के कुछ समझदार और ताकतवर लोग आगे बढ़कर दुष्ट और स्वार्थी लोगों को पीछे धकेलते रहें तथा सही लोगों को बस में घुसाते रहें तो उस अव्यवस्था में भी सही लोगों को सम्बल मिल जायेगा। फिर उस आधार पर पंक्तिबद्धता की प्रणाली भी जम जायगी। इसी प्रकार समाज या राष्ट्र की राजनैतिक, आर्थिक-सामाजिकादि प्रणालियों में वीर आदि प्रबुद्ध पुरुष आगे बढ़कर धक्का-मुक्की रोके तथा सही लोगों को प्राथमिकता दिलाने लगे तो कोई कारण नहीं कि वहां पर सुव्यवस्था कायम न हो सके और जारी न रह सके।

वर्तमान जीवन में आज फैल रही अव्यवस्था मिटाने का सर्वप्रथम तो यही कारगर उपचार हो सकता है जिसके बाद धीरे-धीरे ही सही एक सुव्यवस्था की सब जगह स्थापना की जा सकती है और सबको समान अवसर के साथ अपने जीवन का निर्वाह चलाने योग्य मुक्त वातावरण दिया जा सकता है। मुक्त वातावरण उसे ही कहेंगे जो अधिकाधिक रूप से अहिंसामय हो जायगा। कोई किसी के हितों पर कुठाराघात नहीं करेगा तथा सभी अपनी-अपनी चाल से चलते हुए अपना जीवन सुव्यवस्थित करते जायेंगे व आवश्यकतानुसार दूसरों को अपना सहयोग भी प्रदान करेंगे। अहिंसा तभी परम धर्म का स्वरूप ग्रहण कर सकेगी।

अहिंसा में अपनी गहरी आस्था रखने वाले वीर और प्रबुद्ध पुरुषों को जीवन की सुव्यवस्था यानी कि अहिंसामय प्रणाली की सर्वत्र स्थापना करने के उद्देश्य से एक साथ दो मोर्चे संभालने होंगे। पहला, मोर्चा यह होगा कि जो लोग अपने आत्मिक अस्तित्व और सामर्थ्य से विस्मृत बनकर भौतिक उपलब्धियों के लिये पागलों व मशीनों की तरह जीवन जी रहे हैं, उन में आध्यात्मिक भाव जगाना तथा मानवीय मूल्यों को उभारना। दूसरे, साथ-साथ लगाये जाने वाले मोर्चे में सभी मानवों की ही नहीं, सभी प्राणियों की आत्मीय समानता की भावना मजबूत बनाकर सभी क्षेत्रों में अहिंसामय जीवन प्रणालियों की स्थापना

करना। वैचारिक एवं व्यावहारिक—दोनों प्रकार के प्रयत्न साथ-साथ जब चलेंगे तो सम्पूर्ण विश्व में एक ऐसी स्थायी सुव्यवस्था का निर्माण किया जा सकेगा जिसके अन्तर्गत छोटे-बड़े, ऊँचे नीचे सभी मनुष्य ही नहीं, अन्य प्राणी भी और क्रूर वन्य प्राणी भी अपने-अपने जीवन को सुव्यवस्थित स्वरूप देने की दिशा में आगे बढ़ सकेंगे। आज के घोर अव्यवस्थित जीवन में अहिंसा ही एकमात्र त्राण है क्योंकि हिंसा की ज्वालाओं में झुलस-झुलस कर अब मानव किसी भी तरह शीतलता को प्राप्त कर लेने के लिये अतीव आतुर हो चुका है। वर्तमान अव्यवस्था के प्रति जो उसकी अत्यन्त आकुलता व व्याकुलता है, वही इस आतुरता का कारण है। इसी आतुरता का विचार और व्यवहार सुधार की दृष्टि से पूर्ण सदुपयोग कर लेने के लिये वीर एवं प्रबुद्ध पुरुषों को सचेष्ट होना ही चाहिये तथा अहिंसा की वेदी पर आवश्यकता हो तो अपने सर्वस्व तक को उत्सर्ग कर देने की तत्परता का संकल्प स्वीकार करना चाहिये।

### मानव जीवन जीवन्त रूप ले, सचेतन बने

सुव्यवस्था का उद्देश्य होता है कि मानव जीवन जीवन्त रूप ले, सचेतन बने, सभी प्राणियों की सुरक्षा करे, स्व कल्याण एवं लोक कल्याण में प्रवृत्ति करे तथा स्थायी सुखदायिनी शान्ति प्राप्त करे। इस उद्देश्य को सम्मुख रखकर आज के जीवन विचार एवं व्यवहार की दयनीय दशा की समीक्षा करनी होगी तथा सोद्देश्य उन्नति का निश्चय करना होगा।

आज का मानव जीवन आत्म-विस्मृत है और अपने आपकी संज्ञा खोकर चल रहा है तो वह निश्चय ही पर-तत्त्वों अर्थात् जड़ तत्त्वों के पीछे भाग रहा है। इस भाग-दौड़ में उसकी जीवन शैली भी जड़ मशीन की तरह हो गई है जिसे नीरस, रूटीन की और स्वार्थी जिन्दगी कहते हैं। एक प्राणहीन-सा क्रम और विवेकहीन दिनचर्या बनी हुई है कि सुबह उठते ही प्रार्थना, सामायिक या आत्म जागृति की धार्मिक क्रिया करने के विपरीत चाय पानी (शौच से भी पहले बेड टी) की जाती है और सिगरेट बीड़ी आदि का धुआं उड़ाकर दिनचर्या की शुरुआत। उसके बाद शरीर की आवश्यक क्रियाओं से निपट कर न सन्तदर्शन या प्रवचन श्रवण बल्कि शरीर रक्षा के व्यायाम आदि भी नहीं। बस घंटों मल मलकर नहाते रहेंगे और अंग प्रत्यंगों को सजाते संवारते रहेंगे। कपड़ों की सिलाई और उस्तरी निहारेंगे कि कहीं सलवट तो नहीं रह गये हैं। दिन में जैसा काम-धंधा होगा सो करेंगे लेकिन फिर शाम को सिनेमा जायेंगे, टीवी देखेंगे और जड़ प्रवृत्तियों में लगे रहेंगे। इस तरह अज्ञान और मोह के अंधेरे में दिन बीतते रहते हैं—महीने और साल गुजर जाते हैं। जवानी से बुढ़ापा आ जाता है। शरीर जीर्ण

होने लगता है मगर जड़ पदार्थों के प्रति लालसाएँ और तृष्णा जीर्ण नहीं बनती है। आंखों पर पट्टी बांधे हुए घाणी के बैल की तरह पूरी जिंदगी गुजर जाती है लेकिन प्रगति का एक पग भी आगे नहीं बढ़ता। धन, सत्ता, सम्पत्ति की वितृष्णा में ही चक्कर कटते रहते हैं, मगर संसार की इस घाणी में तेल रूप सार भी नहीं निकलता। रेत को पीलते रहने जैसा यह काम होता है।

सूर्योदय से सूर्यास्त तक घाणी का बैल बराबर चलता रहता है—तनिक भी नहीं ठहरता और आंखों पर पट्टी बंधी होने से वह यही सोचता रहता है कि दिन भर लगातार चलते हुए उसने लम्बी दूरी पार कर ली है तथा वह बहुत आगे चला आया है। लेकिन उस घाणी के बैल की हकीकत तो आप जानते हो, पर क्या अपनी खुद की हकीकत भी आप जानते हो? आपके जीवन की दिशा उस घाणी के बैल जैसी ही है या कि कहीं उससे भी बदतर तो नहीं है? आप कभी कुछ क्षणों तक हिसाब तो लगाइये कि आपने अपने जीवन में कितनी उद्देश्यपूर्ण प्रगति की है तथा अपनी जीवन शैली कितनी सुव्यवस्थित बना ली है? तभी तो आप अनुमान लगा सकेंगे कि आपकी चाल में और घाणी के बैल की चाल में कितना फर्क है और वह भी बेहतर की ओर या कि बदतर की ओर? मनुष्य को इस पर चिन्तन करना चाहिये। अज्ञान की पट्टी आंखों से उतारकर सम्यक् ज्ञान के प्रकाश में वास्तविकता को देखने का यत्न करना चाहिये। मशीन की तरह जड़ग्रस्त होती जा रही यह जिन्दगी किस तरह चेतन हो पायेगी और कैसे स्वयं के पुरुषार्थ द्वारा जीवन्त बन सकेगा—इसके उपायों पर जानकारी लेते हुए आत्मालोचना की प्रवृत्ति का विकास किया जाना चाहिये।

सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति से ही आत्मस्वरूप की प्रतीति हो सकेगी। यह भावना पैदा हो सकेगी कि जैसी मेरी आत्मा है, वैसी ही प्रत्येक प्राणी की आत्मा है तथा जिस प्रकार मेरी आत्मा को सुख प्रिय एवं दुःख अप्रिय लगता है, उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा को भी सुख प्रिय एवं दुःख अप्रिय लगता है। जब अहिंसा का यह मूल मंत्र हृदय और जीवन में गहरे उतर जायेगा, तब यह विवेक जागृत ही नहीं होगा बल्कि मजबूती से जम जायेगा। किसी भी आत्मा को कष्ट नहीं दिया जाना चाहिये तथा जहां तक संभव हो, दूसरों के कष्टों का अपने सत्प्रयासों से निवारण ही किया जाना चाहिये। जब सहानुभूति की संवेदना उत्पन्न होगी तो सहयोग का हाथ भी आगे बढ़ेगा। आप दूसरों को सहयोग देने की वृत्ति रखेंगे तो दूसरों से भी उन्नतिकारी सहयोग पा सकेंगे। स्व-पर प्रगति की दिशा में ज्यों-ज्यों जीवन का विचार एवं व्यवहार सक्रिय बनता जायेगा त्यों-त्यों जीवन की तेजस्विता भी बढ़ती जायेगी।

## उन्नतिशील जीवन में अहिंसा का आदेश प्रकट होता है

वर्तमान में अपनी आत्मा का स्वरूप कैसा है और वह अपने मूल स्वरूप में रूपान्तरित कैसे हो सकता है—इस पर जब गंभीर चिन्तन किया जायेगा तो स्पष्ट होगा कि मानव तन में रही हुई आत्मा समुन्नत बनती हुई परमात्मा के सर्वश्रेष्ठ स्वरूप तक भी पहुंच सकती है। किन्तु ऐसा चिन्तन तब तक फलदायी नहीं बन सकेगा जब तक वह संसार रूपी घाणी में आंखों पर पट्टी बांधकर कषाय रूपी रेत से तेल निकालने की मृगतृष्णा में चक्कर काटता रहेगा। विषय कषाय की वृत्तियाँ घटायी नहीं जायेगी और निरन्तर होते हुए कर्मबन्ध को रोका नहीं जायेगा तब तक उन्नतिशील जीवन शैली का उदय और विकास नहीं हो सकेगा।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और कार्य में जब आप अहिंसा को प्रथम स्थान देंगे, तभी उन्नतिशील शैली का निर्माण हो सकेगा। यह सोच लें कि सामायिक प्रतिक्रमण में या कि प्रवचन-धर्मस्थानक में बैठे हैं, तब तक हिंसा को टाल लें—फिर गृहस्थी के कार्यों में वैसा विवेक रख पाना संभव नहीं है तो ऐसा सोच उन्नतिशील दिशा की ओर आपको नहीं मोड़ सकेगा। हिंसा टालनी है लेकिन न सिर्फ इतनी कि चींटी को बचा लिया और सन्तोष कर लिया। चींटी को क्या छोटे-छोटे जीवाणुओं को भी बचाइये और परोक्ष रूप से बड़े-बड़े जीवों की हिंसा में आप भागीदार होते हैं उससे भी बचिये। जानते हैं आप कि एक मीटर रेशमी कपड़े के निर्माण में हजारों कीड़ों की हिंसा होती है, मुलायम चमड़े की जरकीन या जूतों के लिये जिन्दा बछड़ों को पीट-पीट कर मारा जाता है और ऐसे कई सौन्दर्य प्रसाधन हैं जिनके लिये क्रूरतम जीव हिंसा होती है। अब देखिये कि क्या आप रेशमी कपड़ा पहनते हैं या नहीं, मुलायम चमड़े की चीजें वापरते हैं या नहीं और सौन्दर्य प्रसाधनों का उपयोग करते हैं या नहीं?

यह तो हुई छोटी बात लेकिन उससे भी बड़ी बात है यह सोचने की कि आप अपने व्यापार व्यवसाय में—नौकरी धंधे में कितनी प्रत्यक्ष हिंसा करते हैं और कितनी अप्रत्यक्ष हिंसा? प्रत्यक्ष हिंसा उसे मानें जिसमें प्राणियों के प्राणों को आप द्वारा, आपके आदेश निर्देश द्वारा सीधा कष्ट पहुंचाया जाता है। चाहे मनुष्य हो या पशु—क्या अपने काम धंधे में उनके साथ जो व्यवहार किया जाता है सोचना चाहिये कि उसमें कहीं प्रत्यक्ष हिंसा तो नहीं हो रही है। प्रत्यक्ष हिंसा यानी सीधा प्रहार तो अप्रत्यक्ष हिंसा का अर्थ लीजिये स्लो पॉइजनिंग यानी ऐसा जहर देना जो धीरे-धीरे मारे और मरने वाले को पता भी नहीं लगने दे। आप सोचें कि अपने स्वार्थों को पूरा करने के लिये आप किस हद तक दूसरों

के हितों को कुचलते हैं, अन्याय और अनीति करते हैं तथा प्राणियों का शोषण और उत्पीड़न करते हैं। यह सब अप्रत्यक्ष हिंसा होती है। हिंसा से विरत होने का अर्थ होगा कि इन दोनों प्रकार की हिंसाओं से दूर हों।

हिंसा से जब दूर होने की प्रवृत्ति एकजुट होगी तब अहिंसा की कोमल भावना जन्म लेगी। यह कोमलता ही दया और करुणा का रूप लेती है तथा मनुष्य को भावाभिभूत बना देती है कि वह सबके प्राणों और हितों की रक्षा करे तथा सबको अहिंसक बनाने का सुप्रयास भी करे। इस प्रकार की वैचारिकता एवं क्रियाशीलता के साथ ही जीवन की उन्नतिशीलता प्रारंभ होती है। यह उन्नति जितने अंशों में विषमताओं से दूर होती हुई समरसता में ढलती जाती है, उतने अंशों में वह समुन्नति कहलाती है। ऐसे समुन्नत जीवन में ही अहिंसा के उच्च आदर्श सुप्रकट होते हैं, प्रभावकारी रूप लेते हैं तथा सर्व जीवन सुव्यवस्था का समतल धरातल बनाते हैं। यह मानकर चलना चाहिये कि जीवन विकास की आधारशिला अहिंसा ही बन सकती है।

### अहिंसामय जीवन प्रणाली का विकास आवश्यक

अहिंसा के ऊँचे आदर्श तो बिरले ही स्थापित कर सकते हैं, किन्तु हिंसा से बुरी तरह त्रस्त आज के आकुल-व्याकुल विश्व में वह समय आ गया है जब अहिंसामय जीवन प्रणाली का विकास करने की दिशा में सारी शक्ति लगा दी जाये। कारण, अहिंसा को व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय और यहां तक कि अन्तरराष्ट्रीय जीवन में अपनाये बिना बाहर की शान्ति भी संभव नहीं रही है। बाहर की विषैली अशान्ति के जटिल वातावरण में अधिकांश लोग भीतरी शान्ति के लिये अथक प्रयास कर सकें—इसकी संभावना भी अत्यल्प ही मानी जा सकती है।

इस कारण अहिंसामय जीवन प्रणाली को व्यक्तिगत एवं समूहगत दोनों छोरों से एक साथ अपनाने के प्रयास चलाने होंगे। इन प्रयासों की सफलता पर ही शान्ति प्राप्ति की आशा रखी जा सकती है। दोनों छोर (किनारों) को एक साथ मिला कर शान्ति प्रयास प्रारंभ करने का एक साथ श्रीगणेश आत्म जागृति से किया जा सकता है। जब मनुष्य की मनुष्यता जागृत होगी तभी वह बाहर के वातावरण में शान्ति स्थापित कर सकेगा तो उसके साथ आन्तरिक शान्ति को उद्घाटित करने का सफल प्रयत्न भी कर सकेगा।

मनुष्य अपनी आत्मा को जागृत बनावे तथा मनुष्यता को सक्रिय बनाकर मानवीय मूल्यों का मान बढ़ावे—इस हेतु उसे परमात्मा के चरणों में ही जाना

होगा तथा परमात्मा स्वरूप को वरण करने का मार्ग ही पकड़ना पड़ेगा। वीतराग देवों ने ऐसा मार्ग बताया है और वही मार्ग वर्तमान में पतित आत्मा को पावन बनाने की प्रक्रिया में आत्मा से महात्मा और महात्मा से परमात्मा बनने की मंजिल तक आगे ले जा सकेगा। वही परिपूर्ण शान्ति की मंजिल होती है।

तो यह समझ लीजिये कि यदि आप शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं तो पहले आस्थावान अहिंसक बनिये तथा संसार के सभी प्राणियों को यथाशक्य उनके दुःखों का निवारण करके शान्ति पहुंचाइये। भयाक्रान्त प्राणियों को अपनी समर्थ शरण में लेकर उन्हें अभयदान दिया जा सकता है या कि लोगों में विश्वास की भावना भर कर उन्हें निर्भय बनाया जा सकता है। ऐसा करने से उन्हें शान्ति का अनुभव होगा। यह अनुभव उन्हें भी अहिंसामय जीवन प्रणाली अपनाने के लिये अनुप्राणित बनायेगा।

किन्तु अहिंसा की दिशा में सशक्त कदम बढ़ाने के लिये दृढ़ संकल्प की आवश्यकता होती है। संकल्प बद्ध होकर सांसारिक कार्यों में भी प्राणियों को या कि उनके किसी भी प्राण को कष्ट नहीं पहुंचाया जाये, आरंभ समारंभ को क्रमशः रोका जाये तथा इस प्रकार के त्याग-प्रत्याख्यान लेते रहने का क्रम बनाया जाये कि हिंसा के क्षेत्र से हटें ही नहीं, बल्कि अहिंसा के क्षेत्र में अग्रगामी बनते जायें। कल्पना करें कि इस कार्य में मन, वचन और काया तीनों एक साथ संयुक्त न बन सकें तो इन तीनों में से प्रारंभ में जितनों का अशुभ योग व्यापार रोका जा सके, उतने प्रयत्न से ही आगे बढ़ने की चेष्टा करनी चाहिये। मन का स्थायी सहयोग न मिले तब भी जब-जब सहयोग रुख बने तब-तब सम्पूर्ण योग व्यापार को रूपान्तरित करें वरना जहां तक जितना बन सके वचनों पर नियंत्रण रखें तथा शारीरिक क्रियाशीलता को अशुभता की ओर नहीं मुड़ने दें। जितना हो सके—इन तीनों साधनों को संयुक्त बनाकर हिंसा से निरत होते रहें और अहिंसात्मक प्रवृत्तियों में जुटते रहें। मन जितना सधता रहेगा, वाणी भी सधती रहेगी और शरीर भी दोनों का अनुसरण करने लगेगा।

हिंसा इस संसार में जितनी घटेगी या कि घटायी जायेगी, उतना ही प्राणियों के हृदय से भय समाप्त होता जायेगा तथा निर्भयता पनपती जायेगी। जो निर्भय होता है, वह आत्मीय समानता को समझता है तथा अहिंसा के मूल्यों में अपना विश्वास जमाता है। तभी तो वह सफलता पूर्वक सत्य का अनुसरण भी कर सकता है। मनुष्य का ऐसा मनुष्यतापूर्ण निर्माण ही श्रेष्ठ रीति से एवं अहिंसामय विधि से समाज, राष्ट्र तथा विश्व की सुव्यवस्था का सृजन करता है। सभी प्राणियों में अपने-अपने स्तर पर निर्भयता का विकास आवश्यक है क्योंकि

उससे ही वह सजग बनकर अहिंसा की दिशा में आगे कदम बढ़ा सकता है। इस कारण अहिंसामय जीवन शैली का यदि विकास किया जाता है तो अवश्य ही शान्तिपूर्ण सुव्यवस्था की दिशा में आगे बढ़ा जा सकता है।

### अहिंसा से निर्भयता : निर्भयता से सुव्यवस्था

यह स्पष्ट सिद्धान्त है कि अहिंसा के सामाजिक आचरण से निर्भयता का संचार होता है और जब विस्तृत वातावरण में सब लोगों के बीच में निर्भयतापूर्ण व्यवहार होता है तो वहां पर सुव्यवस्था का सूत्रपात अवश्यमेव होता है। भौतिकी के वैज्ञानिकों ने भी अपने प्रयोगों से सिद्ध किया है कि जब किसी भी जीव को भय बना रहता है तो उसका स्वस्थ विकास नहीं होता है लेकिन यदि उनके आस-पास निर्भय वातावरण हो तो वे तेजी से वृद्धि करते हैं। उन्होंने अपना प्रयोग वनस्पति के जीवों पर किया। उन्होंने एक उपयुक्त जलवायु वाले कमरे में कुछ वनस्पति के पौधे रखे और तीन व्यक्तियों को बुलाकर उन्हें अलग-अलग निर्देश दे दिये। एक को कहा गया कि वह अपने मन में संकल्प पूर्वक विचार करता रहे कि मैं किसी भी अवस्था में किसी भी पौधे को तोड़ूंगा नहीं या कि किसी भी तरह की हानि भी नहीं पहुंचाऊंगा और कमरे में ही बने रहने को कहा गया। जब तक वह कमरे में रहा, उन पौधों पर जैसे एक प्रकार की प्रफुल्लता छायी रही, नई कलियाँ, नई कोंपलें फूटी और पत्तों पर हरीतिमा फैली हुई रही। फिर दूसरे व्यक्ति को यह कहकर कमरे में भेजा कि वह क्रूरता पूर्वक पौधों की तरफ देखे और विचार करता रहे कि मैं इन पौधों को जड़ से ही उखाड़ फेंकूंगा। यद्यपि उसने उन पौधों को छुआ तक नहीं किन्तु उस क्रूर भावना से भी वे पौधे प्रभावित हो गये—उनमें हलका कम्पन देखा गया तथा पत्ते इस तरह लटक गये जैसे मुरझाने वाले हों। फिर तीसरे व्यक्ति को कहा गया कि वह मन में वनस्पति को तोड़ने की क्रूर भावना भी रखे तथा तोड़े भी सही। जैसे ही वह व्यक्ति चाकू लेकर कमरे में घुसा, पौधों में अन्दर ही अन्दर हड़कम्प जैसा मच गया। सूक्ष्म कैमरे से उन पौधों के फोटो लिये गये तो उनसे साफ दिखाई दिया कि पौधे जैसे भय और खेद से पूरी तरह मलिन हो गये हों। इनसे निष्कर्ष यह निकाला गया कि जब वनस्पति के सूक्ष्म जीवों का भी भय के मारे ऐसा हाल होता है और निर्भयता में प्रफुल्लता बढ़ती है तो पशु, पक्षी तथा मनुष्यों के हृदय पर पड़ने वाली भयाक्रान्तता तथा निर्भयता के प्रभाव को भली-भांति समझा जा सकता है।

सोचने की बात है कि मानसिक हिंसा वृत्ति का भी अव्यक्त प्रभाव कितना घातक होता है? फिर जो वचन और काया के माध्यम से हिंसक वृत्ति फैलाते

हैं, उनका भय तो बड़ी ही भीषणता से असर करता है तथा भयभीत प्राणी को शून्य जैसा बना देता है। मन की अव्यक्त हिंसा का त्याग तो दूर की बात आज के युग में दिखाई देती है क्योंकि सामान्य रूप से प्रवृत्तिजन्य हिंसा बहुलता से फैली हुई है। आवश्यक है कि प्रवृत्तिजन्य हिंसा घटे और मन की वृत्तियों में कोमलता का संचार हो ताकि वृत्ति संशोधन के साथ प्रवृत्ति-परिमार्जन भी हो सके। वृत्ति और प्रवृत्ति दोनों में जब अहिंसा की कोमलता एवं सरलता का समावेश होगा तभी उसका निर्भयता के रूप में शुभ प्रभाव सामने वाले प्राणियों पर पड़ सकेगा। यही प्रभाव ज्यों-ज्यों घनीभूत होता जायेगा, त्यों-त्यों पूरे सामाजिक वातावरण में निर्भयता का प्रसार होता जायेगा और साथ ही साथ सुव्यवस्था की इसमें स्थापना हो सकेगी कि सभी को अपने जीवन विकास का समान अवसर मिल सके।

### अहिंसा और आस्था का सुन्दर संयोग बनावें

अपने जीवन में विकास की परिपूर्णता प्राप्त करने के लिये अहिंसा और आस्था का सुन्दर संयोग बनावें, क्योंकि जीवन के विचार तथा व्यवहार में अहिंसा का स्थायी निवास तभी हो सकेगा जब उसके साथ गहरी आस्था जुड़ी हुई होगी।

अहिंसा के इस रूप को भी समझ लें। कई लोग व्यर्थ में अकारण हिंसा करते रहते हैं। जैसे बच्चे कुत्ते की पूंछ पर पटाखे बांध कर छोड़ देते हैं, फिर वे कुत्ते की दुर्दशा देखकर हंसते हैं। ऐसी हिंसा को अनर्थादंड कहते हैं। नहाने के लिये एक बालटी पानी पर्याप्त हो सकता है किन्तु अविवेक से दस बालटी पानी ढोल दिया तो यह भी अनर्थादंड की हिंसा हुई। ऐसे कई काम दिन में मनुष्य करता है हास्यवश, कौतुक वश या अविवेक वश, जिस से हिंसा होती है और उसका कोई प्रयोजन नहीं होता। ऐसी हिंसा का तो तत्काल ही त्याग कर लेना चाहिये।

अहिंसा का अपने जीवन में अधिकाधिक रूप से पालन करने की अभिलाषा रखने वाले पुरुषों को उसका अभिप्राय भी समझ लेना चाहिये। अहिंसा के आचरण से स्वयं का जीवन निर्भय और कोमल बनेगा तो दूसरों को अभय बनाकर उन्हें करुणा की अनुभूति दी जा सकेगी। समस्त प्राणियों की सुरक्षा एवं सहृदयता का साधन अहिंसा रूप परम धर्म होता है।